त्रैमासिक
जनवरी–मार्च 2008 (विशेष अंक)
तीस रुपये

दायित्वबोध

उन बुद्धिजीवियों की पत्रिका जिन्होंने जनता का पक्ष चुना है

विशेष लेख

नक्सलबाड़ी और उत्तरवर्ती चार दशक : एक सिंहावलोकन

अमेरिकी सबप्राइम संकट : गहराते साम्राज्यवादी संकट
की नयी अभिव्यक्ति • शेयर बाज़ार ध्वंस : 'जुआघर' अर्थव्यवस्था के निराले तोहफ़े
• पूँजीवाद को रामकथा की संजीवनी • दलित मुक्ति के सपनों की 'माया'
मोदी की वापसी के अर्थ और 'अनर्थ' • पूँजीवाद और मजदूरों का प्रवास
दर्शन के प्रश्नों पर वार्ता : माओ त्से-तुङ
सर्वहारा अधिनायकत्व के बारे में उद्धरण : लेनिन
भारतीय कृषि में पूँजीवादी विकास (दूसरी किस्त)

क्रान्तिकारी नवजागरण के तीन वर्ष

(23 मार्च 2005–28 सितम्बर 2008)

भगतसिंह, और उनके साथियों की शहादत की 75वीं वर्षगाँठ और जन्मशताब्दी के तीन ऐतिहासिक वर्षों के दौरान साम्राज्यवाद और पूँजीवाद के विरुद्ध नये जनमुक्ति संघर्ष की तैयारी के आह्वान के साथ क्रान्तिकारी छात्रों-युवाओं का देशव्यापी अभियान

स्मृति संकल्प यात्रा

एक बार फिर
महान शहीदों की स्मृतियों और विरासत से
सँजोना है संकल्प और विवेक का ईंधन
और प्रज्जवलित करनी है
नये संघर्षों की आग,
भविष्य-स्वप्नों से ढालनी हैं इस्पाती मुक्ति-परियोजनाएँ।
उठो, देश के युवा शिल्पियो,
चलो जनजीवन की कार्यशाला में
गढ़ने के लिए
स्वस्थ-सकर्मक जीवन-ऊष्मा से स्पन्दित यथार्थ।
पूँजी की रक्त-पिपासु सत्ता के विरुद्ध
निर्णायक न्याय-युद्ध के सेनानियो,
चलो प्रतीक्षारत जनता के बीच
प्रबल चक्रवाती झंझा को आमंत्रण देते हुए।

साथियो,

एक ज़िन्दा क़ौम की युवा पीढ़ी गुज़रे हुए अतीत को वापस लाने का ख़्वाब नहीं देखती, बल्कि वह अतीत से सबक लेती है, अपने पूर्वज क्रान्तिकारियों और शहीदों की स्मृति से प्रेरणा और विचारों से दिशा लेती है तथा कठिनतम चुनौतियों से जूझती हुई भविष्य-निर्माण के महासमर में सन्नद्ध हो जाती है।

बर्तानवी गुलामी से आज़ादी के साठ वर्षों बाद देश आज कहाँ पहुँचा है?— आँसुओं के सागर में समृद्धि के कुछ द्वीप, ग़रीबी, अभाव और यंत्रणा के रेगिस्तान में विलासिता की कुछ मीनारें, ऊँची विकास-दर के शोर के बीच अकूत सम्पदा की ढेरी पर बैठे मुट्ठी भर परजीवी और दूसरी ओर शिक्षा और स्वास्थ्य-सुविधा तो दूर, बारह-चौदह घण्टों तक हड्डियाँ गलाने के बावजूद दो जून की रोटी भी मुश्किल से जुटा पाने वाली चालीस करोड़ की आबादी, बीस करोड़ बेरोज़गार युवा, भुखमरी के शिकार करोड़ों बच्चे, शरीर बेचने को बेबस लाखों स्त्रियाँ। देशी पूँजीपतियों की बेलगाम लूट और विदेशी लूट-खसोट के लिए खुले दरवाज़े की नीति, संसद और विधानसभाओं में ऊँघते और धींगामुश्ती करते पूँजी के टुकड़खोर चाकर गुण्डे और अपराधी, मज़दूरों के हितों का सौदा करने वाले नकली वामपंथी, जनाक्रोश पर पानी के छींटे मारने वाले एन.जी.ओ., बिके हुए सुविधाभोगी बुद्धिजीवी, जनान्दोलनों पर लाठी-गोली की बौछार, साम्प्रदायिक दंगों और धार्मिक कट्टरपंथ की फासिस्ट राजनीति, जाति के आधार पर आम मेहनतकश जनता को बाँटने की साज़िशें — यही है इक्कीसवीं सदी के "चमकते चेहरे वाले" भारत की तस्वीर। ज़ाहिर है कि इस सड़े-गले ढाँचे को मिट्टी में मिलाकर ही जन-मुक्ति का स्वप्न साकार किया जा सकता है और एक नये भारत का निर्माण किया जा सकता है।

भगतसिंह और उनके विचारवान युवा साथियों ने दस फ़ीसदी थैलीशाहों के लिए नहीं, बल्कि नब्बे फ़ीसदी आम जनता के लिए आज़ादी और जनतंत्र का सपना देखा था। बर्तानवी गुलामी और सामन्तवाद से लड़ाई उनकी दृष्टि में साम्राज्यवाद और देशी पूँजीवाद के विरुद्ध लम्बी लड़ाई की एक कड़ी थी। उनका सपना सच्चे अर्थों में समाजवाद का सपना था — यानी एक ऐसा समाज जिसमें उत्पादन, राजकाज और समाज के ढाँचे पर आम मेहनतकश जनता का काबिज़ हो।

वर्ष 2005-2006 भगतसिंह, राजगुरु, सुखदेव, चन्द्रशेखर आज़ाद और यतीन्द्रनाथ दास की शहादत का पचहत्तरवाँ वर्ष था। यही वर्ष चन्द्रशेखर आज़ाद का जन्मशताब्दी वर्ष भी था। सितम्बर 2008 को भगतसिंह के जन्मशताब्दी वर्ष का भी समापन होगा। चटगाँव विद्रोह के 75 वर्ष, नौसेना विद्रोह के 60 वर्ष और 1857 के प्रथम स्वाधीनता संग्राम के 150 वर्ष भी इसी दौरान पूरे होंगे। यह अवसर इस देश के नौजवानों के लिए अपनी ऐतिहासिक ज़िम्मेदारी की याददिहानी का अवसर है। यह 'नयी प्रेरणा-नये संकल्प-नयी शुरुआत' का अवसर है। इसीलिए, 23 मार्च 2005 से लेकर 28 सितम्बर 2008 के बीच के इन तीन वर्षों को, एक नयी क्रान्ति का सन्देश जन-जन तक पहुँचाने वाली स्मृति-संकल्प यात्राओं के माध्यम से क्रान्तिकारी नवजागरण के तीन ऐतिहासिक वर्ष बना देने के लिए हम कृतसंकल्प हैं।

अपनी यात्रा टोलियों के अभियानों, जनसभाओं, सांस्कृतिक कार्यक्रमों आदि के माध्यम से हम छात्रों-युवाओं का आह्वान करते हैं कि वे क्रान्ति का सन्देश लेकर गाँवों-शहरों के मेहनतकशों तक जायें तथा उन्हें तमाम पूँजीवादी चुनावी पार्टियों, नकली वामपंथियों, ट्रेडयूनियनबाज़ों, एनजीओपंथियों, साम्प्रदायिक फासिस्टों और जातिवादी राजनीति के सरगनाओं से आगाह करें। हम उनका आह्वान करते हैं कि वे अपने क्रान्तिकारी संगठन बनायें और मेहनतकश जनता को संगठित करने के लिए आगे आयें। हम बुद्धिजीवियों का आह्वान करते हैं कि वे ज्ञान बेचकर सुख-सुविधा खरीदने की स्वार्थी प्रवृत्ति छोड़कर जनता के आदमी बनें और क्रान्तिकारी परिवर्तन के विचार एवं संस्कृति को जन-जन तक पहुँचाने वाले हरकारे बन जायें।

एक नयी क्रान्ति के लिए नयी क्रान्तिकारी नेतृत्वकारी शक्ति का ढाँचा गढ़ना होगा और इस काम में हमें तत्काल, प्राणप्रण से जुट जाना होगा। इसलिए, आओ, एकजुट होकर आगे कदम बढ़ायें।

दिशा छात्र संगठन नौजवान भारत सभा

हमसफ़र बनने के लिए सम्पर्क करें :

दिल्ली : बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर, दिल्ली-110094, फ़ोन : 65976788, 9211662298, 9813015767 ● रूम नं. 100, हिन्दू कॉलेज हॉस्टल, नॉर्थ कैम्पस, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-7, फ़ोन : 9999379381, 9999951235, 9911055517, 9250700054 ● सी-74, एस.एफ.एस. फ्लैट, सेक्टर-19, रोहिणी, दिल्ली-89, फ़ोन : 9910462009, 9999329362, 9213639072 ● बिगुल मज़दूर दस्ता, जे.जे. कॉलोनी, सेक्टर-9, **नोएडा**, फ़ोन : 9891993332 ● शहीद भगतसिंह लाइब्रेरी, आर-1 कॉमर्शियल, एडवोकेट कॉलोनी, प्रताप विहार, **ग़ाज़ियाबाद**, फ़ोन : 9891993332 ● **लखनऊ** : जनचेतना, डी-68, निरालानगर, लखनऊ, फोन : 0522-2786782 ● **गोरखपुर** : संस्कृति कुटीर, कल्याणपुर, गोरखपुर, फोन : 0551-2241922, 9415462164 ● **इलाहाबाद** : 16/6, वाघम्बरी हाउसिंग स्कीम, अल्लापुर, इलाहाबाद, फ़ोन: 9415646383 ● **लुधियाना** : राजविन्दर — फोन : 09888645663 **मऊ** : डा. दूधनाथ, जनगण होम्यो सेवासदन, मर्यादपुर

ईमेल : smriti.sankalp@gmail.com, abhinav_disha@rediffmail.com, disha.du@gmail.com, tapish.m@gmail.com, bigul@rediffmail.com

दायित्वबोध

वर्ष–12 अंक–1
जनवरी–मार्च 2008

सम्पादक मण्डल :
विश्वनाथ मिश्र, अरविन्द सिंह, कात्यायनी, सत्यम, मीनाक्षी

आवरण एवं सज्जा : **रामबाबू**
आवरण का चित्र :
'दि स्टोनब्रेकर्स', गुस्ताव कूर्बे

सम्पादकीय कार्यालय :
55, यू.एन.आई. अपार्टमेंट, जीएच-2
सेक्टर-11, वसुंधरा, गाजियाबाद-201010
फोन : 93129-67616
ईमेल : **dayitvabodh@rediffmail.com**

एक प्रति : 20 रुपये
वार्षिक : 80 रुपये
(डाक व्यय 15 रुपए अतिरिक्त)
आजीवन : 1000 रुपये

सम्पादन एवं संचालन
पूर्णतः अवैतनिक एवं अव्यावसायिक

कम्पोजिंग : **कम्प्यूटर प्रभाग,**
राहुल फाउण्डेशन, लखनऊ-226 010

स्वत्वाधिकारी विश्वनाथ मिश्र द्वारा एम. आई.जी. 134, राप्तीनगर फेज-एक, गोरखपुर से प्रकाशित एवं उन्हीं के द्वारा रुचिका प्रिण्टर्स, वेस्ट गोरख पार्क, दिल्ली-32 से मुद्रित

इस अंक में

अपनी बात
गुज़रे साल पर एक नज़र और आने वाले संघर्षों की आहटें 5

विशेष लेख
नक्सलबाड़ी और उत्तरवर्ती चार दशक : एक सिंहावलोकन दीपायन बोस 9
अमेरिकी सबप्राइम संकट : गहराते साम्राज्यवादी संकट की नयी अभिव्यक्ति अभिनव 45

सामयिक
'जुआघर' अर्थव्यवस्था के निराले तोहफे 62
पूँजीवाद और मज़दूरों का प्रवास सुखविन्दर 99
निकोलस सारकोजी की जीत के मायने 102

विशेष
सर्वहारा अधिनायकत्व के बारे में चुने हुए उद्धरण लेनिन 70
दर्शन के प्रश्नों पर वार्ता माओ त्से-तुङ 73

शोध–अध्ययन
भारतीय कृषि में पूँजीवादी विकास (दूसरी किस्त) सुखविन्दर 83

टिप्पणियाँ
पूँजीवाद को रामकथा की संजीवनी 105
दलित मुक्ति के सपनों की माया 107
मोदी की वापसी के अर्थ और अनर्थ 110

उपन्यास–अंश
'तीन टके का उपन्यास' बेर्टोल्ट ब्रेष्ट 44

जन्म–शताब्दी वर्ष (28 सितम्बर 2007–2008) के अवसर पर

क्रान्ति से हमारा क्या आशय है, यह स्पष्ट है। इस शताब्दी में इसका सिर्फ एक ही अर्थ हो सकता हैजनता के लिए जनता का राजनीतिक शक्ति हासिल करना। वास्तव में यही है 'क्रान्ति', बाकी सभी विद्रोह तो सिर्फ मालिकों के परिवर्तन द्वारा पूंजीवादी सड़ांध को ही आगे बढ़ाते हैं।... भारत में हम भारतीय श्रमिक के शासन से कम कुछ नहीं चाहते। भारतीय श्रमिकों कोभारत में साम्राज्यवादियों और उनके मददगार हटाकर जो कि उसी आर्थिक व्यवस्था के पैरोकार हैं, जिसकी जड़ें शोषण पर आधारित हैंआगे आना है। हम गोरी बुराई की जगह काली बुराई को लाकर कष्ट नहीं उठाना चाहते। बुराइयां, एक स्वार्थी समूह की तरह, एक-दूसरे का स्थान लेने के लिए तैयार हैं।

साम्राज्यवादियों को गद्दी से उतारने के लिए भारत का एकमात्र हथियार श्रमिक क्रान्ति है। कोई और चीज इस उद्देश्य को पूरा नहीं कर सकती।

भगतसिंह ('क्रान्तिकारी कार्यक्रम का मसविदा' से)

'दायित्वबोध' यहां से प्राप्त करें

उत्तर प्रदेश ● संस्कृति कुटीर, कल्याणपुर, **गोरखपुर** ● जनचेतना, जाफरा बाजार, **गोरखपुर** ● अक्षरा स्टेशनर्स, स्टशेन रोड, **गोरखपुर** ● जनचेतना स्टाल, निकट काफी हाउस, हजरतगंज, **लखनऊ** (शाम पांच से साढ़े आठ) ● जनचेतना, डी-68, निराला नगर, आई.टी. चौराहा, **लखनऊ** ● विश्वनाथ मिश्र, भूमि एवं जल संरक्षण विभाग, नेशनल पी.जी.कालेज, **बड़हलगंज**, **गोरखपुर** ● शहीद पुस्तकालय, द्वारा, डा. दूधनाथ, जनगण होम्यो सेवा सदन, **मर्यादपुर, मऊ** ● जनचेतना, 16/6, वाद्यम्बरी हाउसिंग स्कीम, अल्लापुर, **इलाहाबाद** ● प्रोग्रेसिव बुक सेंटर, विश्वनाथ मंदिर गेट,बीएचयू, **वाराणसी** ● करेंट बुक डिपो, 18/53, माल रोड, (फूलबाग के सामने), **कानपुर**

उत्तरांचल ● बुक वर्ल्ड, एस्ले हाल, गांधी पार्क के सामने, **देहरादून**

दिल्ली ● सत्यम, सी-74, दिव्यज्योति अपार्टमेण्ट, एस.एफ.एस. फ्लैट्स, सेक्टर-19, रोहिणी, **दिल्ली** ● बुक कार्नर, श्रीराम सेंटर, मण्डी हाउस ● गीता बुक सेण्टर, शापिंग काम्प्लेक्स, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय ● यू-स्पेशल बुक शॉप, आर्ट्स फैकल्टी, दिल्ली विश्वविद्यालय ● पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, मरीना आर्केड, कनाट प्लेस ● जनचेतना ठेला, चौड़ा मोड़ (शाम 5 से 8.30), **नोएडा**

बिहार ● समकालीन प्रकाशन, पुस्तक बिक्री केन्द्र, आजाद मार्केट, पीरमुहानी, **पटना** ● विद्यानन्द सिंह, वार्ड न. 4, **सुपौल**

पंजाब ● सुखविन्दर,154, ओम बेकरी के सामने, शहीद करनैल सिंह नगर, फेज-3, पखोवाल रोड, **लुधियाना**

हरियाणा ● डा. सुखदेव हुन्दल, ग्रा. पो. सन्तनगर, जिला : **सिरसा**

राजस्थान ● चन्द्रशेखर, लोकायत प्रकाशन, 883, लोधों की गली, एम.डी. रोड, **जयपुर** ● बुक्स एंड न्यूज मार्ट, एम.आई.रोड, **जयपुर**

महाराष्ट्र ● पीपुल्स बुक हाउस, मेहर हाउस, 15, कावसजी पटेल स्ट्रीट, फोर्ट, **मुम्बई** ● वसुन्धरा, 602, हीरानंदानी गार्डन, गेट वे प्लाजा, **पवई** ● वि.रा. साथीदार, **नागपुर**

प. बंगाल ● पुस्तक केन्द्र, भारतीय भाषा परिषद, शेक्सपियर सरणी, **कोलकाता** ● राकेश गोरखा, पाथिभरा पुस्तक पसल, प्रधाननगर, सिलीगुड़ी, **दार्जीलिंग** ● जनार्दन थापा, लुकसान बाजार, पो. आ. केरन, जि.-**जलपाईगुड़ी**

मध्यप्रदेश ● जयप्रकाश जायसवाल, 'पितृछाया,' अमृत सागर कालोनी, एम.आई.जी. 96-97, **रतलाम**

छत्तीसगढ़ ● चिंचोलकर बुक हाउस, बस स्टैण्ड, **जगदलपुर**, **बस्तर**

गुज़रे साल पर एक नज़र और आने वाले संघर्षों की आहटें

बीता साल भी देश और दुनिया के पैमाने पर भूमण्डलीकरण के रथ पर सवार वित्तीय पूँजी के खूनी अभियान के कुछ कदम और आगे बढ़ने का गवाह रहा। इन बारह महीनों में भी विश्व स्तर पर जनप्रतिरोध के मोर्चे से कोई ऐसे ऐसे संकेत नहीं मिले कि निकट भविष्य में अँधेरे की दुनिया और उजाले की दुनिया के बीच के शक्ति-सन्तुलन में गुणात्मक बदलाव की उम्मीदें पाली जायें। विश्व इज़ारेदार पूँजी की हमलावर सेना से जनता की बिखरी हुई टुकड़ियों ने जगह-जगह छिटपुट मुठभेड़ें ज़रूर की हैं, इन मुठभेड़ों की संख्या भी बढ़ी है, लेकिन यह कहना अनैतिहासिक और अवैज्ञानिक होगा कि ऐसी ही मुठभेड़ें आगे चलकर अपने आप ऐसे जन महासंग्राम का रूप ले लेंगी जो दुश्मन सेना की बढ़त को जल्दी ही रोक देंगी। बड़े से बड़ा स्वयंस्फूर्त संघर्ष भी क्रान्ति पर प्रतिक्रान्ति की मौजूदा हावी लहर की स्थिति नहीं बदल सकता। इस स्थिति को केवल संगठित नेतृत्व वाली सचेतन क्रान्तियाँ ही बदल सकती हैं। यह इतिहास का अनुभव भी है और विज्ञान का तकाज़ा भी कि केवल मार्क्सवादी विज्ञान के मार्गदर्शन में काम करने वाली सर्वहारा वर्ग की क्रान्तिकारी पार्टी के नेतृत्व में संगठित जनसंघर्ष ही विश्व पैमाने के अन्तरविरोध के प्रधान पहलू को फैसलाकुन ढंग से बदल सकते हैं। इस नज़रिये से देखा जाये तो ऐसे कोई संकेत अभी नहीं मिले हैं कि देश और दुनिया के स्तर पर सर्वहारा क्रान्ति की आत्मगत शक्तियों के बीच विगत लगभग तीन दशकों से चला आ रहा गतिरोध दूर होने की दिशा में कुछ उम्मीदें पाली जायें।

लेकिन जनता क्रान्तिकारी शक्तियों के संगठित होने की प्रतीक्षा में हाथ पर हाथ धरे बैठी नहीं रहती। वह स्वतःस्फूर्त ढंग से अन्याय-अत्याचार के खिलाफ शोषकों-शासकों से समय-समय पर भिड़ती रहती है, चाहे इसका अंजाम पराजय में ही क्यों न हो। अगर देश के पैमाने पर चर्चा करें तो पिछले साल पश्चिम बंगाल में बुद्धदेव भट्टाचार्य की सरकार और माकपाई काडर की फासिस्ट गुण्डागर्दी के विरुद्ध नन्दीग्राम के ग़रीब किसानों ने जिस तरह मोर्चा लिया वह मेहनतकश अवाम की क्रान्तिधर्मी चेतना का एक शानदार उदाहरण था। जिस तरह बुद्धदेव सरकार और पार्टी काडरों ने इण्डोनेशिया के हत्यारे उद्योग समूह 'सलेम' को 'सेज़' के लिए ज़मीनें उपलब्ध कराने की खातिर भाड़े के हत्यारों का काम किया वह भी संशोधनवादी कम्युनिस्टों के जघन्य सामाजिक फासीवादी चरित्र की एक मिसाल है। भले ही नन्दीग्राम के ग़रीब किसान आज पराजित हो गये हैं, लेकिन पराजित संघर्ष बेशकीमती सबक दे जाता है। किसी क्रान्तिकारी पार्टी की गैर मौजूदगी में उन्हें स्वयं ही मोर्चा सम्भालना पड़ा। तृणमूल कांग्रस जैसी बुर्जुआ पार्टियों ने तो केवल इस संघर्ष की आँच में अपनी राजनीतिक रोटियाँ ही सेंकने का काम ही किया। इस संघर्ष के अनुभवों नें उन्हें निश्चित ही अपनी क्रान्तिकारी पार्टी की ज़रूरत का अहसास कराया होगा। औद्योगिक क्षेत्रों में भी पूरी तरह खामोशी नहीं रही है। नोएडा-दिल्ली-लुधियाना से लेकर भारत के औद्योगिक मानचित्र के सभी नये-पुराने स्थलों पर छिटपुट संघर्षों की खबरें आती रहीं। हर जगह मुद्दे लगभग एक ही रहेपूँजीपति मालिकों द्वारा खून चूसने के बाद भी समय पर मजदूरी न देना या कम देना, सामाजिक सुरक्षा की गारण्टियों में कटौती करते चले जाना और ठेका प्रथा लागू करना आदि। इन झड़पों के दौरान सभी औद्योगिक क्षेत्रों में पूँजीपति-पुलिस गॅठजोड़ से मज़दूरों का सामना हुआ। मज़दूरों का 'सीटू', 'एटक' जैसी समझौतापरस्त-दलाल यूनियानों से और अधिक मोहभंग हुआ। उनकी घुटन और बढ़ी, बेचैनी और निरुपायता का अहसास और गहरा हुआ। इन अनुभवों ने औद्योगिक मज़दूरों को भी अपनी क्रान्तिकारी राजनीतिक पार्टी की जरूरत का अहसास और अधिक शिद्दत से कराया।

मेहनतकश जनता की इन छिटपुट मोर्चाबन्दियों से देश का शासक वर्ग कहीं-कहीं ठिठका ज़रूर लेकिन वह अपनी नवउदारवादी मुहिम को आगे बढ़ाता रहा। 'सेज़' के कुछ और नये प्रस्ताव पास हुए और कुछ नयी विनाशकारी परियोजनाएँ सामने आयीं। पूँजी की इन हत्यारी परियोजनाओं से अपनी जगह-ज़मीन से उजड़ने वाले लोगों की तादाद में और बढ़ोत्तरियाँ हुईं। किसानों की आत्महत्याओं के आँकड़ों की बाढ़ भी रुकी नहीं और महानगरों की सड़कों पर गरीब मेहनतकशों की झुग्गी-झोपड़ियों को डायनासोरी बुलडोज़र निगलते रहे। गये साल के जश्न की

खुमारी मिटाने के बाद जब देश की हुकूमती जमातें 57वें गणतंत्र दिवस पर देश की सामरिक शक्ति के प्रदर्शन को गर्वपूर्वक निहारते बैठे थे उसी समय देश की मेहनतकश जनता की बेबसी की एक और त्रासदकथा उद्घाटित हुई। पता चला कि इलाज कराने आने वाले गरीबों के गुर्दे धोखे से निकालकर बेचने वालों का एक अन्तर्राष्ट्रीय गिरोह सक्रिय है जो हरियाणा, पंजाब, दिल्ली, उत्तर प्रदेश, आन्ध्रप्रदेश, महाराष्ट्र से लेकर ग्रीस, कनाडा, दुबई और अमेरिका तक फैला है। इस गिराह का सरगना डॉ0 अमित अपनी गुड़गाँव स्थित कोठी में पिछले छह सालों में पाँच सौ गुर्दे निकालकर करोड़ों की कमाई कर चुका है। जाहिर है कि पहले के ऐसे तमाम भण्डाफोड़ों की तरह यह भण्डोफोड़ भी मौत के सौदागरों के बीच रकम बाँटने के लिए हुए किसी झगड़े के कारण ही हुआ होगा। मामला सामने आने के बाद उसे रफ़ा-दफ़ा करने की वही कवायद शुरू हो चुकी है जैसाकि ऐसे मामलों में हुआ करता है।

दुनिया के दस शीर्ष-अरबपतियों के बीच अपनी जगह बना चुके रतन टाटा ने नया साल शुरू होते-होते सिंगूर के गरीब किसानों के खून में लिथड़ी अपनी लखटकिया 'नैनो' कार को बाजार में उतार ही दिया। इसके बाद अब मोटरसाइकिल वाले मध्य वर्ग की कारपति बनने की लालसाओं को पंख लग गये हैं। खाये- पिये-अघाये मध्य वर्ग की जमात में जल्द से जल्द शामिल होने जाने के लिए उसने टाटा के शोरूमों में मारामरी मचा रखी है। इस दृश्य का एक प्रति-दृश्य यह है कि निम्न मध्य वर्ग की आबादी का कुछ और हिस्सा जीवन की बुनियादी सुख-सुविधाओं पर तेजी के साथ अपनी पकड़ खोता जा रहा है। सामाजिक ध्रुवीकरण की प्रक्रिया और त्वरान्वित हो उठी है। समृद्धों और वचितों की दुनिया की दूरियाँ तेज़ी से बढ़ती जा रही है।

बुर्जुआ राजनीतिक पार्टियाँ बदस्तूर पिछले साल भी नये-नये मुद्दे उछालकर वोट-बैंक की घृणित राजनीति में लिप्त रहीं और बुर्जुआ राजनीतिक संस्कृति के अधःयतन के नये-नये नमूने रोज़-रोज़ सामने आते रहे। जनता की छाती पर सवार घोर परजीवी और संवेदनहीन नौकरशाही ने जनता की गाढ़ी कमाई डकारने के नये-नये कीर्तिमान कायम किये। आगामी लोकसभा चुनाव नजदीक आने के साथ ही तमाम बुर्जुआ पार्टियों के भीतर चुनाव जिताऊ मुद्दों की तलाश की सरगर्मियाँ तेज़ हो गयी हैं। 'भगवा ब्रिगेड' ने फिर से 'राम' की शरण ले ली है। गुजरात में मोदी की कामयाबी से वह काफी उत्साहित है। उसने अपनी राष्ट्रीय कार्यकारिणी की ताज़ा बैठक में अन्य भाजपा शासित मुख्यमंत्रियों के लिये हिदायतनामे भी जारी कर दिये हैं कि वे मोदी के 'कामकाज' से सीख लें। इसके साथ ही 'हिन्दुत्व' की नयी 'प्रयोगशालाओं'राजस्थान और मध्यप्रदेश में प्रयोग तेज हो गया है। बीते साल के आखिरी हफ़्ते में राजस्थान में बिल्कुल गुज़रात की तर्ज़ पर लगभग आधे दर्जन गाँवों में संघ परिवार के बजरंग दल और विश्व हिन्दू परिषद जैसे 'तूफानी दस्तों' ने हमले कर मुसलमानों के घरों, खेतों में खड़ी फसलों और ट्यूबवेलों को जला दिया। इन दोनों राज्यों की अल्पसंख्यक आबादी भीषण दहशत और आशंकाओं में जी रही है। वहाँ राज्य मशीनरी के फासिस्टीकरण का अभियान भी गुज़रात की तर्ज पर ज़ोर-शोर से जारी है।

उधर केन्द्र की यूपीए सरकार की मुख्य घटक कांग्रेस ने अपने वोट-बैंक बढ़ाने की कवायदें तेज़ कर दी हैं। मुसलमानों को सच्चर कमेटी का लालीपॉप दिखाने और राष्ट्रीय ग्रामीण रोज़गार गारण्टी योजना को देश भर में लागू करने की क़वायदों के बाद अब असंगठित मज़दूरों के लिए सामाजिक सुरक्षा योजना को अन्तिम रूप देने की तैयारियाँ तेज़ हो गयी हैं। सरकार बनाने के समय से ही इसकी घोषणा के बाद अब तक उसे इसी चुनावी घड़ी तक के लिए टाल दिया गया था। अगला बजट चुनावी बजट होगा, चिदम्बरम उसकी कवायदों में जुट चुके हैं।

अगर विश्व-परिदृश्य की चर्चा की जाये तो अमेरिकी साम्राज्यवाद और रूस एवं यूरोपीय संघ जैसे उसके प्रतिद्वंद्वी खेमों के बीच दुनिया की मेहनतकश जनता की लूट के माल के बँटवारे के लिये गलाकाटू होड़ और तेज़ हो गयी है। ईरान के मसले पर खुद अमेरिकी खुफिया एजेंसियों के इस रहस्योद्घाटन के बाद कि वहाँ परमाणु हथियार कार्यक्रम वर्ष 2003 से ही बन्द है, कूटनीतिक गलियारों में घात-प्रतिघात तेज़ हो गया है। पश्चिम एशिया पर अमेरिका के एकछत्र वर्चस्व को खत्म करने के लिए रूस और यूरोपीय संघ तरह-तरह से उसकी घेरेबन्दी कर रहे हैं। अपने बिरादरों से मिल रही इस चुनौती और फलस्तीनी जनता के संघर्षों के दबाव में अमेरिका ने जहाँ एक ओर तथाकथित शान्ति की एक और मुहिम शुरू कर दी है वहीं उसका लठैत इस्रायली शासक वर्ग फलस्तीनी जनता की घेरेबन्दी को और मजबूत बनाकर बनाकर 'शान्ति' की सौदेबाजी कर रहा है।

भूमण्डलीकरण की संजीवनी बूटी खिलाने के बाद भी विश्व पूँजीवादी तंत्र की मरणान्तक बीमारी दूर होने के बजाय और जटिल होती जा रही है। अमेरिकी 'सब प्राइस' संकट (देखें इस अंक में एक विस्तृत लेख) की पृष्ठभूमि में पिछले दिनों अमेरिकी शेयर मार्केट में ऐतिहासिक गिरावट दर्ज की गयी जिसके असर से तीसरी दुनिया के संवेदी सूचकांक भी धड़ाम से गिर गये। इसके साथ ही अमेरिकी और यूरोपीय समाज के भीतर गहरा रहे सामाजिक संकटों के भी कुछ संकेत पिछले साल मिले। न केवल पेरिस के उपनगर एक बार फिर एशियाई आप्रवासी युवाओं के आक्रोश से धू-धूकर जल उठे बल्कि वेतन, पेंशन सुरक्षा में कटौतियों और शिक्षा के निजीकरण के विरोध में रेल

कर्मियों सहित सार्वजनिक क्षेत्र के सभी विभागों के कर्मचारियों और छात्रों की देशव्यापी उग्र हड़ताल ने अपनी लम्पटई ओर निरंकुश नीतियों की पैरोकारी के लिए मशहूर निकोलस सरकोज़ी की सरकार के लिए भारी परेशानियाँ खड़ी कर दी थीं। यूरोप के अन्य देशों में भी नवउदारवादी नीतियों के अमल के कारण विभिन्न सामाजिक सुरक्षाओं में होने वाली कटौतियों के खिलाफ लोग सड़कों पर उतरते रहे। खुद अमेरिकी समाज के भीतर भी 'सब-प्राइम' संकट और अमेरिकी विदेश नीति की नाकामियों के खिलाफ जनअसन्तोष विभिन्न रूपों में दिखायी दिया। इराक से अमेरिकी सेनाओं की वापसी और अश्वेतों-आप्रवासियों के खिलाफ हो रहे भेदभाव के खिलाफ सड़कों पर काफी संख्या में आम श्वेत आबादी भी उतरकर आयी। इसका असर अगले अमेरिकी राष्ट्रपति के लिए हो रहे चुनावों पर भी दिखने लगा है। इस बार किसी रिपब्लिकन प्रत्याशी के जीतने की सम्भावना बेहद कम नज़र आ रही है। हिलेरी क्लिण्टन और बराक ओबामा जैसे डेमोक्रेट प्रत्याशी बुश की नीतियों से जनता की नाराज़गी और असन्तोष को भाँपकर इराक से तुरन्त अमेरिकी फौजें वापस बुलाने और टैक्सों में कटौती के लुकमे फेंक रहे हैं। हालाँकि डेमोक्रेट प्रत्योशियों के सत्ता में आने के बाद भी अमेरिकी इज़ारेदार पूँजी की हमलावर नीतियों में कोई बुनियादी बदलाव नहीं होने वाला है। जब तक तीसरी दुनिया के देशों में सर्वहारा आन्दोलन आगे नहीं बढ़ते तब तक अमेरिकी जनता के लिए बारी-बारी से रिपब्लिकन और डेमोक्रेटों के शासन के दुहराव के शैतानी दुष्चक्र से बाहर निकलना मुश्किल है, क्योंकि जब तक साम्राज्यवादी जंज़ीर की कमजोर कड़ियाँ नहीं टूटतीं तब तक इन मजबूत कड़ियों का टूटना मुश्किल है।

दुनिया भर में मेहनतकश जनता की लूट के माल के बँटवारे के लिए साम्राज्यवादी शासक वर्गों के बीच ही नहीं होड़ तीखी होती जा रही है वरन् तीसरी दुनिया के भारत, चीन, ब्राजील, मेक्सिको, अर्जेन्टीना, इण्डोनेशिया, मलयेशिया, दक्षिण अफ्रीका आदि 'बड़ों' के बीच आपस में और इनके तथा साम्राज्यवादी खेमों के बीच भी खींच-तान मची हुई है। तरह-तरह की क्षेत्रीय गोलबन्दियाँ, तरह-तरह के कूटनीतिक घात-प्रतिघात तेज हो गये हैं। मनमोहन सिंह की ताज़ा चीन यात्रा को भी इसी परिप्रेक्ष्य में देखा जाना चाहिए। दोनों देशों के बीच सीमा-विवाद को फिलहाल 'फ्रीज़' कर आर्थिक मसलों पर सहकार-सहयोग के लिए बेहद उदार हो उठना साम्राज्यवादियों के साथ तीसरी दुनिया के बुर्जुआ वर्ग की सौदेबाजियों से की कवायदें ही हैं। ऊपरी तौर पर दिखायी पड़ने वाले इस मेल-मिलाप के पीछे दोनों देशों के बुर्जुआओं के बीच दक्षिण एशिया की चौधराहट के लिए मची होड़ छुपी हुई है।

इस तरह हम देख सकते हैं कि पूरब हो या पश्चिम भूमण्डल के हर कोने में पूँजीवादी शासक वर्गों के बीच आपस में और उनके साथ जनता के अन्तरविरोध तीखे हो रहे हैं। जनता और शासक वर्गों के बीच विभिन्न रूपों में जारी छिटपुट मुठभेड़ों की संख्या बढ़ती जा रही है। लेकिन यहीं पर इतिहास की एक अनिवार्यता हमारे सामने चुनाती देती-सी खड़ी हो जाती है। इतिहास अपने आप नहीं बदलता। प्रकृति की तरह समाज में भी जड़ता को दूर करने के लिए बाहरी बल लगाना पड़ता है और यह बल भी सुनिर्धारित-सुर्निदिष्ट दिशा में होना चाहिए। यही विज्ञान का तकाज़ा है। चीज़ों को स्वतःस्फूर्तता के हवाले नहीं छोड़ा जा सकता। यह निराशा में डूबी आत्माओं का नियतिवाद हो सकता या अकर्मकजनों का थोथा आशावाद। विगत डेढ़ शताब्दियों के विश्व सर्वहारा संघर्षों का इतिहास यही सीख देता है कि आज की सर्वहारा क्रान्ति भी केवल और केवल एक सचेतन क्रान्ति ही हो सकती है। आज के पूँजीवाद-साम्राज्यवाद को केवल क्रान्तिकारी मार्क्सवाद के मार्गदर्शन में संगठित एक क्रान्तिकारी पार्टी के नेतृत्व में ही चकनाचूर किया जा सकता है। विश्व पूँजीवाद तरह-तरह के कोरामिन इंजेक्शनों के सहारे मृत्युशय्या पर पड़ा दुनिया की जनता को तरह-तरह दुख-तकलीफ़ें देता रहेगा लेकिन यह अपने आप अन्तिम साँस नहीं लेगा।

लेकिन विश्व स्तर पर सर्वहारा क्रान्तियों की आत्मगत शक्तियाँकम्युनिस्ट क्रान्तिकारी शक्तियाँ कमजोर हैं, बिखरी हुई हैं। इसका सर्वप्रमुख बुनियादी कारण उनकी विचारधारात्मक कमज़ोरी है। सर्वहारा के विश्व ऐतिहासिक संघर्ष के अनुभवों का वैज्ञानिक सारतत्व आत्मसात करने के बजाय वे मार्क्स से लेकर माओ तक की रचनाओं का धार्मिक गुटकों की तरह पाठ करते रहते हुए देश-काल-परिस्थिति को नज़रअन्दाज कर अतीत की महान क्रान्तियों का भोंड़ा अनुकरण करने में जुटे हैं। खासकर, तीसरी दुनिया के देशों में ज्यादातर कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी संगठन चीनी कम्युनिस्ट पार्टी और माओ की क्रान्तिकारी विरासत को आगे बढ़ाने के नाम पर आज भी साम्राज्यवाद-सामन्तवाद विरोधी नवजनवादी क्रान्ति सम्पन्न करने की वृथा कोशिश कर रहे हैं। माओ के अवदानों को वैज्ञानिक भाव के बजाय भक्तिभाव से स्वीकार करते हुए वे कार्यक्रम के प्रश्न को विचारधारा का प्रश्न बना देते हैं। इनके लेखे दुनिया आज भी 1960 के दशक में खड़ी है जब माओ ने तीसरी दुनिया के देशों में नवजनवादी क्रान्ति की बात कही थी। पिछले लगभग चार दशकों में तीसरी दुनिया के उत्तर-औपनिवेशिक समाजों की आर्थिक-सामाजिक संरचना में बुनियादी बदलाव घटित हो चुके हैं। आज का साम्राज्यवाद भी हूबहू लेनिन के समय जैसा नहीं रह गया है। भूमण्डलीकरण के इस दौर में साम्राज्यवाद की कार्यप्रणाली और संरचना में आये बदलावों को समझने के बजाय पुराने सिद्धान्तों और परिस्थितियों के पुराने मूल्यांकनों की चौखटे में वे आज की ठोस सच्चाईयों को कसते चले जा रहे हैं। आज, कुछेक

अपवादों को छोड़कर भारत सहित तीसरी दुनिया के तमाम देशों में पूँजीवाद-साम्राज्यवाद विरोधी नई समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल आ चुकी है। आज की नयी दुनिया की इन सच्चाइयों की पहचान कर वर्गों की नयी रणनीतिक लामबन्दी और क्रान्ति के नये पथ का निर्धारण करने के बजाय वे लकीर की फकीरी किये जा रहे हैं। इस कठमुल्लावाद के चलते सामाजिक प्रयोगों की विफलता ने एक लम्बे गतिरोध और व्यापक मेहनतकश जनता से उनके अलगाव की स्थिति पैदा की है। इस स्थिति में, दुनिया के सभी अग्रणी क्रान्तिकारी सम्भावना सम्पन्न देशों में न केवल देश स्तर की एकीकृत क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी के गठन का काम लम्लित पड़ा हुआ है, बल्कि कठमुल्लावाद और गतिरोध की लम्बी अवधि दक्षिणपंथी और "वामपंथी" अवसरवाद के विचारधारात्मक विचलनों को भी जन्म दे रही है।

भारत के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन की भी आज यही स्थिति है। नक्सलबाड़ी किसान उभार के चार दशक बाद भी आज यह आन्दोलन देश के राजनीतिक परिदृश्य पर लगभग अनुपस्थित है। आन्दोलन के चार दशकों के इतिहास और उसके वर्तमान के विश्लेषण-आकलन के आधार पर अब यह मुमकिन नहीं लगता कि इसकी विरासत को जुबानी तौर पर मानने कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी ग्रुपों-संगठनों को मिलाकर कोई अखिल भारतीय क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी बनायी जा सकती है। इन संगठनों की बुनियादी विचारधारात्मक कमज़ोरी ने और भारतीय क्रान्ति के गलत कार्यक्रम पर अमल के चार दशक लम्बे राजनीतिक व्यवहार ने आज उनहें विचारधारा का ही परित्याग करने के मुकाम तक पहुँचा दिया है। किसी भी यथार्थवादी व्यक्ति को अब इस खोखली आशा का परित्याग कर देना चाहिए कि मा. ले. शिविर के घटक संगठनों के बीच राजनीतिक वाद-विवाद और अनुभवों के आदान-प्रदान के आधार पर एकता कायम हो जायेगी और सर्वहारा वर्ग की एक सर्वभारतीय पार्टी अस्तित्व में आ जायेगी। जो चालीस वर्षों में नहीं हो सका, वह अब नहीं हो सकता। बेशक, इन संगठनों की कतारों का बहुलांश आज भी क्रान्तिकारी है पर गैर बोल्शेविक ढाँचों वाले मा.ले. संगठनों में उन्हें मार्क्सवादी विज्ञान से शिक्षित नहीं किया गया है और स्वतंत्र पहलक़दमी के साहस व निर्णय लेने की क्षमता का भी उनमें अभाव है। विभिन्न संगठनों में समय काटते हुए उनकी कार्यशैली भी सामाजिक जनवादी प्रदूषण का शिकार हो रही है और निराशा का दीमक उनके भीतर भी पैठा हुआ है। उनमें यह साहस नहीं है कि वे अपने अवसरवादी नेतृत्व के प्रति अविश्वास करते हुए विद्रोह कर दें और अपनी पहल पर कोई नयी शुरुआत करें। लेकिन जो कतारें सैद्धान्तिक मतभेदों और विवादों की जटिलताओं को नहीं समझ पाती हैं, उनके सामने यदि कोई लाइन व्यवहार में आगे बढ़ती हुई दिखायी देती है, उसमें निरन्तरता और सुसंगतता दिखायी देती है तो फिर वे निर्णय पर पहुँचने में देर नहीं करतीं। आज के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन के लिए भी यह बात सच है। इसलिए, आज प्रधान प्रश्न क्रान्तिकारी बोल्शेविक उसूलों व चरित्र वाले संगठनों का ढाँचा नये सिरे से बनाने का है। अगर, क्लासिकी लेनिनवादी शब्दावली में कहें तो, प्रधान पहलू पार्टी गठन का नहीं बल्कि पार्टी निर्माण का है। इस अंक में इस प्रश्न पर केन्द्रित एक विशेष लेख दिया गया है जो भारत के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन के इतिहास और वर्तमान का विश्लेषण करते हुए भविष्य के रास्तों और सम्भावनाओं को ठोस रूप से इंगित करता है।

हमें अतीत और वर्तमान का आलोचनात्मक विवेक के साथ विश्लेषण-समाहार करना चाहिए, भविष्य के मिथ्या आशावादी भ्रमों से मुक्त होना चाहिए। केवल तभी भविष्य के बन्द दरवाज़ों को खोला जा सकता है। राह कठिन है लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं कि हम चुनौतियों से घबराकर निराशा के अन्धकूप में डूब जायें। माओ ने कहा है कि समस्याएँ पैदा ही इसलिए होती हैं कि उनका समाधान किया जाये। देश और दुनिया के स्तर पर भावी क्रान्तियों की जो सम्भावनाएँ पक रही हैं उनके वास्तविक पहचान करते हुए हमें परिवर्तन के विभिन्न मोर्चो पर सन्नद्ध हो जाना होगाऔर अधिक ज़िद के साथ। अपने क्रान्तिकारी पूर्वजों की समष्टि और व्यापक जनसमष्टि के साथ एकरूप होते हुए हमें इस दुर्गम और साहसिक यात्रा पर आगे बढ़ने का नया संकल्प संजोना होगा। आज अगर हमने अपने देश और अपने लोगों के भविष्य से जुड़े इन जलते, घूरते प्रश्नों को एक वैज्ञानिक साहस के साथ सम्बोन्धित करने का बीड़ा उठा लिया तो फिर आज की दुनिया को प्रभावित करने की हमारी क्षमताओं में चमत्कारी वृद्धि हो जायेगी। इतिहास का यह अनुभव है। विश्व पूँजी की बर्बर सेनाओं के साथ मेहनतकश जनता की आज जो छिटपुट मुठभेड़ें हो रही हैं, उसकी जो बेचैनियाँ बढ़ रही हैं उनमें ये सम्भावनाएँ छुपी हुई हैं कि भविष्य में निश्चित ही, रण महाभीषण होगा। आज का यह गतिरोध इसलिए भी है कि हम युग-परिवर्तन के अब तक के सबसे प्रचण्ड झंझावाती समय की पूर्वबेला में जी रहे हैं। आज एक ऐसा समय है जब इतिहास का एजेण्डा तय करने की ताक़त शासक वर्गों के हाथों में है। कल इतिहास का एजेण्डा तय करने की कमान सर्वहारा वर्ग के हाथों में होगी। यह एक ऐसा समय है जब शताब्दियों के समय में चन्द दिनों के काम पूरे होते हैं, यानी इतिहास की गति इतनी मद्धिम होती है कि गतिहीनता का आभास होता है। लेकिन इसके बाद एक ऐसा समय आना ही है जब शताब्दियों के काम चन्द दिनों में अंजाम दिये जायेंगे।

(31 जनवरी, 2008)

नक्सलबाड़ी और उत्तरवर्ती चार दशक : एक सिंहावलोकन

• दीपायन बोस

कुछ चीजें धकेल दी गयी हैं
अँधेरे में
उन्हें बाहर लाना है,
जड़ों तक जाना है
और वहाँ से ऊपर उठना है
टहनियों को फैलाते हुए
आकाश की ओर।
सदी के इस छोर से
उठानी है फिर आवाज
'मुक्ति' शब्द को
एक घिसा हुआ सिक्का होने से
बचाना है।
जनता की सुषुप्त-अज्ञात मेधा तक जाना है
जो जड़-निर्जीव चीजों को
सक्रिय जीवन में रूपान्तरित करेगी
एक बार फिर।
जीवन से अपहृत चीजों की
बरामदगी होगी ही एक न एक दिन।
आकाश को प्राप्त होगा
उसका नीलापन,
वृक्षों को उनका हरापन,
तुषारनद को उसकी श्वेताभा
और सूर्योदय को उसकी लाली
तुम्हारे रक्त से...

(शशि प्रकाश)

इतिहास की कई एक हारी गयी लड़ाइयाँ ऐसी भी हैं जिन्होंने देश-विदेश के जीवन और भविष्य की दिशा को जीती गयी लड़ाइयों की तुलना में कम नहीं, बल्कि कभी-कभी तो कुछ अधिक ही प्रभावित किया। ऐसी अल्पजीवी घटनाएँ धूमकेतु के समान क्षितिज पर प्रकट हुईं और विलुप्त हो गयीं, लेकिन लोक-स्मृतियों में अपना अमिट स्थान सुरक्षित कर गयीं और आने वाली पीढ़ियों को लम्बे समय तक, इतिहास-निर्माण के लिए आगे डग भरने को प्रेरित करती रहीं। 1967 का नक्सलबाड़ी किसान-उभार भारतीय इतिहास के स्वातन्त्र्योत्तर काल की एक ऐसी ही महान ऐतिहासिक घटना थी।

नक्सलबाड़ी का क्रान्तिकारी जन-उभार एक ऐतिहासिक विस्फोट की तरह घटित हुआ जिसने भारतीय शासक वर्ग के प्रतिक्रियावादी चरित्र और नीतियों को एक झटके के साथ नंगा करने के साथ ही भारत की कम्युनिस्ट पार्टी और भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) सहित संशोधनवाद और संसदमार्गी वामपन्थ के विश्वासघाती जन-विरोधी चरित्र को उजागर करते हुए भारत के श्रमजीवी जनसमुदाय को यह सन्देश दिया कि सर्वहारा क्रान्ति के हरावल दस्ते के निर्माण एवं गठन के काम को नये सिरे से हाथ में लेना होगा। नक्सलबाड़ी के तत्काल बाद, सर्वहारा वर्ग की एक अखिल भारतीय पार्टी के गठन की दिशा में तूफानी सरगर्मियों के साथ एक नयी शुरुआत हुई, लेकिन जल्दी ही यह नयी शुरुआत "वामपन्थी" आतंकवाद के भँवर में जा फँसी। तमाम घोषणाओं और दावों के बावजूद, कड़वा ऐतिहासिक तथ्य यह है कि देश स्तर पर सर्वहारा वर्ग की एक एकीकृत क्रान्तिकारी पार्टी नक्सलबाड़ी के उत्तरवर्ती प्रयासों के परिणामस्वरूप वस्तुतः अस्तित्व में आ ही नहीं सकी। 1969 में जिस भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मा-ले) की घोषणा हुई, वह पिछले सैंतीस वर्षों से कई ग्रुपों और संगठनों में बँटी हुई, एकता और फूट के अनवरत सिलसिले से गुजरती रही है। नक्सलबाड़ी की मूल प्रेरणा से गठित जो कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी संगठन भाकपा (मा-ले) में शामिल नहीं हुए थे, उनकी भी यही स्थिति रही है। इन सभी कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी संगठनों के जिस समूह को कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी शिविर कहा जाता रहा है, उनमें से कुछ आज भी "वामपन्थी" दुस्साहसवादी निम्न-पूँजीवादी लाइन के संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण को अमल में ला रहे हैं, कुछ दक्षिणपन्थी सिरे की ओर विपथगमन की प्रक्रिया में हैं तो कुछ सीधे संसदमार्गी वामपन्थियों की पंगत में जा बैठे है, कुछ का अस्तित्व बस नाम को ही बचा हुआ है तो कुछ बाकायदा विसर्जित

हो चुके हैं और कुछ ऐसे भी हैं जो नववामपन्थी "मुक्त चिन्तन" की राह पकड़ कर चिन्तन कक्षों में मुक्ति के नये सूत्र ईजाद कर रहे हैं। इस त्रासद स्थिति के कारणों की पड़ताल जरूरी है और आगे हम ऐसा करने की एक कोशिश भी करेंगे, लेकिन इतना तय है कि नक्सलबाड़ी में 1967 में घटी घटना भारतीय इतिहास का एक मोड़-बिन्दु और भारतीय वामपन्थ के इतिहास का एक सन्दर्भ-बिन्दु थी। इस घटना ने, और यहाँ से शुरू हुई मार्क्सवादी-लेनिनवादी राजनीतिक धारा ने पूरे भारतीय राजनीतिक परिदृश्य को, सामाजिक ताने-बाने को और सांस्कृतिक-साहित्यिक आन्दोलन को गहराई से प्रभावित किया। भारतीय समाज और राजनीति का स्वरूप वैसा कत्तई नहीं रह गया जैसा कि वह पहले था। बुर्जुआ मीडिया ने क्रान्तिकारी वामपन्थ के लिए एक नया शब्द ईजाद किया नक्सलवाद, और पश्चिम बंगाल के दार्जीलिंग जिले के उस सुदूर ग्रामीण अंचल ने इतिहास में अपना स्थान सुरक्षित करा लिया। आज अपने ढंग से, बुर्जुआ राजनीतिज्ञ और व्यवस्था के सिद्धान्तकार-सलाहकार भी स्वीकार करते हैं कि "नक्सलवाद समस्या" कानून-व्यवस्था की नहीं बल्कि सामाजिक-आर्थिक है और इसका समाधान भी सामाजिक-आर्थिक ही हो सकता है।

नक्सलबाड़ी का क्रान्तिकारी जन-उभार भारत में क्रान्तिकारी वामपन्थ की नयी शुरुआत और संशोधनवादी राजनीति से निर्णायक विच्छेद की एक प्रतीक घटना सिद्ध हुआ। इसने मजदूर-किसान जनता के सामने राज्यसत्ता के प्रश्न को एक बार फिर केन्द्रीय प्रश्न बना दिया। तेलंगाना-तेभागा-पुनप्रा वायलार और नौसेना विद्रोह के दिनों के बाद, एक बार फिर देशव्यापी स्तर पर जनसमुदाय की क्रान्तिकारी ऊर्जा और पहलकदमी निर्बन्ध हुई, लेकिन "वामपन्थी" दुस्साहसवाद के विचारधारात्मक विचलन और विरासत के तौर पर प्राप्त विचारधारात्मक कमजोरी के कारण भारतीय सामाजिक-आर्थिक संरचना एवं राज्यसत्ता की प्रकृति की गलत समझ और उस आधार पर निर्धारित क्रान्ति की गलत रणनीति एवं आम रणकौशल के परिणामस्वरूप यह धारा आगे बढ़ने के बजाय गतिरोध और विघटन का शिकार हो गयी। अब पिछले चार दशकों में गंगा में काफी पानी बह चुका है। 1967 में सामाजिक संक्रमण की जो दिशा थी, उस दिशा में यात्रा काफी आगे के एक सुनिश्चित मुकाम तक पहुँच चुकी है। प्रतिक्रान्तिकारी ढंग से, ऊपर से, क्रमिक विकास के रास्ते से, शासक वर्गों द्वारा किये पूँजीवादी भूमि-सुधारों ने किसान आबादी के विभेदीकरण, सर्वहाराकरण और विस्थापन को तीव्र करने के साथ ही गाँवों में भी पूँजी और श्रम के अन्तरविरोध को एकदम स्पष्ट और अत्यधिक तीखा बना दिया है। पूँजीवादी माल-उत्पादन की प्रणाली का वर्चस्व वहाँ निर्णायक ढंग से स्थापित हो चुका है और प्राक्-पूँजीवादी अवशेषों का दायरा अत्यधिक संकुचित हो चुका है। देश में देशी-विदेशी पूँजीपतियों के उद्योग-धन्धों और औद्योगिक सर्वहारा आबादी का भारी विस्तार हुआ है। भूमण्डलीकरण के दौर की नवउदारवादी नीतियों को स्वीकार कर भारतीय पूँजीपति वर्ग ने राजकीय उद्योगों का लगातार, बड़े पैमाने पर निजीकरण किया है और विदेशी पूँजी के लिए राष्ट्रीय बाजार को लगभग पूरी तरह से खोल दिया गया है। भारतीय पूँजीपति वर्ग आज की नयी परिस्थितियों में, विश्व पूँजीवादी तन्त्र में साम्राज्यवादी लुटेरों के कनिष्ठ सहयोगी एवं भागीदार की भूमिका में व्यवस्थित हो चुका है। कृषि और उद्योग दोनों ही क्षेत्रों में आज देशी-विदेशी पूँजी और श्रम के बीच का अन्तरविरोध एकदम स्पष्ट हो चुका है।

1960 के दशक में भी समाज-विकास की यही दिशा थी, लेकिन तब एक संक्रमणशील तरल परिस्थिति थी और विकासमान सारभूत यथार्थ को पहचानकर क्रान्ति की मंजिल का निर्धारण उच्च विचारधारात्मक क्षमता वाले परिपक्व नेतृत्व, गहन पर्यवेक्षण एवं अध्ययन तथा राजनीतिक वाद-विवाद की एक लम्बी प्रक्रिया की माँग करता था। नक्सलबाड़ी से उभरा नेतृत्व ऐसा नहीं था, और "वामपन्थी" संकीर्णतावाद ने जनवादी ढंग से विचारों के आदान-प्रदान की सम्भावनाओं का गला घोंट दिया। चीनी क्रान्ति के मार्ग के अनुसरण का नारा दिया गया, लेकिन उस पर भी यदि जनदिशा लागू करते हुए अमल किया जाता तो शायद अनुभवों के समाहार से सही नतीजों तक पहुँचा जा सकता था। पर पहले "वामपन्थी" आतंकवाद और फिर दक्षिणपन्थी विचलनों ने इस सम्भावना के द्वार भी रुद्ध कर दिये। आज पीछे मुड़कर जब हम इतिहास को देखते हैं और विश्लेषण-समाहार करते हैं, तो जाहिर है कि चार दशक पहले के समय में पीछे लौटकर गलतियों को ठीक नहीं किया जा सकता। तब से भारतीय समाज काफी आगे निकल आया है। जो 1967 या 1970 में हो सकता था या होना चाहिए था, आज उसकी स्थिति ही नहीं है। नक्सलबाड़ी किसान-उभार आज नहीं हो सकता। उस दौरान, जहाँ तक, जिस हद और मुकाम तक, चीजें सही ढंग से विकसित हुईं, वह हमारी विरासत है लेकिन उसकी पुनरावृत्ति नहीं की जा सकती। इतिहास निरन्तरता और परिवर्तन के द्वन्द्व से आगे बढ़ता है। नक्सलबाड़ी और वहाँ से पैदा हुई क्रान्तिकारी वाम धारा के सन्दर्भ में, निरन्तरता के पहलू पर परिवर्तन का पहलू आज प्रधान है। यानी हम वस्तुगत परिस्थितियों और क्रान्ति की मनोगत शक्तियों इन दोनों ही के सन्दर्भ में एक नये दौर में जी रहे हैं। फिर भी यह तय है कि उस दौर के इतिहास के सही, वस्तुपरक सार-संकलन के बिना, इस दौर में भी कोई नयी शुरुआत आगे नहीं बढ़ सकती। जो विचारधारात्मक भटकाव, पहुँच और पद्धति की जो गलतियाँ उस समय सही कार्यभार और सही मार्ग के निर्धारण में बाधक बनी थीं, उनका यदि सही-सटीक, बेलागलपेट विश्लेषण नहीं किया गया तो वही गलतियाँ किसी भी नयी यात्रा को बार-बार विपथगामी बनाती रहेंगी। यह जानना ही होगा कि अतीत के किन प्रेतों से हमें पीछा छुड़ाना है और अतीत की किस विरासत को आत्मसात करके उसे आगे विस्तार देना है।

इतिहासग्रस्त होकर इतिहास का निर्माण नहीं किया जा सकता। इतिहास के प्रेत तब तक किसी आन्दोलन या देश का पीछा करते रहते हैं जबतक कि उसके सभी सकारात्मक-नकारात्मक अनुभवों का समाहार करके उन्हें आत्मसात न कर लिया जाये और फिर इसके बाद भी, हम जब कभी नयी परिस्थितियों के रूबरू होते हैं तो नयी जमीन पर खड़े होकर, एक बार फिर इतिहास के साथ आलोचनात्मक रिश्ता कायम करते हैं। इतिहास, वस्तुतः अतीत के साथ वर्तमान का

निरन्तर जारी संवाद होता है। इतिहासग्रस्तता से मुक्ति और नयी परिस्थितियों में भारत में सर्वहारा क्रान्ति की तैयारी इन दोनों ही उद्देश्यों से (जो एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं), आज नक्सलबाड़ी का आलोचनात्मक पुनरावलोकन जरूरी है। जैसा कि हम कह चुके हैं, आज नक्सलबाड़ी और वहाँ से शुरू हुई प्रक्रिया को, उसकी गलतियाँ सुधारकर दुहराया नहीं जा सकता। लेकिन नक्सलबाड़ी से शुरू हुई प्रक्रिया की विफलता और विपथगमन और तज्जन्य दीर्घकालिक गतिरोध के कुछ बुनियादी कारण ऐसे भी हैं जिन्हें समझना आज बेहद जरूरी है। इसी उद्देश्य से यहाँ हम नक्सलबाड़ी किसान-उभार और वहाँ से शुरू हुए कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन के इतिहास की चर्चा करेंगे। जाहिर है कि नक्सलबाड़ी की ऐतिहासिक महत्ता और विफलता के आधारभूत कारणों की पूरे भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के इतिहास की पृष्ठभूमि के बिना ठीक-ठीक शिनाख़्त नहीं की जा सकती। नक्सलबाड़ी भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के इतिहास का एक नया मुकाम था, पर यह उस इतिहास की निरन्तरता से विच्छिन्न कोई आकस्मिक घटना नहीं थी। यूँ कहें कि नक्सलबाड़ी और वहाँ से शुरू हुई कम्युनिस्ट क्रान्किारी धारा के सिर पर भी इतिहास का एक बोझ था, जिससे वह उबर नहीं सकी। भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के इतिहास का एक नया मोड़-बिन्दु होने के बावजूद, नक्सलबाड़ी और उससे जन्मी नयी धारा ऐतिहासिक निरन्तरता के कुछ बुनियादी नकारात्मक पक्षों से मुक्त नहीं हो सकी। आगे हम देखेंगे कि इन सभी नकारात्मक पक्षों की कुंजीभूत कड़ी थी विचारधारात्मक कमजोरी जिससे भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन शुरू से ही ग्रस्त था। हम इस कमजोरी की निरन्तरता के वस्तुगत ऐतिहासिक कारण पर भी अपने कुछ अनन्तिम विचार संक्षेप में रखेंगे। यह चर्चा इसलिए भी जरूरी है कि हम समझ सकें कि नक्सलबाड़ी और कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन की सकारात्मक-नकारात्मक दोनों ही उपलब्धियों के लिए ऐतिहासिक संयोग-दुर्योग या कुछ व्यक्तियों की भूमिका बुनियादी नहीं थी। हाँ, नेतृत्व की भूमिका इस मायने में जरूर अहम थी कि इतिहास का सही-सटीक समाहार करने और ठोस परिस्थितियों का अध्ययन करके भारतीय क्रान्ति की रणनीति एवं आम रणकौशल तय करने का काम उसे ही करना था। हम यहाँ कम्युनिस्ट आन्दोलन के इतिहास के विस्तार में तो नहीं जा सकते, लेकिन इसके कुछ महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं और मुकामों का यहाँ पृष्ठभूमि के तौर पर उल्लेख जरूर करेंगे जो कहीं न कहीं नक्सलबाड़ी किसान उभार से जन्मे कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन की महत्ता और विफलता के ऐतिहासिक मूल तक पहुँचने में हमारी मदद करेंगे।

भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के इतिहास की कुछ बातें : एक सामान्य परिप्रेक्ष्य

भारत के कम्युनिस्ट आन्दोलन का इतिहास लगभग नौ दशक पुराना है। नक्सलबाड़ी किसान उभार के समय तक यह आधी शताब्दी की यात्रा पूरी कर चुका था। इस पूरी यात्रा के दौरान इसने गौरवशाली संघर्षों और शौर्यपूर्ण बलिदानों के अनेक कीर्तिस्तम स्थापित किये, लेकिन यह विचारणीय मुद्दा आज भी हमारे सामने यक्षप्रश्न की तरह खड़ा है कि राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन पर कम्युनिस्ट धारा अपना राजनीतिक वर्चस्व क्यों नहीं स्थापित कर पायी? वह भारतीय पूँजीपति वर्ग और उसकी प्रतिनिधि राजनीतिक पार्टी के हाथों से राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व क्यों नहीं छीन पायी? इसके कारण हम किसी ऐतिहासिक संयोग या कुछ व्यक्तियों की भूमिका में नहीं ढूँढ़ सकते। ऐसा करना अनैतिहासिक होगा।

बीसवीं शताब्दी के समूचे भारतीय इतिहास का यदि सिंहावलोकन किया जाये और उसके प्रमुख मोड़-बिन्दुओं की गहन पड़ताल की जाये तो कम्युनिस्ट आन्दोलन की विफलता के बुनियादी कारणों की शिनाख़्त की जा सकती है। भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन की सारी कमजोरियों की कुंजीभूत कड़ी रही है इसकी विचारधारात्मक कमजोरी। इस कमजोरी के कारण ही, भारत की कम्युनिस्ट पार्टी, उस दौर में भी, जबकि यह संशोधनवाद के दलदल में नहीं जा धँसी थी और बुनियादी तौर पर इसका चरित्र सर्वहारावर्गीय था, कभी भी संगठन के बोल्शेविक उसूलों के अनुरूप इस्पाती साँचे में ढली हुई और जनवादी केन्द्रीयता पर अमल करने वाली पार्टी के रूप में काम नहीं करती रही थी। पार्टी-गठन के बाद लम्बे समय तक इसका ढाँचा ढीला-ढाला और संघात्मक बना रहा और लेनिनवादी अर्थों में इसका नेतृत्वकारी निकाय भी संगठित नहीं था। पहली बार, ब्रिटेन, जर्मनी और चीन की कम्युनिस्ट पार्टियों के एक संयुक्त पत्र (मई, 1932), 'कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल' में प्रकाशित एक लेख (फरवरी-मार्च, 1933), और चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के एक और पत्र (जुलाई, 1933) द्वारा भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के ग्रुपों में बिखरे होने, गैर बोल्शेविक ढाँचा एवं कार्यप्रणाली तथा पार्टी-निर्माण विषयक कार्यभारों की उपेक्षा की आलोचना करने और आवश्यक सुझाव दिये जाने के बाद, दिसम्बर 1933 में 'भाकपा की अस्थायी केन्द्रीय कमेटी के केन्द्रक' का गठन हुआ, जिसे कुछ और लोगों को सहयोजित करके बाद में केन्द्रीय कमेटी का नाम दे दिया गया। इसके बाद ढाई वर्षों तक पार्टी महासचिव पद के कामचलाऊ प्रबन्ध के तहत कोई न कोई सम्हालता रहा। अप्रैल 1936 में पी.सी. जोशी के महासचिव चुने जाने के बाद यह स्थिति समाप्त हो सकी। लेकिन इसके बाद भी पार्टी के बोल्शेविकीकरण की प्रक्रिया को कभी भी सहज ढंग से अंजाम नहीं दिया गया। पी.सी. जोशी के नेतृत्वकाल वाले दक्षिणपन्थी भटकाव के दौर में, पार्टी सदस्यता की शर्तों, कमेटी-व्यवस्था और गुप्त ढाँचे के मामले में पर्याप्त ढिलाई-लापरवाही बरती जाती थी जो 1942 में पार्टी के कानूनी घोषित किये जाने के बाद और बढ़ गयी थी। उल्लेखनीय है कि पार्टी की पहली कांग्रेस भी उसके कानूनी घोषित होने के बाद ही जाकर (23 मई-1 जून, 1943, मुम्बई) सम्भव हो सकी। इससे स्पष्ट हो जाता है कि भारत के कम्युनिस्ट राज्यसत्ता के दमन एवं गैरकानूनी होने की स्थितियों में पार्टी कार्यों के सुचारू संचालन के लिए बोल्शेविकों और अन्य दक्ष लेनिनवादी पार्टियों की तरह तैयार नहीं थे। एक जनवादी केन्द्रीयता वाले बोल्शेविक ढाँचे के काफी हद तक अभाव के चलते ही, संशोधनवादी विपथगमन की पूर्ववर्ती अवधि में भी दो लाइनों के संघर्ष के सुसंगत संचालन का पार्टी में सदा अभाव रहा। "वामपन्थी" और दक्षिणपन्थी अवसरवादी प्रवृत्तियों का सहअस्तित्व हमेशा बना रहा, कभी एक तो कभी दूसरी लाइन पार्टी पर हावी होती रही और कभी दोनों की विचित्र खिचड़ी

पकायी जाती रही। संकीर्ण गुटवाद की प्रवृत्ति केन्द्रीय कमेटी के गठन के बाद भी, हर स्तर पर निरन्तर मौजूद रही। सच कहा जाये तो पार्टी नेतृत्व ने पार्टी निर्माण को कभी एक महत्त्वपूर्ण कार्यभार माना ही नहीं। कतारों की विचारधारात्मक-राजनीतिक-व्यावहारिक शिक्षा के जरिये बोल्शेविकीकरण और दोष-निवारण पर कभी जोर नहीं दिया गया।

यह पार्टी की विचारधारात्मक कमजोरी और नेतृत्व की बौद्धिक अक्षमता-विपन्नता ही थी, जिसके कारण भारत की कम्युनिस्ट पार्टी मार्क्सवाद की सार्वजनीन सच्चाइयों को भारत की ठोस परिस्थितियों में लागू करने में हमेशा न केवल विफल रही, बल्कि ऐसा प्रयास तक करने के बजाय हमेशा ही अन्तरराष्ट्रीय नेतृत्व और बड़ी एवं अनुभवी बिरादर पार्टियों का मुँह जोहती रही। ज़्यादातर कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल के प्रस्तावों-सर्कुलरों, उसके मुखपत्रों में प्रकाशित लेखों, सोवियत पार्टी के लेखों और ब्रिटेन की कम्युनिस्ट पार्टी के के रजनीपाम दत्त जैसे लोगों के लेखों के प्रभाव में भारत की कम्युनिस्ट पार्टी अपनी नीतियाँ और रणनीति तय करती रही। इससे अधिक त्रासद विडम्बना भला और क्या हो सकती है कि 1951 तक भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के पास भारतीय क्रान्ति का कोई कार्यक्रम तक नहीं था, केवल कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल द्वारा प्रवर्तित आम दिशा और दिशा-निर्देशों के अनुरूप लिखे गये कुछ निबन्ध, प्रस्ताव और रणकौशल एवं नीति-विषयक दस्तावेज मात्र ही थे जो बताते थे कि भारत में राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति का कार्यभार सम्पन्न करना है। मुख्यतः भूमि क्रान्ति (एग्रेरियन रिवोल्यूशन) का कार्यभार होने के बावजूद, कोई भूमि कार्यक्रम (एग्रेरियन प्रोग्राम) तैयार करना तो दूर, भूमि-सम्बन्धों की विशिष्टताओं को जानने-समझने के लिए कभी कोई विस्तृत जाँच-पड़ताल तक नहीं की गयी थी। ऐसी स्थिति के होते हुए, यदि पार्टी राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन की नेतृत्वकारी शक्ति नहीं बन सकी, अनुकूल स्थितियों का लाभ उठाने से बार-बार चूकती रही और जन संघर्षों में कम्युनिस्ट कतारों की साहसिक भागीदारी और अकूत कुर्बानियाँ व्यर्थ हो गयीं तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। पहली बार पार्टी नेतृत्व ने, अपने एक प्रतिनिधिमण्डल की स्तालिन और सोवियत पार्टी के अन्य नेताओं से वार्ता के बाद, 1951 में एक कार्यक्रम और नीति-विषयक वक्तव्य तैयार करके जारी किया जिसे अक्टूबर, 1951 में पार्टी के अखिल भारतीय सम्मेलन और फिर दिसम्बर, 1953 में तीसरी पार्टी कांग्रेस में पारित किया गया। क्रान्ति की मंजिल और आम दिशा के बारे में मूलतः और मुख्यतः सही होते हुए भी लोक जनवादी क्रान्ति का यह कार्यक्रम कई मायनों में अन्तरविरोधों-विसंगतियों से भरा हुआ था। भारतीय पूँजीपति वर्ग और राज्यसत्ता के चरित्र तथा भूमि सम्बन्धों के रूपान्तरण एवं समाज-विकास की आम दिशा के बारे में इस कार्यक्रम के मूल्यांकन यथार्थ से मेल नहीं खाते थे, इसे आगे चलकर समय ने एकदम स्पष्ट कर दिया। यहीं पर इस तथ्य का उल्लेख भी कर दिया जाना चाहिए कि 1955-56 के दौरान पार्टी नेतृत्व का एक हिस्सा ऐसा सोचने और कहने लगा था कि भारतीय बुर्जुआ राज्यसत्ता सामन्ती भूमि सम्बन्धों को ऊपर से, क्रमिक प्रक्रिया में (बिस्मार्ककालीन प्रशा और कमाल अतातुर्ककालीन तुर्की की तरह) रूपान्तरित करने और सामन्तवाद को नियन्त्रित करने का काम कर रही है। लेकिन अपनी बात को साहसपूर्वक उसकी तार्किक परिणति तक पहुँचाने के बजाय उन्होंने निहायत कायराना अवसरवाद के साथ चुप्पी साध ली। बहरहाल, इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस समय तक पूरी तरह से खुली और संसदमार्गी हो चुकी पार्टी संशोधनवाद की राह पर आगे बढ़ चुकी थी और कार्यक्रम के प्रश्न पर यदि सही दिशा में कुछ सोचा भी जाता तो उसका कोई मतलब नहीं था क्योंकि संसदीय वामपन्थियों के लिए क्रान्ति का कार्यक्रम केवल कोल्ड स्टोरेज में रखने की चीज होता है।

अपने विचारधारात्मक दिवालियेपन के चलते भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व ने औपनिवेशिक भारत के उत्पादन-सम्बन्धों और अधिरचना के सभी पहलुओं (जिनमें जाति व्यवस्था, स्त्री प्रश्न और राष्ट्रीयताओं का प्रश्न भी आता है) का ठोस अध्ययन करके भारतीय क्रान्ति की रणनीति एवं आम रणकौशल के निर्धारण की कोई स्वतन्त्र कोशिश वस्तुतः की ही नहीं और अन्तरराष्ट्रीय नेतृत्व और बड़ी बिरादर पार्टियों के आकलनों के हिसाब से ही हमेशा निर्णय लेता रहा। ऐसी स्थिति में वह संयुक्त मोर्चा, मजदूर आन्दोलन और अन्य प्रश्नों पर बार-बार दो छोरों के भटकाव का शिकार होता रहा। जाहिर है कि ऐसे में अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन में समय-समय पर पैदा होने वाले विचलन और भारत-विषयक गलत या असन्तुलित मूल्यांकन भी भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन को प्रभावित करते रहे। इस स्थिति की तुलना यदि हम चीन से करें तो बात और अधिक स्पष्ट हो जाती है। चीन में 1921 में कम्युनिस्ट पार्टी ने एक निहायत कमजोर जमीन पर छोटी-सी ताक़त और वैचारिक अधकचरेपन के साथ शुरुआत की थी। लेकिन शुरू से ही चीन की पार्टी ने पार्टी-निर्माण के कार्यभारों पर पार्टी के बोल्शेविकीकरण पर, कतारों की राजनीतिक शिक्षा पर, पार्टी कमेटियों के सुदृढ़ीकरण एवं कार्यप्रणाली पर, अनुशासन एवं अन्तर्पार्टी जनवाद पर विशेष जोर दिया। चीनी पार्टी लगातार दो लाइनों के बीच संघर्ष के द्वारा आगे विकसित हुई। वह अपनी गलतियों से सीखने में सक्षम थी और इसीलिए पराजय या विफलताओं के झटके कभी उसकी कमर नहीं तोड़ पाये। माओ त्से-तुङ ने कोमिण्टर्न द्वारा उपनिवेशों-अर्द्धउपनिवेशों में लोक जनवादी कार्यक्रम की आम दिशा को स्वीकारते हुए, चीन की विशिष्ट स्थितियों के ठोस अध्ययन के आधार पर चीनी भूमि क्रान्ति के ठोस रूप और नारे तय किये, चीनी पूँजीपति वर्ग के दलाल और राष्ट्रीय हिस्सों की मौलिक ढंग से पहचान की तथा नवजनवादी क्रान्ति की रणनीति एवं आम रणकौशल तथा दीर्घकालिक लोकयुद्ध के क्रान्ति-पथ की ठोस रूपरेखा तैयार की। ऐसा करते हुए कई बार उनके विचार कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल और स्तालिन के चीनी क्रान्ति विषयक सुझावों से कदापि मेल नहीं खाते थे, पर अपने देश की ठोस परिस्थितियों के ठोस अध्ययन और व्यवहार से निकले निष्कर्षों को साहसपूर्वक प्रस्तुत और लागू करने में उन्होंने कभी कोई हिचक नहीं दिखायी। चीनी क्रान्ति की सफलता के पीछे यही बुनियादी कारण था और इसी विशिष्टता का हमें भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के नेतृत्व में नितान्त अभाव दीखता है। 1949 में चीनी नवजनवादी क्रान्ति की

निर्णायक विजय होने तक भारत की कम्युनिस्ट पार्टी अभी भारतीय क्रान्ति का कार्यक्रम तक प्रस्तुत नहीं कर पायी थी। हाँ, अब मुँह जोहने और अनुकरण करने के लिए उसे एक और बड़ी बिरादर पार्टी जरूर मिल गयी थी। चूँकि माओ त्से-तुङ के नेतृत्व में चीन की पार्टी ने ही ख्रुश्चेवी संशोधनवाद के विरुद्ध विचारधारात्मक संघर्ष चलाया, इसलिए 1960 के दशक में भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) से बाहर आये कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के नये नेतृत्व को यह सर्वथा उचित लगा कि वह चीनी पार्टी द्वारा प्रतिपादित विश्व सर्वहारा क्रान्ति की आम दिशा के दस्तावेज के ही हिसाब से भारत में भी साम्राज्यवाद-सामन्तवाद विरोधी क्रान्ति की मंजिल मान ले और उत्पादन सम्बन्धों, वर्गीय संरचना और राज्यसत्ता के चरित्र के अध्ययन की कोई जहमत न उठाये। उससे भी आगे बढ़कर, चीनी पार्टी के भारत-विषयक आकलनों को हूबहू अपना लेने के बाद, क्रान्ति-पूर्व चीन जैसी ही वर्गीय संरचना की कल्पना करके चीनी क्रान्ति के मार्ग को हूबहू लागू करने की घोषणा करते हुए भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मा-ले) ने भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन की पुरानी परम्परा को ही आगे बढ़ाया था। इस स्थिति में बदलाव की सम्भावना तब और धूमिल हो गयी, जब पुरानी परम्परा के ही अनुसार, पेण्डुलम संशोधनवाद से हटता हुआ "वामपन्थी" दुस्साहसवाद के दूसरे छोर तक जा पहुँचा और फिर उसके बाद "वामपन्थी" और दक्षिणपन्थी अवसरवाद के सहअस्तित्व के लम्बे दौर की शुरुआत हो गयी। बहरहाल, इस दौर की चर्चा हम आगे विस्तार से करेंगे।

यहाँ पर यह प्रश्न उठाना भी स्वाभाविक है कि भारत के कम्युनिस्ट आन्दोलन की बौद्धिक विपन्नता के वस्तुगत ऐतिहासिक कारण आखिरकार क्या थे? हालाँकि इस प्रश्न का सुसंगत उत्तर विस्तृत ऐतिहासिक-सामाजिक पड़ताल की माँग करता है, जो इस निबन्ध की सीमाओं को देखते हुए यहाँ सम्भव नहीं है। फिर भी भारत के कम्युनिस्ट नेतृत्व की विचारधारात्मक कमजोरी और अन्तरराष्ट्रीय नेतृत्व या बड़ी बिरादर पार्टियों का मुँह जोहने की प्रवृत्ति के सर्वाधिक मूलभूत कारण का संक्षिप्त उल्लेख तो यहाँ किया ही जा सकता है। किसी भी देश में कम्युनिस्ट आन्दोलन अचानक शून्य से नहीं पैदा हो गया और उसकी सफलता-असफलता या उसके नेतृत्व की परिपक्वता-अपरिपक्वता महज इत्तफाक नहीं था। इन सबके पीछे देश-विशेष के इतिहास में वर्ग-संघर्ष के सुदीर्घ, गतिमान सिलसिले और उससे निःसृत बौद्धिक-सांस्कृतिक विरासत की निरन्तरता का महत्त्वपूर्ण योगदान था। वैज्ञानिक समाजवाद का जन्म यदि यूरोप में हुआ और सबसे पहले उसने यूरोपीय मजदूर-आन्दोलन में जड़ें जमायीं, तो इसके ऐतिहासिक वस्तुगत कारण थे। पुनर्जागरण काल ने मध्ययुगीन जड़ता को तोड़कर इतिहास की जिस तीव्र वेगवाही यात्रा की शुरुआत की थी, वह बीच के कुछ उत्क्रमणों-विपर्ययों की दशाब्दियों को छोड़कर, निरन्तर जारी रही और प्रबोधन काल और पूँजीवादी जनवादी क्रान्तियों के दौरों से होती हुई उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक आ पहुँची, जहाँ बुर्जुआ वर्ग द्वारा धूल में फेंक दिये गये मुक्ति के लाल झण्डे को सर्वहारा वर्ग ने उठा लिया और वर्ग-संघर्ष के नये ऐतिहासिक युग में वैज्ञानिक समाजवाद उसका मार्गदर्शक सिद्धान्त बना। यूरोपीय मजदूर वर्ग को विगत चार शताब्दियों के इतिहास की प्रचण्ड गतिमानता ने समृद्ध बौद्धिक-दार्शनिक विरासत से लैस किया था। मुख्यतः उपनिवेशों की लूट से घूस खाकर यूरोपीय मजदूर वर्ग का उन्नत हिस्सा जब कुलीन और सुविधाजीवी हो गया तो क्रान्ति के तूफानों का केन्द्र पश्चिम से पूर्व की ओर स्थानान्तरित होने लगा और पहली सर्वहारा क्रान्ति रूस में हुई जो पूर्व-पश्चिम सेतु पर स्थित था। रूस एक ऐसा देश था जो जारशाही निरंकुशता और सामन्ती भूदासता की बेड़ियों में जकड़ा था, पर वहाँ पूँजीवाद का क्रमिक मन्थर विकास भी जारी था। वह कमजोर, उत्पीड़ित राष्ट्रों का जेलखाना और विशाल सैन्य शक्ति से सम्पन्न था, लेकिन पश्चिमी यूरोपीय देशों के शोषण का शिकार भी था। विकसित यूरोप की पूँजी का चरागाह होने के बावजूद वह एक स्वतन्त्र देश था जो स्वयं पड़ोसी पूर्वी यूरोपीय देशों का उत्पीड़क था। रूस में पूरब का पिछड़ापन और बर्बर शोषण-उत्पीड़न भी था और वहाँ का बौद्धिक समाज यूरोप के वैचारिक केन्द्रों की दार्शनिक-सांस्कृतिक-वैज्ञानिक सरगर्मियों से जीवन्त रूप से जुड़ा हुआ था। रूस कभी गुलाम नहीं बना, अपने अतीत से कभी विच्छिन्न नहीं हुआ और उसे अपने पिछड़ेपन का अहसास भी था। इसी जमीन पर उन्नीसवीं शताब्दी में रूस के महान क्रान्तिकारी यथार्थवादी साहित्यकार और बेलिंस्की, हर्जन, चेर्नीशेव्स्की, दोब्रोल्यूबोव आदि जैसे महान क्रान्तिकारी जनवादी दार्शनिक पैदा हुए। लेनिन और उनके सहयोद्धाओं की पीढ़ी को यह महान वैचारिक-सांस्कृतिक सम्पदा विरासत के तौर पर मिली थी जिसने उन्हें स्वतन्त्र तर्कणा का साहस दिया था। चीन अपनी तमाम मध्ययुगीन जड़ता और एशियाई सुस्ती के बावजूद, अपनी स्वतन्त्र आन्तरिक गति की निरन्तरता से कभी पूर्णतः विच्छिन्न नहीं हुआ था। कई साम्राज्यवादी देशों की लूट और आंशिक कब्जों के बावजूद तथा कई पराजयों के बावजूद, चीन कभी पूर्णतः औपनिवेशिक गुलामी का शिकार नहीं हुआ। इसीलिए, वहाँ यदि एक दलाल पूँजीपति वर्ग था तो एक राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग भी था। यदि बुद्धिजीवी समाज का एक हिस्सा बौद्धिक उपनिवेशन का शिकार था, तो दूसरा, स्वतन्त्र चिन्तन का साहस रखने वाला राष्ट्रवादी हिस्सा भी था। बौद्धिक-वैचारिक सम्पदा की दृष्टि से चीन विगत कुछ शताब्दियों के दौरान पीछे छूट गया था, लेकिन गुलाम नहीं होने के कारण सुदूर अतीत की बौद्धिक-वैचारिक सम्पदा से चीन के राष्ट्रवादी बौद्धिक समाज का सम्बन्ध टूटा नहीं था और पश्चिम के अवदानों को सम्मोहित दास भाव से ग्रहण करने की प्रवृत्ति से भी वह मुक्त था। साथ ही, चीन के कम्युनिस्ट आन्दोलन को डा. सुन यात-सेन और 1911 की अधूरी जनवादी क्रान्ति की विरासत भी मिली थी। यही कारण था कि निहायत कमजोर विचारधारात्मक जमीन से शुरुआत करने के बावजूद, चीन की कम्युनिस्ट पार्टी ने अन्तरराष्ट्रीय नेतृत्व का मुँह जोहने और भक्तिभाव से निर्देश-पालन के बजाय अपने देश की ठोस परिस्थितियों का विश्लेषण करके चीनी क्रान्ति का स्वरूप एवं मार्ग स्वयं निर्धारित करने का साहस किया।

भारत का प्राचीन इतिहास तूफानी सामाजिक संघर्षों से भरा हुआ और विपुल दार्शनिक-सांस्कृतिक सम्पदा से समृद्ध रहा था। सुदीर्घ मध्यकालीन गतिरोध के टूटने के संकेत (पूँजीवादी विकास और निर्गुण भक्ति आन्दोलन से लेकर सतनामी विद्रोह जैसे किसान संघर्षों तक के रूप में) अभी मुखर हो ही रहे थे कि इसके

उपनिवेशीकरण की शुरुआत हो गयी जो एक शताब्दी के दौरान (उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक) पूरी हो गयी। उपनिवेशीकरण ने भारतीय समाज की स्वतन्त्र आन्तरिक गति को पूरी तरह से नष्ट करके इसके ऊपर एक औपनिवेशिक सामाजिक-आर्थिक संरचना आरोपित कर दी। इस आरोपित औपनिवेशिक सामाजिक-आर्थिक संरचना के घटक नये वर्ग इतिहास की अभिशप्त सन्तानें थे। भारतीय पूँजीपति वर्ग और भारत के बुद्धिजीवी किसी पुनर्जागरण और प्रबोधन की प्रक्रिया से विकसित नहीं हुए थे। वे ऐतिहासिक जड़ों से विच्छिन्न और औपनिवेशिक सामाजिक-आर्थिक संरचना की उपज थे। यही कारण था कि भारतीय पूँजीपति वर्ग के किसी रैडिकल हिस्से ने भी कभी कोई क्रान्तिकारी संघर्ष नहीं किया और समूचे पूँजीपति वर्ग ने उपनिवेशवाद के विरुद्ध आद्यन्त 'समझौता-दबाव-समझौता' की नीति अपनाई तथा जन संघर्षों और विश्व परिस्थितियों का लाभ उठाकर सत्ता हासिल की। उसके इस व्यवहार ने उसे जनता के साथ छल करने और शासन चलाने की करिश्माई कुटिलता तो सिखाई, लेकिन दार्शनिक-वैचारिक सम्पदा के मामले में वह कंगाल ही था। भारतीय बुद्धिजीवी समुदाय का जो हिस्सा रैडिकल राष्ट्रीय जनवादी था, उसके राष्ट्रवाद और जनवाद को भी तर्कणा और भौतिकवाद की वह समृद्ध जमीन हासिल नहीं थी, जैसी यूरोपीय या रूसी बुद्धिजीवी वर्ग को थी। साथ ही, औपनिवेशिक मानसिकता के चलते स्वतन्त्र चिन्तन के बजाय यूरोप का अन्धानुकरण या अतीत की जमीन पर खड़े होकर यूरोपीय ज्ञान सम्पदा का कुण्ठित अन्ध-विरोध भारतीय बुद्धिजीवियों की आम प्रवृत्ति थी। भारत के मजदूर वर्ग के सामने विरासत के तौर पर अपनाने के लिए बुर्जुआ पुनर्जागरण-प्रबोधन-क्रान्ति की कोई सम्पदा नहीं थी। मध्यवर्गीय रैडिकल राष्ट्रवादी बुद्धिजीवियों का जो हिस्सा वैज्ञानिक समाजवाद के विचारों का कायल होकर मजदूर आन्दोलन से जुड़ा, वह भी औपनिवेशिक सामाजिक संरचना में जन्मे होने के ऐतिहासिक अभिशाप से मुक्त नहीं था। उसके पास न तो ऐतिहासिक निरन्तरता का बोध था, न ही किसी भी देश की क्रान्ति या वर्ग-संघर्ष के विचारधारात्मक सारतत्व को आसवित करने और अपने देश की ठोस परिस्थितियों का अध्ययन करके उनमें उसे लागू करने का बौद्धिक विवेक एवं साहस था। मजदूर आन्दोलन में वैज्ञानिक समाजवादी विचारधारा को लाने वाले इन बुद्धिजीवियों ने यही विरासत भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के नेतृत्व को दी जिससे वह आज तक मुक्त नहीं हो सका है। औपनिवेशिक मानस भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के नेतृत्व में इस रूप में मौजूद रहा है कि सफल क्रान्तियों, उन्हें नेतृत्व देने वाली पार्टियों एवं उनके नेताओं तथा अन्तरराष्ट्रीय नेतृत्व का अन्धानुकरण लगातार, कमोबेश इसकी एक आम प्रवृत्ति रही है।

भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के नेतृत्व के चिन्तन में मौलिकता, साहस और गहराई के अभाव के जिस कारण की हमने ऊपर चर्चा की है, जाहिर है कि वह एकमात्र कारण नहीं है। अन्य अनेक कारण हो सकते हैं, लेकिन उपरोक्त कारण एक बुनियादी वस्तुगत ऐतिहासिक कारण है, इतना हम विश्वासपूर्वक कह सकते हैं। यह एक अप्रिय सत्य है, लेकिन उस जमीन को पहचानना बेहद जरूरी है, जिस पर खड़े होकर हमें नयी शुरुआत करनी है। औपनिवेशिक अतीत की इस जमीन को पहचानकर हम उसके अभिशापों से आज अधिक सुगमता से मुक्त हो सकते हैं क्योंकि उस अतीत को हम आधी सदी पीछे छोड़ आये हैं। औपनिवेशिक या यांत्रिक भौतिकवादी इतिहास-दृष्टि से मुक्त होकर भारतीय इतिहास का अध्ययन करने के लिए परिस्थिति भी आज अधिक अनुकूल है। दूसरे, आज की दुनिया में देश-विदेश की ऐतिहासिक सीमाओं से मुक्त होकर सोचने और विश्व बौद्धिक सम्पदा को आत्मसात करने के लिए अधिक अनुकूल वस्तुगत परिस्थिति है। तीसरे, आज ऐसा कोई अन्तरराष्ट्रीय केन्द्र या नेतृत्व या समाजवादी देश नहीं है, जिसका अन्धानुकरण किया जा सके, इसलिए परिस्थितियाँ स्वयं अपनी राह ढूँढ़ने के लिए बाध्य कर रही हैं। चौथे, देश-दुनिया के हालात में बदलाव इतने स्पष्ट हैं कि आधी सदी पहले की किसी क्रान्ति की नकल करने की कोशिश सिर्फ कोई जड़मति ही करेगा। यानी स्वतन्त्र रूप से ठोस परिस्थितियों के ठोस विश्लेषण के लिए परिस्थितियाँ आज अधिक अनुकूल हैं। नक्सलबाड़ी का समाहार करते हुए मूल प्रसंग से कुछ हटकर यह ऐतिहासिक चर्चा इसी आशा के साथ की गयी है कि नयी सदी की नयी सर्वहारा क्रान्तियों के इस दौर में भारत के सर्वहारा क्रान्तिकारियों की नयी पीढ़ी अतीत से सबक ले और भारतीय कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन को एक नयी दिशा दे।

पटभूमि के तौर पर इस चर्चा के बाद हम अब मुख्य विषय पर लौटते हैं। नक्सलबाड़ी किसान संघर्ष की कोख से जन्मे भारत के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन या मार्क्सवादी-लेनिनवादी धारा के सकारात्मक-नकारात्मक पहलुओं के विश्लेषण-समाहार से पहले संक्षेप में यह जान लेना जरूरी है कि भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के भीतर वे परिस्थितियाँ किस रूप में तैयार हुईं कि कम्युनिस्ट कतारों का बड़ा हिस्सा संशोधनवाद से विच्छेद और संशोधनवादी नेतृत्व के विद्रोह करने की स्थिति तक जा पहुँचा, नक्सलबाड़ी किसान उभार जिसका निमित्त बना। साथ ही, नक्सलबाड़ी में विस्फोट की परिस्थितियाँ किस रूप में तैयार हुईं, किसान-उभार का ज्वार किस प्रकार उठा और आगे बढ़ा, इन तथ्यों और घटना-क्रम से भी, संक्षेप में परिचित हो लेना जरूरी है।

निकट अतीत की पृष्ठभूमि : नक्सलबाड़ी-पूर्व दो दशकों के दौरान भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन

नक्सलबाड़ी में क्रान्तिकारी किसान-उभार के ऐतिहासिक महत्त्व के वस्तुगत आकलन के लिए यह जानना जरूरी है कि भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन में ये हालात क्यों और किस प्रकार तैयार हुए कि पश्चिम बंगाल के एक सुदूर तराई अंचल में स्थानीय कम्युनिस्ट संगठनकर्ताओं के नेतृत्व में किसानों का हथियारबन्द जन-विद्रोह शुरू हुआ (जो बमुश्किल तमाम सिर्फ ढाई माह तक ही चला) और उसके पक्ष-विपक्ष में पूरे देश का कम्युनिस्ट आन्दोलन बँट गया तथा वह घटना संशोधनवाद से निर्णायक विच्छेद का मानक, प्रस्थान-बिन्दु, रूपक और प्रतीक-चिह्न बन गयी। नक्सलबाड़ी

तेलंगाना के छूटे हुए सिरे को पकड़कर आगे विस्तार दे सकता था, पर ऐसा नहीं हो सका। कई रूपों में नक्सलबाड़ी के बाद, मा.ले. आन्दोलन की मुख्य धारा ने रणदिवे-कालीन "वामपन्थी" संकीर्णतावाद को ही और अधिक विकृत भोंड़े रूप में दुहराया। मजदूर आन्दोलन संशोधनवादी पाप की कीमत अतिवामपन्थी भटकाव के दण्ड के रूप में चुकाता है। लेनिन की इस उक्ति को चरितार्थ करते हुए 17 वर्षों लम्बे संशोधनवादी दौर की प्रतिक्रिया नक्सलबाड़ी किसान उभार के दो वर्षों बाद "वामपन्थी" आतंकवाद के रूप में सामने आयी। लेकिन इन बातों को अहसास के गहरे धरातल पर जाकर समझने के लिए तेलंगाना किसान संघर्ष और उसके उत्तरवर्ती सत्रह वर्षों के पार्टी इतिहास की अति संक्षिप्त चर्चा यहाँ जरूरी है। नक्सलबाड़ी के ऐतिहासिक महत्त्व और उसकी ऐतिहासिक विफलता इन दोनों को ही समझने के लिए यह चर्चा जरूरी है।

नक्सलबाड़ी स्वातन्त्र्योत्तर भारत के इतिहास के एक ऐसे दौर में हुआ जब नेहरू की पूँजीवादी नीतियों के समाजवादी मुखौटे की असलियत उजागर हो चुकी थी। महँगाई और बेरोजगारी से त्रस्त आम लोग सड़कों पर उतर रहे थे। छात्र-युवा आन्दोलन, मजदूर आन्दोलन और महँगाई-विरोधी जनान्दोलनों का अविराम क्रम जारी था। पूँजीवादी संसदीय राजनीति के दायरे के भीतर इस व्यापक मोहभंग और जनाक्रोश की अभिव्यक्ति 1967 के आम चुनावों के बाद, पहली बार देश के नौ राज्यों में गैरकांग्रेसी सरकारों के गठन के रूप में सामने आयी। लेकिन अहम बात यह थी कि 1947 के बाद के वर्षों में और तेभागा-तेलंगाना-पुनप्रा-वायलार और नौसेना-विद्रोह के दिनों के बाद, पहली बार देशव्यापी स्तर पर जनसमुदाय में व्यवस्था-विरोधी भावनाएँ और क्रान्तिकारी परिवर्तन की आकांक्षाएँ उमड़-घुमड़ रही थीं जिन्हें दिशा और नेतृत्व देने वाली कोई क्रान्तिकारी शक्ति राजनीतिक रंगमंच पर मौजूद नहीं थी। स्मरणीय है कि यही वह समय था जब वियतनामी क्रान्ति अमेरिकी साम्राज्यवादी के विरुद्ध विजयोन्मुख थी और पूरी दुनिया में, यहाँ तक कि पश्चिमी देशों में भी छात्र-युवा, बुद्धिजीवी और मेहनतकश सड़कों पर उतरकर उसका समर्थन कर रहे थे। अफ्रीकी देशों में राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष एक के बाद एक जीतें हासिल कर रहे थे और लातिन अमेरिका में भी सैनिक जुण्टाओं के विरुद्ध प्रतिरोध संघर्ष उफान पर थे। फ्रांस में छात्र आन्दोलन और अमेरिका में अश्वेतों, स्त्रियों और युवाओं के आन्दोलनों तथा युद्ध-विरोध्धी आन्दोलन का अविराम सिलसिला जारी था। सोवियत संशोधनवाद के विरुद्ध चीन की कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा चलायी गयी 'महान बहस' के बाद, 1966 से चीन में महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति का तूफान शुरू हो चुका था, जो न केवल पूरी दुनिया के मेहनतकशों और कम्युनिस्ट कतारों को संशोधनवाद के विरुद्ध संघर्ष करने और क्रान्ति का मार्ग चुनने के लिए प्रेरित कर रहा था, बल्कि बड़े पैमाने पर युवाओं और बुद्धिजीवियों को भी माओ के विचारों और चीनी सांस्कृतिक क्रान्ति के युगान्तरकारी प्रयोग की ओर आकृष्ट कर रहा था। यह अन्तरराष्ट्रीय माहौल भारत की उन्नत चेतना वाली कम्युनिस्ट कतारों को और रैडिकल छात्रों-युवाओं-बुद्धिजीवियों को भी गहराई से प्रभावित और प्रेरित कर रहा था। इधर देश के भीतर, संशोधनवादी नेतृत्व से कम्युनिस्ट कतारों का मोहभंग निराशा से आगे बढ़कर आक्रोश और विद्रोह की भावना में परिणत होता जा रहा था। 1964 में भारत की कम्युनिस्ट पार्टी में विभाजन के बाद नेतृत्व के एक हिस्से को संशोधनवादी घोषित करते हुए दूसरे हिस्से ने जब भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) का गठन किया था तो रैडिकल कतारों का बहुलांश उसमें इस उम्मीद से शामिल हुआ था कि नयी पार्टी तेलंगाना की विरासत को आगे बढ़ाते हुए क्रान्तिकारी संघर्षों में उतरेगी, लेकिन जल्दी ही यह स्पष्ट होने लगा कि अपने तमाम भ्रामक रैडिकल तेवर के बावजूद माकपा के नेतृत्व भी अर्थवादी-संसदवादी सीमाओं का अतिक्रमण करने के लिए तैयार नहीं है। चीन की पार्टी द्वारा ख्रुश्चेवी संशोधनवाद के विरुद्ध संघर्ष ('महान बहस') के दस्तावेज भारत के कम्युनिस्ट बुद्धिजीवियों को जब मिले (टूट के कगार पर खड़ी भाकपा के डांगेपन्थी धड़े ने ही नहीं बल्कि बासवपुनैया-सुन्दरैया-नम्बूदरीपाद-रणदिवे धड़े ने भी इस पॉलिमिक्स को कतारों तक पहुँचाने की कोई कोशिश नहीं की, और उन्हें तब तक अँधेरे में रखा जब तक कि ये दस्तावेज अलग स्रोतों से कतारों तक नहीं पहुँच गये) और फिर इस बहस से भारत की कम्युनिस्ट कतारों के अग्रिम तत्व परिचित हुए, तो यहाँ भी संशोधनवाद के विरुद्ध निर्णायक संघर्ष के लिए एक नयी दिशा मिली। 1966 में चीन में महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के शुरू होते ही वहाँ पार्टी के भीतर के बुर्जुआ हेडक्वार्टर को ध्वस्त करने के माओ के आह्वान ने भारतीय कम्युनिस्ट कतारों को भी नेतृत्व पर काबिज संशोधनवादियों के विरुद्ध खुली बगावत की प्रेरणा दी।

भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के भीतर दो लाइनों का संघर्ष किसी न किसी रूप में तेलंगाना किसान संघर्ष के समय से ही जारी था। इसमें नेतृत्व का एक पक्ष संशोधनवादी विचलन का शिकार था और दूसरा पक्ष जो कतारों की क्रान्तिकारी आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करता था, वह भी विचारधारात्मक कमजोरी के कारण विसंगति, अनिर्णय और अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट नेतृत्व और बड़ी पार्टियों पर मार्गदर्शन के लिए निर्भरता की प्रवृत्ति का शिकार था। इसके परिणामास्वरूप, यह दूसरा पक्ष भी 1950 का दशक शुरू होते-होते संशोधनवादी पंककुण्ड में जा गिरा और दोनों पक्षों के बीच मतभेद का मुद्दा सिर्फ यह रह गया कि राष्ट्रीय जनवाद के नारे के तहत नेहरू सरकार के प्रति सहयोग का रास्ता अपनाया जाये या लोक जनवाद के नारे के तहत मुख्यतः संसदीय विपक्ष की भूमिका निभाते हुए कुछ रैडिकल जनान्दोलन भी चलाये जायें।

तेलंगाना किसान संघर्ष कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में चला पहला ऐसा सशस्त्र संघर्ष था जिसके परिणामस्वरूप 16000 वर्ग मील का क्षेत्र जिसमें तीन हजार गाँव शामिल थे मुक्त किया गया था और लगभग डेढ़ वर्षों तक इस क्षेत्र की सारी शासन-व्यवस्था किसानों की गाँव कमेटियों के हाथों में थी। कुल 4,000 किसान और पार्टी के छापामार इसमें शहीद हुए और दस हजार कम्युनिस्ट कार्यकर्ता तीन से चार वर्षों तक जेलों में बन्द रहे। इस दौरान कुल 30 लाख एकड़ जमीन किसानों में बाँटी गयी, बेदखली और बेगार प्रथा बन्द कर दी गयी और न्यूनतम मजदूरी लागू कर दी गयी।

फरवरी-मार्च 1948 में जब भाकपा की दूसरी कांग्रेस में

दक्षिणपन्थी पी.सी. जोशी को हटाकर बी.टी. रणदिवे को पार्टी महासचिव बनाया गया, उस समय तेलंगाना किसान संघर्ष सशस्त्र छापामार संघर्ष की मंजिल तक पहुँच चुका था। गौरतलब है तेलंगाना के प्रतिनिधियों के जोर देने के बाद ही दूसरी कांग्रेस की थीसिस में तेलंगाना संघर्ष के महत्त्व का उल्लेख करते हुए उसे समर्थन दिया गया और पूरे देश में ऐसे संघर्ष संगठित करने तथा मजदूर वर्ग से भी उनके समर्थन में आन्दोलन करने का आह्वान किया गया। लेकिन इस आह्वान के पीछे "वामपन्थी" अवसरवादी रणदिवे की यह सोच थी कि इससे पूरे देश में सशस्त्र आम विद्रोह की स्थिति पैदा हो जायेगी। रणदिवे ने युगोस्लाविया की टीटोपन्थी संशोधनवादी पार्टी के एक सिद्धान्तकार एडवर्ड कार्डेल्ज के विचार के आधार पर यह थीसिस पेश की कि जनवादी और समाजवादी क्रान्तियाँ एक साथ होनी चाहिए, और कम्युनिस्टों को न केवल बड़े बुर्जुआ को बल्कि सभी बुर्जुआओं को अपने हमले का निशाना बनाते हुए देशव्यापी आम हड़ताल और सशस्त्र विद्रोह का मार्ग अपनाना चाहिए। इस "वामपन्थी" दुस्साहसवाद ने भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन को जो क्षति पहुँचायी, वह इतिहास का एक तथ्य है। साथ ही, इस लाइन ने तेलंगाना संघर्ष के अग्रवर्ती विकास को भी रोकने का काम किया। मई, 1948 में आंध्र की पार्टी इकाई ने रणदिवे थीसिस का विरोध करते हुए अपनी यह लाइन रखी कि भारतीय क्रान्ति का चरित्र रूसी क्रान्ति से भिन्न है और यह चीन में जारी नवजनवादी क्रान्ति से काफी हद तक समानता रखती है, यहाँ चार वर्गों का संयुक्त मोर्चा बनाना होगा ओर दीर्घकालिक लोकयुद्ध का मार्ग अपनाना होगा। आंध्र थीसिस में माओ त्से-तुङ के नवजनवाद के सिद्धान्त को प्रासंगिक बताते हुए भारत में सर्वहारा क्रान्ति को दो अवस्थाओं में सम्पन्न करने की योजना प्रस्तुत की गयी। रणदिवे ने इस थीसिस का विरोध करते हुए माओ के विचारों का भी विरोध किया और उन्हें टीटो और अल-ब्राउडर की श्रेणी का संशोधनवादी तक कह डाला। दो वर्षों तक पार्टी पर रणदिवे-लाइन के वर्चस्व ने तेलंगाना संघर्ष को भारी क्षति पहुँचाई। देश के विभिन्न हिस्सों में किसान संघर्षों को तेलंगाना की राह पर आगे बढ़ाने और मजदूर वर्ग के संघर्षों को उनके साथ जोड़ने के बजाय "वामपन्थी" दुस्साहसवाद ने पार्टी को जन समुदाय से अलग-थलग कर दिया और कतारों की पहलकदमी को पंगु बना दिया गया। 1949 में चीनी क्रान्ति के बाद, 1950 में कोमिन्फॉर्म ने माओ के नवजनवाद के सिद्धान्त का समर्थन किया। सोवियत पार्टी के एक सिद्धान्तकार जुकोव ने उपनिवेशों और अर्द्धउपनिवेशों में चार वर्गों के संश्रय को अनिवार्य बताया और दूसरे सिद्धान्तकार बालाबुशेविच ने तेलंगाना सशस्त्र संघर्ष का समर्थन करते हुए उसे कृषि क्रान्ति का अग्रदूत और भारतीय जनता की लोक जनवादी सत्ता स्थापित करने का प्रथम प्रयास बताया। अन्तरराष्ट्रीय नेतृत्व से नयी दिशा मिलते ही भारत में भी रणदिवे की "वामपन्थी" अवसरवादी लाइन रातोंरात अलग-थलग पड़ गयी। मई-जून 1950 में राजेश्वर राव पार्टी के महासचिव बने और पार्टी ने आंध्र-थीसिस को आधिकारिक लाइन के तौर पर स्वीकार किया। लेकिन इस समय तक, पहले ही काफी देर हो चुकी थी। देशव्यापी स्तर पर संघर्ष के विस्तार की सम्भावनाओं का, गलत लाइन काफी हद तक गला घोंट चुकी थी और नयी बुर्जुआ सत्ता को अपने सुदृढ़ीकरण के लिए तीन वर्षों का कीमती समय मिल चुका था। चूँकि "वामपन्थी" अवसरवादी लाइन की पराजय पूरी पार्टी में चले दो लाइनों के अन्दरूनी संघर्ष की परिणति नहीं थी बल्कि कोमिन्फॉर्म और सोवियत पार्टी की अवस्थिति के हिसाब से चलने की प्रवृत्ति का नतीजा थी, इसलिए पार्टी कतारें सही-गलत के बारे में विभ्रमग्रस्त थीं। विभ्रम का यह सिलसिला पहले से ही चल रहा था और 1947 से तो लगातार जारी था। राष्ट्रीय-अन्तरराष्ट्रीय घटनाओं के प्रति गलत अवस्थिति अपनाने और फिर उन्हें आनन-फानन में उलट देने तथा पार्टी नेतृत्व में लगातार दो छोरों की विरोधी लाइनों की मौजूदगी के चलते कतारें निराश हो रही थीं। इसी समय भारतीय सेना ने हैदराबाद में प्रवेश किया। निजाम के आत्मसमर्पण के बाद, भारतीय सेना ने कम्युनिस्ट छापामार दस्तों के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। छोटे-छोटे छापामार दस्तों में बँटी जनता की सशस्त्र सेना का सामना अब उन्नत हथियारों से लैस 50-60 हजार संख्या वाली सेना से था। फिर भी बहुत कठिनाइयों और अभूतपूर्व दमन के बाद ही भारतीय सेना छापामार दस्तों को पीछे धकेल सकी। मलाया सरकार की ब्रिग्स योजना की ही तरह ऐसे गाँव बसाये गये जहाँ के निवासियों को सेना के नियन्त्रण में रहना था। जंगलों की दो हजार आदिवासी बस्तियों को नेस्तनाबूद कर दिया गया और लोगों को यातना शिविरों में रखा गया। छापामार गाँवों को छोड़कर निकटवर्ती जंगलों में चले गये और वहाँ भी सेना का दबाव बढ़ने पर दूरवर्ती जंगली क्षेत्रों में बिखर गये।

उल्लेखनीय है कि पार्टी के बम्बई मुख्यालय में हावी एस.ए. डांगे, घाटे और अजय घोष आदि का दक्षिणपन्थी धड़ा शुरू से ही आन्ध्र लाइन का विरोध कर रहा था। तेलंगाना में सेना-प्रवेश के बाद वहाँ भी रवि नारायण रेड्डी के नेतृत्व में कुछ लोग संघर्ष को वापस लेने के लिए दबाव बनाने लगे, हालाँकि आन्ध्र कमेटी का बड़ा हिस्सा फिर भी संग्राम को जारी रखना चाहता था। उसका मानना था कि फौरी तौर पर नुकसान के बावजूद, संघर्ष को जारी रखना और देश के अन्य अनुकूल परिस्थितियों वाले भूभागों में उसका फैलाव मुमकिन है। इस समय दक्षिणपन्थी धड़े का हाथ मजबूत करने में ब्रिटेन की कम्युनिस्ट पार्टी और उसके एक नेता रजनी पामदत्त ने विशेष भूमिका निभाई। दत्त का मानना था कि शीतयुद्ध की नयी विश्वपरिस्थितियों में भारत के कम्युनिस्टों को सशस्त्र संघर्ष के रास्ते को छोड़कर विश्व शान्ति आन्दोलन को मजबूत बनाने का काम करना चाहिए और साम्राज्यवादी शिविर से भारत सरकार के दूर रहने और समाजवादी खेमे से नजदीकी रिश्ता बनाने तथा कोरियाई जनयुद्ध का समर्थन करने के लिए नेहरू सरकार पर दबाव बनाना चाहिए। इसी विचार का विकसित रूप आगे चलकर भाकपा के दक्षिणपन्थी धड़े के राष्ट्रीय जनवादी मोर्चा की सोच और "प्रगतिशील" बुर्जुआ नेहरू सरकार के प्रति सहयोग-समर्थन की नीति के रूप में सामने आया। पार्टी के संशोधनवादियों ने आधिभौतिक निगमनात्मक पद्धति से अन्तरराष्ट्रीय अन्तरविरोधों के ही अनुसार राष्ट्रीय अन्तरविरोधों को भी देखने

तथा दोनों में विरोध होने पर अन्तरराष्ट्रीय अन्तरविरोधों के हिसाब से अपना कार्यभार तय करने का काम एक बार फिर किया। यह गलती द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान भी की गयी थी और उसके पहले भी की जाती रही थी। ब्रिटेन की कम्युनिस्ट पार्टी की राजनीतिक समिति ने भारतीय पार्टी को लिखे गये एक पत्र में अपने उपरोक्त सुझावों के साथ ही कानूनी कामों में लगने तथा डेढ़ वर्षों बाद होने वाले आगामी आम चुनाव पर जोर दिया और साथ ही नेतृत्व को बदलने की भी राय दी क्योंकि राजेश्वर राव के नेतृत्व वाली केन्द्रीय कमेटी जनवादी तरीके से नहीं चुनी गयी थी। इन परिस्थितियों ने पार्टी में दक्षिणपन्थी नेतृत्व के हाथ मजबूत करने का काम किया। 1 जुलाई, 1950 को राजेश्वर राव की जगह अजय घोष पार्टी के महासचिव बनाये गये।

पार्टी में मौजूद मतभेद, संकट और विभ्रम की स्थिति को दूर करने के लिए, एक बार फिर अन्तरराष्ट्रीय नेतृत्व पर भरोसा किया गया और चार सदस्यों का एक प्रतिनिधिमण्डल 1951 के प्रारम्भ में सोवियत पार्टी के नेतृत्व से बातचीत करने के लिए मास्को गया। इसमें दो राजेश्वर राव और बासवपुनैया तेलंगाना संघर्ष के नेता थे, जबकि अन्य दो अजय घोष और डांगे उसका विरोध कर रहे थे। सोवियत पार्टी की ओर से स्तालिन, मालेंकोव, मालरोव और सुस्लोव ने बातचीत की। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, इस बातचीत के बाद भारतीय प्रतिनिधिमण्डल भारत लौटा तो पहली बार भारत में जनवादी क्रान्ति के कार्यक्रम का एक मसौदा तैयार किया गया और एक नीति-विषयक वक्तव्य जारी किया गया। नीति-विषयक वक्तव्य रणकौशलात्मक लाइन के वृहद दस्तावेज का ही एक अंश था जिसे कानूनी तौर पर प्रकाशित किया गया। उपरोक्त दोनों दस्तावेजों में हालाँकि सशस्त्र संघर्ष का जिक्र नहीं था लेकिन रणकौशल-विषयक दस्तावेज में "अपरिपक्व विद्रोह और जोखिम भरी कार्रवाइयों से सावधान रहते हुए" किसानों के छापामार युद्ध के साथ ही मजदूरों की वर्गीय हड़तालों और संघर्ष के अन्य रूपों के इस्तेमाल की बात कही गयी थी। उसमें इस धारणा को भी गलत ठहराया गया था कि देश के किसी हिस्से में सशस्त्र विद्रोह तभी शुरू किया जा सकता है, जब पूरे देश में विद्रोह की स्थिति तैयार हो। दस्तावेज के अनुसार, किसी एक बड़े भूभाग में किसान संघर्ष के जमीन-जब्ती के स्तर पर पहुँचने के बाद, व्यापक जनान्दोलन और छापामार युद्ध यदि ठीक तरह से संगठित हों तो देश भर के किसानों को उद्वेलित करके संघर्ष को उच्च धरातल पर पहुँचा देना सम्भव है।

किसान-संघर्ष के बारे में सोवियत पार्टी के आम सुझाव सही थे, पर तेलंगाना संघर्ष के बारे में ठोस निर्णय भारतीय पार्टी के नेतृत्व को लेना था, जिस पर दक्षिणपन्थी अवसरवादी हावी हो चुके थे। केन्द्रीय कमेटी ने आन्ध्र की कमेटी को संघर्ष केवल तब तक जारी रखने को कहा जब तक पार्टी सरकार से उसे स्थगित करने की शर्तों पर बातचीत पूरी न कर ले। इन शर्तों में किसानों के कब्जे की जमीन जमीन्दारों को वापस न करना, कैदियों की रिहाई, मुकदमे वापस लेना और पार्टी से प्रतिबन्ध हटाना प्रमुख थीं। लेकिन केन्द्रीय कमेटी के इस निर्णय के विपरीत अजय घोष के नेतृत्व वाले दक्षिणपन्थी धड़े और आन्ध्र के रवि नारायण रेड्डी गुट ने बिना शर्त संघर्ष वापसी के लिए दबाव बनाना शुरू किया। पार्टी की इस स्थिति का लाभ उठाकर नेहरू सरकार ने किसी भी शर्त को मानने और बातचीत करने से इन्कार कर दिया। मई, 1951 तक केन्द्रीय कमेटी में आन्ध्र के सदस्य भी मान चुके थे कि अब आंशिक छापामार संघर्ष भी जारी रख पाना सम्भव नहीं है। अक्टूबर, 1951 में पार्टी ने बिना किसी शर्त, निहायत घुटनाटेकू ढंग से संघर्ष वापस लेने की घोषणा कर दी। जंगल के छापामार नेताओं को इसकी ख़बर बाद में लगी। पार्टी अब पूरी तरह से संसदीय राह पर चल पड़ी। दक्षिणपन्थी धड़े के सामने उसके विरोधियों ने आत्मसमर्पण कर दिया और कतारों में भारी पस्ती का माहौल फैल गया।

आज पश्चदृष्टि से देखने पर कहा जा सकता है कि तेलंगाना संघष की तत्कालीन पराजय कई कारणों से उस समय लगभग तय हो चुकी थी। इसका सर्वोपरि कारण यह था कि पार्टी बोल्शेविक ढंग से एकीकृत नहीं थी और उसमें ऊपर से नीचे तक "वाम" और दक्षिण के धड़े मौजूद थे, इसलिए वह भारतीय क्रान्ति को नेतृत्व देने में अक्षम थी। 1946 से 1951 के बीच पहले पी.सी. जोशी काल के दक्षिणपन्थी भटकाव ने, फिर रणदिवे काल के "वामपन्थी" भटकाव ने और फिर अजय घोष काल के दक्षिणपन्थी भटकाव ने पूरे देश स्तर पर और तेलंगाना के स्तर पर पार्टी के कार्यों को काफी नुकसान पहुँचाया था। यह एक ऐसा संक्रमण-काल था, जब नयी सत्ता के सुदृढ़ीकरण की प्रक्रिया अभी पूरी नहीं हुई थीं लेकिन नौसेना-विद्रोह, तेभागा-तेलंगाना-पुनप्रा वायलार के किसान संघर्षों और देशव्यापी मजदूर आन्दोलनों को एक कड़ी में पिरोकर जनक्रान्ति की धारा को आगे बढ़ाने में पार्टी-नेतृत्व नाकाम रहा। यदि यह प्रक्रिया आगे बढ़ती तो कांग्रेस की समझौतापरस्ती का पहलू और नंगा होकर सामने आता और पार्टी के नेतृत्व में यदि जनवादी क्रान्ति जल्दी पूरी नहीं भी होती तो या तो दीर्घकालिक लोकयुद्ध मजबूत आधार पर, आगे की मंजिलों में प्रविष्ट हो गया होता या जनसंघर्षों के दबाव में नेहरू सरकार भूमि क्रान्ति के कार्यभारों को हालाँकि प्रशियाई मार्ग से ही सही और ऊपर से ही सही लेकिन तेजी के साथ पूरा करने को विवश हो जाती और तेज पूँजीवादी विकास के साथ भारत जल्दी ही समाजवादी क्रान्ति की मंजिल में प्रविष्ट हो जाता। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। 1951 तक, पार्टी-नेतृत्व में मतभेद के चलते तेलंगाना संघर्ष को इतना नुकसान पहुँच चुका था कि कम से कम, फौरी तौर पर उसकी पराजय सुनिश्चित हो चुकी थी। फिर भी, उस समय यदि नेतृत्व पर दक्षिणपन्थी धड़ा काबिज नहीं होता और पूरी तरह से आत्मसमर्पण करने के बजाय, फौरी तौर पर पीछे हटने और अपनी सैन्य शक्ति को दुर्गम जंगल क्षेत्रों में बिखरा देने के बाद, नये सिरे से उस क्षेत्र में तथा देश के अन्य ऐसे भूभागों में किसान-संघर्ष संगठित किये जाते, तो स्थिति को सँभालकर फिर से आगे बढ़ने का अवसर मिल जाता। इस तथ्य की भी अनदेखी नहीं की जा सकती कि राजेश्वर राव के नेतृत्व में जिस धड़े ने तेलंगाना में सही लाइन ली थी, वह भी विचारधारात्मक रूप से कमजोर था। इसके चलते, कुछ समय तक केन्द्रीय कमेटी में प्रभावी होने के दौर में भी वह अपनी

लाइन का देशव्यापी स्तर पर सुदृढ़ीकरण नहीं कर सका, विरोधी लाइन के विरुद्ध निर्णायक संघर्ष के बजाय उसने समझौता करने का रुख अपनाया और अन्ततः घुटने टेक दिये। इस बुनियादी तथ्य की भी अनदेखी नहीं की जा सकती कि 1951 तक भारत की पार्टी के पास न तो जनवादी क्रान्ति का कोई सुसंगत कार्यक्रम था, न ही कोई भूमि-क्रान्ति का कार्यक्रम (एग्रेरियन प्रोग्राम)। 1951 में सोवियत पार्टी की राय से, जब कार्यक्रम और रणकौशलात्मक लाइन के दस्तावेज तैयार हुए तब तक नेतृत्व पर दक्षिणपन्थी काबिज हो चुके थे, पार्टी संशोधनवाद की राह पर आगे बढ़ चुकी थी और तेलंगाना संघर्ष की पराजय तय हो चुकी थी। एक और महत्त्वपूर्ण बात यह है कि चीनी क्रान्ति जैसे दीर्घकालिक लोकयुद्ध के मार्ग का पक्षधर धड़ा, अपनी सही अवस्थिति के बावजूद, यदि स्थितियाँ उसके अनुकूल होतीं, तब भी संघर्ष को किस हद तक आगे ले जा पाता, यह संदिग्ध है, क्योंकि विचारधारात्मक रूप से यह धड़ा भी काफी अपरिपक्व था और भारतीय परिस्थितियाँ हूबहू चीन जैसी नहीं थी। क्रान्ति पूर्व अर्द्धऔपनिवेशिक चीन एक प्राक्औपनिवेशिक मंजिल में था, जबकि 1947 के बाद का भारत विऔपनिवेशीकरण की प्रक्रिया अभी पूरी नहीं हो पाने के बावजूद एक उत्तर औपनिवेशिक समाज था, जिसकी एक केन्द्रीकृत राज्यसत्ता थी, जो एक ऐसे औद्योगिक पूँजीपति वर्ग के हाथों में थी, जो चीन जैसा दलाल पूँजीपति वर्ग नहीं था। अपनी इस प्रकृति के चलते आगे चलकर राष्ट्रीय बाजार के निर्माण के लिए, प्रशियाई मार्ग से सामन्ती भूमि-सम्बन्धों के क्रमिक पूँजीवादी रूपान्तरण का मार्ग अपनाना और साम्राज्यवादियों का कनिष्ठ साझीदार होते हुए भी अन्तर-साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा का लाभ उठाकर अपने आर्थिक विकल्पों का विस्तार करना इसके लिए अपरिहार्य था। भारतीय पूँजीपति वर्ग के इस चरित्र की ओर सबसे पहले इतिहासकार डी.डी. कोसम्बी ने इंगित किया था। इस मायने में 1951 का कार्यक्रम वर्ग-सम्बन्धों की दृष्टि से तत्कालीन समय में क्रान्ति की मंजिल और मार्ग का तो ठीक निर्धारण कर रहा था लेकिन भारतीय पूँजीपति वर्ग और राज्यसत्ता के चरित्र के मूल्यांकन में सटीकता और स्पष्टता की कमी के चलते वह भारतीय समाज के विकास की दिशा के बारे में कुछ नहीं कहता था। वह इस बात को स्पष्ट नहीं करता था कि सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति यदि सम्पन्न नहीं होती, तो भारतीय पूँजीपति वर्ग गैरक्रान्तिकारी रास्ते से, ऊपर से क्रमशः भूमि सम्बन्धों को बदलने का काम करता ही, क्योंकि यह उसके वर्गहित का तकाजा था। वह इस बात को भी स्पष्ट नहीं करता था कि एक केन्द्रीकृत राज्यसत्ता और सापेक्षतः अधिक पूँजीवादी विकास के कारण, 1947-51 के दौरान राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति की मंजिल होते हुए भी, दीर्घकालिक लोकयुद्ध के चीनी रास्ते को हूबहू यहाँ लागू कर पाना सम्भव नहीं था। उस समय चीनी पार्टी ने भी आगाह किया था कि हर उपनिवेश-अर्द्धउपनिवेश-नवउपनिवेश में छापामार किसान संघर्ष के चीनी अनुभव को आँख मूँदकर दुहराया नहीं जा सकता। इन जटिल, तरल संक्रमणकालीन स्थितियों में, यदि सब कुछ तेलंगाना में सही लाइन लागू करने वाले धड़े के अनुकूल होता, तो भी यह कह पाना मुश्किल है कि अपनी विचारधारात्मक कमजोरी के कारण, वह संघर्ष को कहाँ तक आगे ले जा पाता और चीनी क्रान्ति के मार्ग के अन्धानुकरण की प्रवृत्ति से बच पाता भी या नहीं। भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के उत्तरवर्ती दौर का इतिहास तो यही बताता है कि ऐसा बहुत मुश्किल होता।

बहरहाल, इतिहास में जो घटित हुआ, वह यह कि पार्टी 1951 में ही शान्तिपूर्ण संविधानवाद का रास्ता अपना चुकी थी और मुख्यतः और मूलतः मेंशेविक और काउत्स्कीपन्थी यूरोपीय पार्टियों के साँचे में ढल चुकी थी। 1951 से लेकर 1962-63 तक इसमें दो लाइनों का संघर्ष वस्तुतः संसदवाद-अर्थवाद की नरम धारा और रैडिकल धारा के बीच संघर्ष के रूप में ही मौजूद रहा। कतारों का बड़ा हिस्सा क्रान्तिकारी आकांक्षाओं और चरित्र वाला था। (हालाँकि सुधारवादी तत्वों की नयी भरती लगातार जारी थी), लेकिन अपनी विचारधारात्मक कमजोरी के कारण वह नेतृत्व के रैडिकल संशोधनवादी धड़े को ही क्रान्तिकारी मानता था। जो नरमपन्थी उदारवादी धड़ा था, उसका नेतृत्व डांगे, मोहित सेन, भवानी सेन, भूपेश गुप्त, दामोदरन, जी. अधिकारी आदि के हाथों में था और मध्यमार्गी अजय घोष भी मूलतः उन्हीं के साथ थे। दूसरे धड़े का नेतृत्व सुन्दरैया, गोपालन, बासवपुनैया, प्रमोद दासगुप्ता आदि के हाथों में था। पहले धड़े की राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति की थीसिस यह थी कि नेहरू के नेतृत्व में कांग्रेस में मौजूद धड़ा प्रगतिशील राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति की थीसिस यह थी कि नेहरू के नेतृत्व में कांग्रेस में मौजूद धड़ा प्रगतिशील राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग का प्रतिनिधि है और नेहरू सरकार विऔपनिवेशीकरण और भूमि-सुधारों के राष्ट्रीय जनवादी कार्यभारों को अंजाम दे रही है, इसलिए भारत की कम्युनिस्ट पार्टी को उसके प्रति मुख्यतः सहयोग का रुख अपनाना चाहिए। साथ ही, यह सरकार समाजवादी शिविर के प्रति भी दोस्ताना रुख रखती है। इसे मजबूत बनाने के लिए और साथ ही विश्व शान्ति आन्दोलन को मजबूत बनाकर शीतयुद्ध का प्रतिकार करने के लिए नेहरू सरकार के प्रति सहयोगी रुख अपनाना जरूरी है। दूसरी ओर रैडिकल संशोधनवादी धड़े का यह मानना था कि भारत में राज्यसत्ता का बड़ा साझीदार बड़ा पूँजीपति वर्ग है जो साम्राज्यवाद के साथ समझौते कर रहा है और राष्ट्रीय जनवादी कार्यभारों को कत्तई पूरा नहीं करना चाहता। इसके विरुद्ध चार वर्गों के रणनीतिक संश्रय के आधार पर लोक जनवादी क्रान्ति के लिए संघर्ष करना होगा, जिसका केन्द्रीय तत्व भूमि क्रान्ति होगा। ऊपरी तौर पर देखने पर यह कार्यक्रम क्रान्तिकारी लगता था, लेकिन वास्तविकता यह थी कि क्रान्तिकारी किसान संघर्ष को पुनस्संगठित करके तेलंगाना किसान-संघर्ष की परम्परा को आगे बढ़ाने की कोई ठोस कार्य-योजना इसके वाहक धड़े ने कभी प्रस्तुत नहीं की। जगह-जगह भूमिहीनों के बीच गैरमजरुआ, पंचायती व सीलिंग से निकली जमीन बाँटने, सरकार पर भूमि-सुधारों की गति तेज करने के लिए दबाव बनाने, न्यूनतम मजदूरी जैसी माँगों पर संघर्ष करने, संसद में नेहरू की नीतियों के ख़िलाफ रैडिकल भाषण देने और औद्योगिक मजदूरों की बोनस, वेतनवृद्धि व अन्य सुविधाओं को लेकर आन्दोलन संगठित करने के अतिरिक्त लोक जनवादी क्रान्ति का कार्यक्रम देने वाले

धड़े ने और कुछ भी नहीं किया। [यहाँ यह उल्लेख भी कर दिया जाना चाहिए कि 1955-56 के दौरान अजय घोष, नम्बूदिरिपाद, डांगे, जगन्नाथ सरकार, बालकृष्ण मेनन आदि कुछ लोग इस तरीके की बात कर रहे थे कि भारतीय सत्तारूढ़ बुर्जुआ भी बिस्मार्ककालीन प्रशा की तरह, ऊपर से, भूस्वामित्व ढाँचे का क्रमिक पूँजीवादी रूपान्तरण कर रहा है, लेकिन फिर वे इस मसले पर कायराना और अवसरवादी ढंग से चुप्पी साध गये। यूँ तो एक संशोधनवादी पार्टी के लिए कार्यक्रम के सही-गलत होने का कोई मतलब नहीं होता, लेकिन यह जरूर है कि भूमि सम्बन्धों के रूपान्तरण से जुड़े पक्षों पर उस समय यदि बहस चली होती तो नक्सलबाड़ी के बाद, कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के बीच भी यह मुद्दा बहस के एजेण्डे पर आसानी से आ जाता। लेकिन ऐसा नहीं हुआ।] कहा जा सकता है कि पहला धड़ा जहाँ एकदम सामाजिक जनवादी आचरण करते हुए पार्टी को बुर्जुआ वर्ग की गोद में बैठा देना चाहता था, वहीं दूसरा धड़ा रैडिकल अर्थवादी-ट्रेडयूनियनवादी-संसदवादी विरोध की कार्रवाइयाँ चलाते हुए एक जिम्मेदार संसदीय विपक्ष, व्यवस्था के भीतर सक्रिय एक 'प्रेशर ब्लॉक' और व्यवस्था की दूसरी सुरक्षा-पंक्ति की भूमिका निभाना चाहता था। लेकिन इस धड़े के संशोधनवादी चरित्र को इस तथ्य से समझा जा सकता है कि संसदीय और आर्थिक संघर्षों के अतिरिक्त इसने 1951 से 1964 तक किसानों के क्रान्तिकारी भूमि संघर्ष को आगे बढ़ाने के लिए तथा मजदूर वर्ग के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक प्रचार एवं राजनीतिक संघर्ष संगठित करने के लिए कुछ भी नहीं किया। पूरी पार्टी के कानूनी बना दिये जाने और चवन्नियाँ सदस्यता सहित सभी मेंशेविक ढंग-ढर्रों को अपना लेने पर इस धड़े ने कभी कोई सवाल नहीं उठाया। 1958 में हुई पार्टी की पाँचवीं (विशेष) कांग्रेस (अमृतसर) में जब सोवियत पार्टी की बीसवीं कांग्रेस में स्वीकृत ख्रुश्चेवी संशोधनवादी नीतियों को अपनाया गया और पार्टी संविधान की प्रस्तावना से 'क्रान्तिकारी हिंसा' शब्दावली को हटा दिया गया तो एक भी प्रतिनिधि ने इसका विरोध नहीं किया। नक्सलबाड़ी किसान-उभार से जन्मी कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी धारा के भी नेतृत्व की विचारधारात्मक कमजोरी को समझने के लिए यहीं पर यह उल्लेख भी जरूरी है कि इस कांग्रेस में भावी मा-ले नेतृत्व के कई लोग भी प्रतिनिधि के रूप में मौजूद थे। उनमें डी.वी. राव (केन्द्रीय कमेटी के सदस्य भी थे) और नागी रेड्डी तो राष्ट्रीय स्तर के नेता माने जाते थे जबकि कई अन्य राज्य स्तर के नेता थे। छठी कांग्रेस (विजयवाड़ा, 1961) में दो परस्पर-विरोधी कार्यक्रम के मसौदों पर अवश्य गम्भीर मतभेद सामने आया, लेकिन सोवियत प्रतिनिधिमण्डल के ख्रुश्चेवपन्थियों के बीच-बचाव से फूट को टाल दिया गया। उल्लेखनीय है कि 1956-61 के दौरान ख्रुश्चेवी संशोधनवाद का विरोध परोक्ष रूप से करते हुए चीन की पार्टी स्तालिन और सर्वहारा क्रान्ति के मार्क्सवादी-लेनिनवादी उसूलों के पक्ष में सकारात्मक तौर पर अपने मुखपत्रों में लिख रही थी, लेकिन संशोधनवाद पर खुला हमला बोलने की जगह वह पार्टी-स्तर पर बातचीत के जरिये मतभेदों को हल करने की कोशिश कर रही थी। उसे उम्मीद थी कि पूरी सोवियत पार्टी शायद ख्रुश्चेव के साथ न हो और बातचीत करके सोवियत पार्टी को सही रास्ते पर लाया जा सकता है तथा विश्व कम्युनिस्ट आन्दोलन को फूट से बचाया जा सकता है। इसी प्रक्रिया में 1957 और 1960 के अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट सम्मेलनों द्वारा पारित दस्तावेजों में चीन की पार्टी ने अपनी अवस्थिति दर्ज कराने के बावजूद समझौते भी किये। इन विचारधारात्मक समझौतों के चलते इन दस्तावेजों में कई संशोधनवादी प्रस्थापनाएँ शामिल हो गयी थीं, जिनका पूरा लाभ पूरी दुनिया की पार्टियों के संशोधनवादियों ने उठाया। चीन की पार्टी की उम्मीदों का इतिहास के अनुभव समर्थन नहीं करते थे और उसका आचरण सुधारवाद और संशोधनवाद के विरुद्ध तत्क्षण संघर्ष छेड़ देने के मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन के आचरण से मेल नहीं खाता था। संशोधनवाद के विरुद्ध खुले संघर्ष में चीन की पार्टी द्वारा किये गये अनावश्यक विलम्ब से पूरी दुनिया के कम्युनिस्ट आन्दोलन में संशोधनवादियों को लाभ मिला। कतारों को दिग्भ्रमित करने और अपना सुदृढ़ीकरण करने में उन्होंने इस अन्तराल का भरपूर लाभ उठाया। भारत के कम्युनिस्ट नेतृत्व को तो दुनिया की किसी बड़ी पार्टी या मान्य अन्तरराष्ट्रीय नेतृत्व से दिशा पाये बिना सोचने की आदत ही नहीं थी। ऐसे में, पाँचवीं और छठी कांग्रेस में ख्रुश्चेवी संशोधनवाद पर सवाल उठाने का भला सवाल ही कहाँ उठता है? कतारों की क्रान्तिकारी स्पिरिट भी 1951 के बाद से लगातार क्षरित हो रही थी। अब स्तालिन की आलोचना और संसदीय मार्ग की स्वीकृति ने उनमें और अधिक पस्ती और निराशा पैदा करने का काम किया।

1962 में भारत के चीन युद्ध के समय डांगेपन्थी धड़े ने अपनी वर्ग-सहयोगी लाइन की तार्किक परिणति के तौर पर अन्धराष्ट्रवादी अवस्थिति अपनायी और चीन को हमलावर मानते हुए नेहरू सरकार की सीमानीति को पुरजोर समर्थन दिया। उस समय चीन पश्चिमी शक्तियों की घेरेबन्दी और कुत्साप्रचार के घटाटोप का शिकार था, फिर भी पश्चिमी मीडिया और पश्चिमी बुद्धिजीवियों का बहुलांश भारत-चीन सीमा विवाद में अमेरिका व अन्य पश्चिमी देशों की शह और अपनी क्षेत्रीय विस्तारवादी महत्त्वाकांक्षा के चलते उकसावे और हमले की कार्रवाई के लिए भारत को ही जिम्मेदार मानता था। कई पुस्तकों में इन तथ्यों की सविस्तार चर्चा मिलती है जिसमें अमेरिकी पत्रकार नेविल मैक्सवेल की पुस्तक सर्वाधिक प्रसिद्ध है। भारत में भी पुराने क्रान्तिकारी पं. सुन्दरलाल सहित कई लोग नेहरू की विस्तारवादी नीतियों और हमले की कार्रवाई के कटु आलोचक थे और तथ्यों को सामने लाने वाली कई पुस्तकें व लेख यहाँ भी लिखे गये लेकिन अन्धराष्ट्रवादी प्रचार की लहर में वे व्यापक जनता तक नहीं पहुँच सके। भारत की कम्युनिस्ट कतारें सीमा-विवाद सम्बन्धी इस सारी सामग्री से परिचित नहीं थीं, लेकिन अपने सहज वर्ग-बोध से समाजवादी चीन को विस्तारवादी और हमलावर मानने को वे तैयार नहीं थी और भारतीय बुर्जुआ सत्ता के प्रतिक्रियावादी तथा विस्तारवादी चरित्र को भी वे भली-भाँति समझती थीं। भारी अन्धराष्ट्रवादी लहर का मुकाबला करते हुए भारत की कम्युनिस्ट कतारों के बड़े हिस्से ने नेहरू सरकार की हमलावर विस्तारवादी सीमा-नीति का विरोध किया। पार्टी-नेतृत्व के भीतर डांगेपन्थियों का विरोधी जो दूसरा धड़ा था (जो कि अल्पमत में था),

उसने डांगेपन्थियों के बहुमत द्वारा ली गयी लाइन को मार्क्सवाद-विरोधी और बुर्जुआ राष्ट्रवाद के अवसरवादी सिद्धान्त पर आधारित घोषित किया। लेकिन आने वाले समय की घटनाओं ने सिद्ध किया कि ऐसा सर्वहारा अन्तरराष्ट्रीयतावाद के प्रति प्रतिबद्धता के चलते नहीं, बल्कि क्रान्तिकारी कतारों को अपने पक्ष में करने के लिए किया गया था। चीनी "हमले" के मिथक के पीछे की सच्चाइयों को साहसपूर्वक उजागर करने और अन्धराष्ट्रवाद- विरोधी प्रचार का कोई कार्यक्रम हाथ में लेने के बजाय, इस दूसरे धड़े की ओर से राममूर्ति ने पार्टी की राष्ट्रीय परिषद में एक वैकल्पिक प्रस्ताव पेश किया जिसमें सिर्फ इतना ही कहा गया था कि चीन और भारत दो महान पड़ोसी देश हैं, उन्हें आपसी युद्ध में नहीं उलझना चाहिए क्योंकि इससे दोनों देशों को तबाही-बर्बादी का सामना करना पड़ेगा। लेकिन इस कायराना जोड़तोड़ के बावजूद वे बच नहीं सके। भारत सरकार ने उनमें से अधिकांश को, डांगे द्वारा दी गयी सूची के आधार पर, गिरफ़्तार करके जेल भेज दिया।

1963 के उत्तरार्द्ध से, 'क्रान्ति या शान्तिपूर्ण संक्रमण?' के बुनियादी विचारधारात्मक प्रश्न पर, भारत के कम्युनिस्ट आन्दोलन में शायद पहली बार अभूतपूर्व आयामों वाली एक ऐसी बहस की शुरुआत हुई जिसने समूची पार्टी कतारों को अपनी जद में ले लिया। 1957 से 1962 के बीच सोवियत पार्टी और चीनी पार्टी का जो भी साहित्य भारत की कम्युनिस्ट कतारों के एक हिस्से तक पहुँच पा रहा था, उससे यह बात तो स्पष्ट हो ही चुकी थी कि चीन की पार्टी न केवल तोग्लियाती और टीटो के संशोधनवाद का विरोध करती है, बल्कि वह ख्रुश्चेव के तीन "शान्तिपूर्णों" के सिद्धान्त और उसके द्वारा प्रस्तुत स्तालिन की आलोचना को भी स्वीकार नहीं करती है। लेकिन पूरे देश की व्यापक कतारों तक सोवियत लेखन की ही पहुँच थी। चीनी पार्टी का साहित्य ज़्यादातर कुछ महानगरों के मार्क्सवादी बुद्धिजीवियों और प्रबुद्ध कतारों तक ही पहुँच पाता था। पार्टी नेतृत्व अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के बीच जारी मतभेदों से परिचित था, लेकिन उसके दूसरे धड़े ने भी कभी चीनी पार्टी की अवस्थिति को कतारों तक पहुँचाने की कोई कोशिश नहीं की। जून, 1963 में चीनी पार्टी ने पहली बार बहस को खुला करते हुए ख्रुश्चेवी लाइन के विरुद्ध विश्व कम्युनिस्ट आन्दोलन की वैकल्पिक आम दिशा का दस्तावेज प्रस्तुत किया। इसके बाद सितम्बर 1963 से लेकर जुलाई 1964 के बीच क्रमशः नौ निबन्धों के जरिये चीनी पार्टी ने ख्रुश्चोवी नकली कम्युनिज़्म को पूरी तरह बेनकाब करते हुए सोवियत पार्टी को पूँजीवादी रास्ते का राही घोषित किया। यही बहस अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के इतिहास में 'महान बहस' नाम से प्रसिद्ध हुई। उस समय आधिकारिक पार्टी-लाइन का विरोध करने वाले धड़े का बड़ा हिस्सा जेल में था। जो लोग बाहर थे, उन्होंने 'महान बहस' के दस्तावेजों को पार्टी-कतारों तक पहुँचाने के लिए कुछ भी नहीं किया। ये दस्तावेज मुख्यतः बुद्धिजीवियों के बीच से पार्टी कतारों तक पहुँचे और फिर बात तेजी से फैली। अब पहलकदमी पूरी तरह से कतारों के हाथ में थी। जुझारू कतारों के बड़े हिस्से ने चीनी अवस्थिति का समर्थन किया। उसे यह समझते देर नहीं लगी कि चीनी "हमले" के दुष्प्रचार और अन्धराष्ट्रवादी लहर का निशाना दरअसल चीनी पार्टी की क्रान्तिकारी लाइन है, इसलिए कतारों ने अन्धराष्ट्रवाद के विरुद्ध साहसिक प्रचार-कार्य पूरी तरह से अपनी स्वतन्त्र पहल पर करना शुरू किया। यह मुहिम बंगाल में सर्वाधिक सशक्त थी। कलकत्ता के शहीद मैदान में एक भारी रैली हुई और फिर सड़कों पर जुलूस निकाला गया। जिसका प्रमुख नारा था : 'चीन का हौवा खड़ा करने वाले साम्राज्यवाद के एजेण्ट हैं।' पूरी स्थिति को इस तथ्य से समझा जा सकता है कि पार्टी का बांगला मुखपत्र 'स्वाधीनता' नेतृत्व के आधिकारिक पार्टी-लाइन विरोधी गुट के नियन्त्रण में होने के बावजूद इस पूरे मसले पर चुप्पी साधे हुए था। दूसरी ओर, पार्टी कतारों की पहल पर शुरू हुआ नया साप्ताहिक 'देशहितैषी' और नया मासिक 'नन्दन' इस पूरे प्रश्न पर जुझारू मुखरता के साथ स्टैण्ड लेकर लिख रहे थे और संशोधनवाद पर चोट कर रहे थे।

आधिकारिक पार्टी-लाइन विरोधी पक्ष के नेतागण जब जेलों से बाहर आये तो स्थितियाँ उन्हें अपनी समझ और नियन्त्रण की सीमा से परे प्रतीत हुईं। जेल जाने से पहले वे चीनी लाइन के साथ जोड़कर देखे जाते थे, हालाँकि वे स्वयं ऐसा नहीं कहते थे। जेल में उनके भीतर भी मतभेद पैदा हो गये थे। कुछ उदारपन्थियों का कहना था कि सोवियत और चीनी पार्टी दोनों की अवस्थितियाँ गलत हैं जबकि उनके विरोधियों का कहना था कि चीनी अवस्थिति मुख्यतः सही है। आधिकारिक लाइन विरोधी नेतृत्व का एक छोटा-सा हिस्सा जो बंगाल में गिरफ़्तारी से बच गया था और भूमिगत होकर पार्टी की राज्य कमेटी के रूप में काम कर रहा था, उसने 'पृथ्वीराज' छद्मनाम से एक दस्तावेज निकाला था जिसमें यह स्पष्ट कहा गया था कि अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन में मतभेद मार्क्सवाद के बुनियादी उसूलों पर हैं। लेकिन यह कहने के बावजूद, 'पृथ्वीराज' इकाई के एक सदस्य समर मुखर्जी ने स्पष्ट कर दिया था कि वे फूट के लिए अपनी ओर से कोई पहल नहीं करेंगे। जेल से बाहर आये नेताओं की भी यही सोच थी, लेकिन उन्होंने महसूस किया कि कतारों में यह भावना प्रचण्ड रूप में मौजूद है कि पार्टी नेतृत्व पर हावी डांगेपन्थियों के बहुमत के साथ सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया जाना चाहिए। ऐसी स्थिति में विचारधारात्मक मुद्दे से कतारों का ध्यान हटाने के लिए आधिकारिक पार्टी-लाइन विरोधी धड़े ने राष्ट्रीय अभिलेखागार से डांगे का वह पत्र निकलवाकर खूब जोर-शोर से कतारों में बाँटना शुरू कर दिया, जो उसने ब्रिटिश सत्ता को जेल से माफीनामे के तौर पर भेजा था। लेकिन यह जुगत काम न आयी। विचारधारात्मक संघर्ष और तीखा हो गया और इन नेताओं के सामने इसके अतिरिक्त और कोई विकल्प शेष नहीं बचा कि वे एक नयी पार्टी के गठन की दिशा में आगे कदम बढ़ायें। इस उद्देश्य से तेनाली (आन्ध्र प्रदेश) में एक कन्वेंशन बुलाया गया। लेकिन नेताओं के इस धड़े की नीयत और चरित्र को इस बात से समझा जा सकता है कि इस कन्वेंशन के ऐन पहले ज्योति बसु समझौते का एक प्रस्ताव लेकर भूपेश गुप्त और राजेश्वर राव से मिलने उड़कर दिल्ली पहुँचे। उनकी शर्त थी कि यदि अगली पार्टी कांग्रेस 1962 की सदस्यता के आधार पर हो और यदि डांगे को

पार्टी-चेयरमैन पद से हटा दिया जाये, तो नयी पार्टी बनाने का विचार छोड़ा जा सकता है। इन तथ्यों से स्पष्ट है कि ऐसे नेतृत्व के लिए, फूट का मुद्दा विचारधारात्मक-राजनीतिक नहीं था, बल्कि संसदीय राजनीति के दायरे में ही अधिक नरम या अधिक गरम नीतियों-रणनीतियों को लेकर था। 'पृथ्वीराज दस्तावेज' में सोवियत व चीनी पार्टी के बीच के मतभेदों को विचारधारात्मक बताते हुए चीनी अवस्थिति का स्पष्ट समर्थन किया गया था जबकि राष्ट्रीय परिषद में हावी डांगेपन्थियों ने यह प्रस्ताव पारित करवाया था कि चीनी आक्रमणकारी है। इन दोनों लाइनों के एक ही पार्टी में सहअस्तित्व की बात सोचने वाले लोग परले दरजे के अवसरवादी ही हो सकते थे।

ऐसे अवसरवादी नेतृत्व के प्रति रैडिकल कतारें शुरू से ही सशंकित थीं, फिर भी उन्हें यही लगा कि डांगेपन्थियों से अलग होने के बाद इस नये नेतृत्व के ढुलमुलपन पर दबाव बनाकर नयी पार्टी को रास्ते पर लाया जा सकता है। कतारों को तब और आश्चर्य हुआ था जब, जिस नेतृत्व से एक क्रान्तिकारी लाइन लागू करने की अपेक्षा थी, वह दमनकारी राज्य मशीनरी की भरपूर सक्रियता के समय खुले तौर पर एक कांग्रेस के लिए एकत्र हुआ और फिर वही हुआ जो होना था। आधिकारिक-लाइन विरोधी सभी अग्रणी नेताओं को शान्तिपूर्वक उठाकर जेल में डाल दिया गया। जब अन्धराष्ट्रवादी लहर के ख़िलाफ रैडिकल कतारें सड़कों पर थीं, उस समय नेतृत्व के इस धड़े को जेल शायद अधिक महफ़ूज जगह लगी। कतारों की इस नये नेतृत्व के प्रति शंकाओं को तब और अधिक बल मिला जब नयी पार्टी (माकपा) के गठन के लिए प्रस्तावित कांग्रेस के लिए इसने मसौदा पार्टी कार्यक्रम वितरित किया। हालाँकि लोक जनवादी क्रान्ति की बात करते हुए इसमें मजदूर वर्ग के नेतृत्व, मजदूर-किसान संश्रय पर आधारित संयुक्त मोर्चे और भूमि-क्रान्ति के धुरी होने की बात की गयी थी, लेकिन इसमें संशोधनवाद और सुधारवाद के कई तत्त्व थे और भविष्य में क्रान्तिकारी लाइन को पूरी तरह से छोड़ देने की तमाम गुंजाइशें इसमें अन्तर्निहित थीं, जिन्हें रैडिकल कतारों के एक बड़े हिस्से ने भाँप लिया। नतीजतन, कांग्रेस की तैयारी के लिए आयोजित पार्टी कन्वेंशन के सभी स्तरों पर तीखी बहसें उठ खड़ी हुईं। यहाँ तक कि पार्टी कांग्रेस तक में कार्यक्रम का एक वैकल्पिक मसौदा पेश किया गया, लेकिन पुराने नौकरशाहाना ढंग से, जोड़तोड़ के बहुमत के सहारे हर रैडिकल आलोचना को दबा दिया गया। पार्टी कार्यक्रम के मसौदे के सिर्फ कुछ शब्दों में छोटे-मोटे बदलाव किये गये।

इतना कुछ होने के बावजूद, रैडिकल कतारें यह समझने में विफल रहीं कि जो नयी पार्टी गठित की जा रही है, वह भी नेतृत्व और नीतियों की दृष्टि से एक संशोधनवादी पार्टी है। उन्हें अपेक्षा थी कि इस पार्टी के भीतर दो लाइनों का संघर्ष चलाकर और मध्यमार्गियों को ठिकाने लगाकर इसे क्रान्तिकारी रास्ते पर उन्मुख किया जा सकता है। इस विभ्रम के लिए पार्टी की विचारधारात्मक कमजोरी का लम्बा इतिहास, राजनीतिक शिक्षा के अभाव की लम्बी परम्परा और निपट संशोधनवाद का चौदह वर्षों लम्बा दौर जिम्मेदार थे। नवगठित पार्टी ने सर्वहारा क्रान्ति के मूलभूत विचारधारात्मक प्रश्न पर जो अवस्थिति अपनायी उसकी सारवस्तु स्पष्टतः संशोधनवादी थी। ख्रुश्चेवी संशोधनवाद की आलोचना करने के बावजूद माकपा-नेतृत्व का मानना था कि चीनी पार्टी अतिवामपन्थी संकीर्णतावादी भटकाव की शिकार है। सोवियत संघ के बारे में उनका कहना था कि वहाँ की पार्टी संशोधनवादी भटकाव की शिकार है किन्तु राज्य और समाज का चरित्र अभी भी समाजवादी है। यह अवस्थिति अपने आप में हास्यास्पद रूप से विसंगतिपूर्ण थी। लेनिन की परिभाषा के अनुसार, संशोधनवादी पार्टी का मतलब है समाजवादी मुखौटे वाली बुर्जुआ पार्टी। ऐसी कोई पार्टी यदि राज्य पर काबिज हो तो राज्य का चरित्र सर्वहारा अधिनायकत्व का नहीं, बल्कि बुर्जुआ अधिनायकत्व का ही होगा और उस राज्य के होते समाजवादी समाज का विघटन केवल समय की बात होगी। 1955 से 1964 तक सोवियत संघ का समाजवादी तानाबाना पूरी तरह विघटित हो चुका था और उसका स्थान राजकीय इजारेदार पूँजीवाद ले चुका था। 1968 में चेकोस्लोवाकिया पर हमले के बाद, सोवियत संघ का साम्राज्यवादी चरित्र भी नंगा हो गया। बाद के दशक के दौरान, राष्ट्रीय मुक्ति-संघर्षों को मदद देने के नाम पर उनमें फूट डालने, उन्हें सशस्त्र संघर्ष का रास्ता छोड़ समझौते की नसीहत देने, नवस्वाधीन देशों का सहायता के नाम पर शोषण करने और पूर्वी यूरोपीय देशों की जनता का शोषण करने की सोवियत नीति ने सोवियत संघ के सामाजिक साम्राज्यवादी चरित्र को दिन के उजाले की तरह साफ कर दिया। लेकिन माकपा नेतृत्व सोवियत संघ को तब तक समाजवादी मानता रहा जब तक राजकीय पूँजीवाद का स्थान पश्चिमी ढंग के निजी पूँजीवाद ने नहीं ले लिया और सोवियत संघ का विघटन नहीं हो गया। माकपा की थीसिस के अनुसार, पैंतीस वर्षों तक एक संशोधनवादी पार्टी के शासन में राज्य और समाज का चरित्र समाजवादी बना रहा। मार्क्सवाद के साथ इससे बड़ा मजाक भला और क्या हो सकता है! और बात केवल इतनी ही नहीं थी। धीरे-धीरे माकपा ने सोवियत पार्टी को संशोधनवादी कहना भी बन्द कर दिया।

पूँजीवादी पुनर्स्थापना के कारणों और समाजवादी संक्रमण की अवधि में जारी वर्ग संघर्ष की प्रकृति के बारे में माओ त्से-तुङ के विश्लेषण और सैद्धान्तिक निष्पत्तियों पर माकपा ने कभी विस्तार से कुछ नहीं लिखा, लेकिन महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के प्रयोग को वह शुरू से अस्वीकार करती रही और ल्यू शाओ-ची व देङ सियाओ-पिङ के उत्पादक शक्तियों के विकास के संशोधनवादी सिद्धान्त को मार्क्सवादी मानती रही। इसलिए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि वह आज के चीन के "बाजार समाजवाद" नामधारी नग्न पूँजीवाद को समाजवाद मानती है और सांस्कृतिक क्रान्ति को देङपन्थियों के सुर में सुर मिलाते हुए एक "अतिवामपन्थी भूल" और "महाविपदा" घोषित करती है। वैसे, आम तौर पर मध्यमार्ग अपनाने वाली हर संशोधनवादी पार्टी की तरह माकपा अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के हर अहम विचारधारात्मक मसले पर प्रायः चुप्पी का ही रवैया अख़्तियार करती रही है और विवश होने पर ही अपनी संशोधनवादी अवस्थिति को रखती रही है। 'महान बहस' में चीन की अवस्थिति को कथनी में सही मानते हुए भी

उपनिवेशों-अर्द्धउपनिवेशों-नवउपनिवेशों में क्रान्ति सहित विश्व सर्वहारा क्रान्ति की आम दिशा के बारे में चीनी पार्टी द्वारा 1963 में प्रस्तुत अवस्थिति की जगह उसने ख्रुश्चेवी संशोधनवादी आम दिशा को ही सारतः स्वीकार किया। माओ की मृत्यु के बाद, चीन में प्रतिक्रियावादी तख़्तापलट करके सत्तासीन हुए पूँजीवादी पथगामियों ने सोवियत पार्टी को जब बिरादराना पार्टी कहना शुरू कर दिया, तो माकपा ने इसका कोई विरोध नहीं किया और उनके इस कुटिल पैंतरापलट को चुपचाप स्वीकार कर लिया। माकपा का यह संशोधनवादी चरित्र समय बीतने के साथ ही ज़्यादा से ज़्यादा नंगा होता गया, लेकिन विचारधारात्मक अवस्थिति और पार्टी की प्रकृति की दृष्टि से देखें तो अपने जन्मकाल से ही यह एक संशोधनवादी पार्टी थी।

यानी संकीर्ण अनुभववादी पर्यवेक्षण के बजाय, यदि पार्टी संगठन के लेनिनवादी उसूलों के नजरिये से देखा जाये तो माकपा का संशोधनवादी चरित्र 1964 में ही एकदम साफ था। 1951 से ही जारी पार्टी के एकदम खुले, कानूनी, संसदीय चरित्र और कार्यप्रणाली को माकपा ने यथावत जारी रखा। पार्टी-सदस्यता की प्रकृति इसमें मेंशेविकों से भी गयी-गुजरी थी। अमृतसर कांग्रेस में पार्टी संविधान में किया गया बदलाव भी 1964 की सातवीं कांग्रेस में यथावत कायम रखा गया। लोक जनवादी क्रान्ति के कार्यक्रम के अनुसार, क्रान्ति का मार्ग दीर्घकालिक लोकयुद्ध का ही हो सकता था, लेकिन इसका कोई उल्लेख करने की जगह पार्टी कार्यक्रम में कपटपूर्ण भाषा में "संसदीय और गैरसंसदीय" रास्ते का उल्लेख किया गया। कोई भी क्रान्तिकारी पार्टी बुर्जुआ संसदीय चुनावों का परिस्थिति अनुसार रणकौशल के तौर पर ही इस्तेमाल करती है। संसदीय रास्ते को गैर संसदीय मार्ग के समकक्ष रखना अपने आप में संशोधनवाद है। यूँ बाद में मा-ले आन्दोलन की "वामपन्थी" दुस्साहसवादी धारा के चुनाव-बहिष्कार के नारे का विरोध करते हुए माकपा लेनिन के हवाले से यही कहती थी कि एक रणकौशल के तौर पर चुनाव का इस्तेमाल किया जा सकता है और वह यही कर रही है। लेकिन विगत तीन दशकों से बुर्जुआ व्यवस्था के अन्तर्गत एक राज्य में शासन करते हुए वह बुर्जुआ नीतियों को भरपूर वफादारी के साथ लागू करती रही है और जनसंघर्षों की तैयारी के लिए चुनाव व संसदीय मंच का इस्तेमाल करने की जगह लगातार हर जनान्दोलन को कुचलने के लिए राज्यतन्त्र का बर्बर निरंकुश ढंग से इस्तेमाल करती रही है। अपना यह चरित्र वह नक्सलबाड़ी किसार उभार का बर्बर दमन करके साठ के दशक के अन्तिम वर्षों में ही नंगा कर चुकी थी।

जहाँ तक कार्यक्रम का प्रश्न है, माकपा ने अपने लोक-जनवादी कार्यक्रम के अन्तर्गत भारतीय बड़े पूँजीपति वर्ग का चरित्र दलाल न मानकर दोहरी प्रकृति का माना था और कुल मिलाकर इसकी स्थिति साम्राज्यवाद के कनिष्ठ साझीदार की मानी थी, जो वास्तविकता के अधिक निकट था। लेकिन सत्तारूढ़ पूँजीपति वर्ग के इस चरित्र का अन्तर्निहित तर्क यही हो सकता था कि वह अपने औद्योगिक-वित्तीय हितों के अनुरूप, ऊपर से, एक क्रमिक प्रक्रिया में, प्रशा के जुंकर-टाइप रूपान्तरण से मिलते-जुलते रास्ते से अर्द्धसामन्ती भूमि-सम्बन्धों को बदलने की कोशिश करे, सामन्ती भूस्वामियों को पूँजीवादी भूस्वामी बनने का अवसर दे (और जो ऐसा न करें, उन्हें उजड़ने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दे), धनी काश्तकारों को मुनाफाखोर कुलक बना दे, अन्तर-साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा का लाभ उठाकर तथा आयात-प्रतिस्थापन की नीति अपनाकर अपने आर्थिक हितों की हिफाजत एवं विस्तार करे तथा सुदूरवर्ती गाँवों तक को एक राष्ट्रीय बाजार के अन्तर्गत लाने की कोशिश करे। वास्तव में हुआ भी यही (और यह प्रक्रिया 1964 में गति पकड़ चुकी थी)। माकपा से जुड़े अर्थशास्त्री देश में पूँजीवादी विकास की सच्चाई को अंशों में स्वीकारते भी रहे हैं, हालाँकि इस तर्क को उसकी स्वाभाविक निष्पत्ति तक पहुँचाने से कन्नी काटते रहे हैं। माकपा भारतीय पूँजीपति वर्ग के चरित्र-निरूपण से निगमित तर्क को उसके नतीजे तक पहुँचाने की जगह, आज तक यही मानती है कि भारत विगत आधी सदी से लोक जनवादी क्रान्ति की मंजिल में ही खड़ा है। वैसे किसी संशोधनवादी पार्टी के लिए क्रान्ति के कार्यक्रम का कोई खास मतलब नहीं होता। भारत में समाजवादी क्रान्ति की मंजिल मानने वाली कई छोटी-छोटी संशोधनवादी पार्टियाँ भी हैं, जो गाँवों और शहरों के सर्वहाराओं को लेकर लगातार अर्थवादी-ट्रेडयूनियनवादी कवायद करती रहती हैं और संसद-विधानसभाओं के चुनाव लड़ती रहती हैं, या फिर मात्र सिद्धान्त-चर्वण करती रहती हैं। लेकिन माकपा सापेक्षतः एक बड़े सामाजिक आधार वाली पार्टी है, जिसे गाँवों में बड़े मँझोले मालिक किसानों को और शहरों में छोटे बुर्जुआओं और उच्च मध्यवर्ग को हर हाल में अपने साथ रखना है, वरना उसके वोट बैंक को भारी नुकसान पहुँचेगा (संगठित मजदूरों के आर्थिक हितों को लेकर, मरियल ही सही, लेकिन कानूनी और अर्थवादी लड़ाइयाँ लड़कर तथा संसद में वेतन संशोधन, पी.एफ., पेंशन, सेवाशर्तों आदि पर सत्ता का विरोध करने का पाखण्ड करके वह उनमें अपना वोट बैंक बनाये रखती है, पर मात्र इसी आधार पर उसकी चुनावी गोट लाल नहीं हो सकती)। इसलिए गाँवों के बड़े मालिक किसानों, शहरों के छोटे बुर्जुआओं और उच्च मध्य वर्ग के प्रति वर्ग-सहयोगवादी रवैया अपनाने में लोक जनवादी क्रान्ति के कार्यक्रम में निहित चार वर्गों के रणनीतिक संश्रय की सोच माकपा को एक सैद्धान्तिक आड़ देने का काम करती है। इसीएि माकपा आज भी लोक जनवादी कार्यक्रम की बात करती है।

बहरहाल, यह तो आगे की बात हुई। हमें 1964 के काल में वापस लौटना होगा। माकपा का जो संशोधनवादी चरित्र आज उसके घनघोर जनविरोधी सामाजिक-जनवादी चरित्र के रूप में एकदम नंगा हो चुका है, वह अपने जन्मकाल से वैसा ही था। लेकिन चूँकि माकपा नेतृत्व उस समय डांगेपन्थी संशोधनवादियों पर हमले कर रहा था और चूँकि वह दबी-जुबान से ही सही लेकिन ख्रुश्चेवी संशोधनवाद का विरोध करता प्रतीत हो रहा था इसलिए आनुभविक ढंग से चीजों को देखने के आदी, निम्न सैद्धान्तिक समझ और चेतना वाले कतारों के बड़े हिस्से ने उन्हें क्रान्तिकारी समझा। फिर भी यह एक निर्विवाद सच्चाई है कि कतारों का एक बड़ा हिस्सा उन्हें संशय की दृष्टि से देख रहा था और मध्यमार्गी ढुलमुलपन का शिकार मान रहा था। जो अधिक चेतनशील कार्यकर्ता थे, वे 1964

की कांग्रेस के बाद मायूस थे, पर उन्हें कोई विकल्प नहीं दीख रहा था। एक बड़ा हिस्सा ऐसा था जो नेतृत्व को संशोधनवादी मानते हुए भी, पार्टी के साथ फिलहाली तौर पर ही था और इंतजार की मानसिकता में था। बुद्धिजीवियों और कार्यकर्ताओं का एक अच्छा-खासा हिस्सा ऐसा भी था, जो इस नये नेतृत्व से कोई उम्मीद नहीं रखने के कारण निष्क्रिय हो गया था। कुल मिलाकर कहें, तो एक सर्वभारतीय पार्टी के गठन से जिस उत्साह, उम्मीद और जोश का माहौल होना चाहिए था, वह कहीं भी नहीं था।

तैयार होती जमीन, वह ऐतिहासिक विस्फोट और उसके बाद

नवम्बर, 1964 में जब कलकत्ता के त्यागराज हॉल में पार्टी कांग्रेस हो रही थी, उस समय बाहर कुछ लोगों के एक छोटे से ग्रुप ने पर्चे बाँटकर नयी पार्टी के नेतृत्व पर भी मध्यमार्गी और संशोधनवादी भटकाव का शिकार होने का आरोप लगाया। पार्टी कांग्रेस से ज़्यादातर प्रतिनिधि निराश और संशयग्रस्त होकर लौटे। 1965 के जनवरी महीने में नवगठित माकपा के महासचिव पी. सुन्दरैया गिरफ़्तार हुए और फिर सरकारी अनुमति से इलाज के लिए सोवियत संघ गये। वहाँ से लौटने के बाद सोवियत नेतृत्व के कई सकारात्मक पहलू गिनाते हुए उन्होंने लिखा कि सोवियत पार्टी की बातों में भी दम है। इधर, महान बहस के दस्तावेज निचले स्तर के संगठनकर्ताओं-कार्यकर्ताओं तक भी पहुँचने लगे थे और उन्नत चेतना वाले कार्यकर्ताओं का एक अच्छा-खासा हिस्सा यह समझने लगा था कि संशोधनवाद और मार्क्सवाद के बीच मध्यमार्ग अपनाने की कोई गुंजाइश ही नहीं है और ऐसा करने का एकमात्र मतलब होगा संशोधनवाद के पाले में खड़ा होना। यह समय था जब दक्षिण वियतनाम, फिलीप्पींस और मलाया से लेकर अफ्रीकी देशों और लातिन अमेरिकी देशों में जारी राष्ट्रीय मुक्ति-युद्धों और नवउपनिवेशवाद-विरोधी सशस्त्र संघर्षों में राष्ट्रीय बुर्जुआ नेतृत्व माओ के दीर्घकालिक लोकयुद्ध की सामरिक रणनीति को लागू कर रहा था और इनमें से अधिकांश संघर्ष विजय की दहलीज पर खड़े थे। अफ्रीकी मुक्ति संघर्ष के अमिल्कर कबराल, क्वामे एन्क्रूमा, जूलियस न्यरेरे जैसे नेता माओ की सामरिक रणनीति के अवदान को घोषित तौर पर स्वीकार कर रहे थे। राष्ट्रीय मुक्ति युद्धों के साथ मोलतोल करके मदद करने तथा उन्हें शासकों के साथ बातचीत की टेबुल पर बैठकर मोलतोल करने और सुलह-सफाई के जरिये सत्ता हासिल करने का सुझाव देने वाले ख़ुश्चेवी संशोधनवादी ज़्यादा से ज़्यादा बेनकाब होते जा रहे थे। क्यूबाई मिसाइल संकट के समय अमेरिकी धौंस के सामने ख़ुश्चेव के घुटने टेकने के बाद सोवियत शासन के चरित्र के बारे में दुनिया भर की कम्युनिस्ट कतारों के भीतर पहले ही सवाल पैदा हो चुका था। साम्राज्यवादियों के साथ लगातार सुलह-सफाई की उसकी नीति भी उसे शंकाओं के घेरे में खड़ा कर रही थी। 1965 के अन्त में इण्डोनेशिया में कम्युनिस्टों का अभूतपूर्व बर्बर दमन हुआ और इस घटना ने भी भारत के कम्युनिस्ट कतारों के सामने स्पष्ट कर दिया कि यदि कोई पार्टी विशाल जनाधार और कैडर-शक्ति के बावजूद गुप्तता, कैडर-भरती, कार्य संस्कृति के अनुशासन और सामरिक तैयारी के मामले में ढिलाई बरतेगी तो बुर्जुआ राज्यसत्ता बर्बर सैन्यबल से उसे कुचलकर ख़ून के दलदल में धँसा देगी। इस घटना ने भारतीय कम्युनिस्ट कतारों को भी सोवियत और चीनी रास्तों के विचारधारात्मक फर्क को समझने में काफी मदद की और वे इसी रोशनी में माकपा के नये नेतृत्व के बारे में भी सोचने लगे। 'महान बहस' के तत्काल के बाद चीन में 1964 से 'महान समाजवादी शिक्षा आन्दोलन' की शुरुआत हो चुकी थी। यह आन्दोलन वस्तुतः समाजवादी निर्माण के प्रश्न पर चीनी पार्टी के भीतर संशोधनवाद और क्रान्तिकारी लाइन के बीच के संघर्ष का ही एक रूप था और इस दौरान महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति की पूर्वपीठिका तैयार होने लगी थी। इस आन्दोलन से सम्बन्धित चीनी पार्टी के दस्तावेज भी माकपा से जुड़े बुद्धिजीवियों और चेतनशील कार्यकर्ताओं तक पहुँच रहे थे और चीजों को समझने में सहायक बन रहे थे। सातवीं कांग्रेस में जनान्दोलन की लम्बी-चौड़ी बातों के उलट, कांग्रेस के ठीक बाद कहीं भी भूमि संघर्ष संगठित करने या मजदूरों की राजनीतिक-आर्थिक माँगों को लेकर जुझारू आन्दोलन संगठित करने की नेतृत्व की ओर से कोई पहल नहीं दीख रही थी। नियमित अनुष्ठान से अलग क्रान्तिकारी राजनीतिक प्रचार एवं शिक्षा की कोई कार्रवाई भी नहीं संगठित की जा रही थी, जो किसी नवगठित पार्टी के लिए आवश्यक कार्यभार होता है। पार्टी-नेतृत्व का मुख्य या लगभग पूरा जोर कांग्रेस-विरोधी व्यापक संयुक्त मोर्चा बनाकर आगामी चुनावों में कांग्रेस का विकल्प प्रस्तुत करने की तैयारी पर था। हालाँकि अपने चुनावी चरित्र पर पर्दा डालने के लिए वह लगातार "जनांदोलनों को मजबूत बनाने वाली संक्रमणकालीन सरकारों की स्थापना" (वह "संक्रमणकाल"' आज तक जारी है!) की ही बात कह रही थी। 1965 के भारत-पाक युद्ध के समय भी पार्टी ने बुर्जुआ अन्धराष्ट्रवाद-विरोधी और युद्ध-विरोधी क्रान्तिकारी प्रचार का कोई भी कार्यक्रम हाथ में लेने का साहस नहीं किया। राष्ट्रीय-अन्तरराष्ट्रीय पटल की ये सारी घटनाएँ और विश्व-इतिहास के उस दौर में चतुर्दिक आगे बढ़ते मुक्ति संघर्षों के ज्वार माकपा की कतारों की चेतना का क्रान्तिकारीकरण करने में, उन्हें संशोधनवाद और क्रान्तिकारी मार्क्सवाद के बीच अन्तर करना सिखाने में तथा माकपा नेतृत्व के असली चरित्र को पहचानने में मदद पहुँचा रहे थे। पार्टी नेतृत्व का व्यवहार स्वयं उसके चरित्र को उजागर करता जा रहा था।

नवगठित पार्टी-नेतृत्व के चरित्र पर प्रश्न उठाने वाले कुछ लोगों ने सातवीं कांग्रेस के तत्काल बाद, पार्टी के भीतर गुप्त तरीके से (उनका आकलन था कि नौकरशाह पार्टी नेतृत्व पार्टी के भीतर उन्हें बुनियादी सैद्धान्तिक मुद्दों पर कत्तई बहस नहीं चलाने देगा और ऐसा करते ही उन्हें उग्रवादी और दुस्साहसवादी बताकर किनारे लगा दिया जायेगा। उनका यह सोचतना एकदम ठीक था, तमाम मसलों पर माकपा नेतृत्व के बाद के व्यवहार ने यही सिद्ध किया) सैद्धान्तिकी संघर्ष चलाने के लिए कन्हाई चटर्जी, अमूल्य सेन और चन्द्रशेखर दास की पहल पर, उन्हीं की अगुवाई में एक गुप्त क्रान्तिकारी केन्द्र का गठन किया। इस केन्द्र की ओर से मार्च,

1965 में 'चिन्ता' नामक बुलेटिन का पहला अंक निकला और पार्टी कतारों के बीच (विशेषकर बिहार और बंगाल में) इसे गुप्त रूप से बाँटा गया। ठीक इसी समय, चारू मजूमदार ने भी अपने प्रसिद्ध आठ दस्तावेजों की शृंखला का लेखन प्रारम्भ किया। 28 फरवरी, 1965 को इस शृंखला का पहला दस्तावेज 'वर्तमान स्थिति में हमारे कर्त्तव्य' उन्होंने पूरा किया। माकपा के नवसंशोधनवाद के विरुद्ध का बिगुल फूँकने वाली ये दो निर्णायक पहलकदमियाँ अलग-अलग, लेकिन एकदम एक ही समय में ली गयीं। इनके अतिरिक्त, आन्ध्र प्रदेश, पश्चिम बंगाल, उत्तर प्रदेश, बिहार और पंजाब के कई लोग सातवीं कांग्रेस के बाद से ही पार्टी नेतृत्व को संशोधनवादी रास्ते का राही मानने लगे थे और इस मसले पर सोच-विचार रहे थे कि पार्टी के भीतर संशोधनवाद के विरुद्ध संघर्ष चलाने का रास्ता क्या हो सकता है? कुछ लोग (विशेषकर पार्टी बुद्धिजीवी) ऐसे भी थे, जिन्होंने पार्टी को संशोधनवादी मानकर उसकी सदस्यता छोड़ दी थी या सदस्यता के बावजूद निष्क्रिय हो गये थे।

मार्च, 1965 से लेकर 1966 के मध्य तक 'चिन्ता' बुलेटिन के कुल छह अंक निकले। इसके बाद इस क्रान्तिकारी केन्द्र के सूत्रधारों को उग्रवादी और दुस्साहसवादी करार देकर पार्टी से निष्कासित कर दिया गया। निष्कासन के बाद, संशोधनवाद के विरुद्ध संघर्ष और भारतीय क्रान्ति की रणनीति एवं आम रणकौशल से जुड़े विविध प्रश्नों पर बहस को व्यापक आधार पर चलाने के लिए 1966 के मध्य से कन्हाई चटर्जी-अमूल्य सेन के नेतृत्व वाले इस ग्रुप ने 'दक्षिण देश' नाम से एक खुली पत्रिका का नियमित प्रकाशन शुरू किया। चारु मजूमदार अगस्त, 1966 तक अपनी 'आठ दस्तावेज शृंखला' के छः दस्तावेज लिख चुके थे। सातवाँ और आठवाँ दस्तावेज उन्होंने क्रमशः 1967 के फरवरी और अप्रैल महीने में लिखा, जब नक्सलबाड़ी में किसानों के बड़े-बड़े जुलूस निकलने लगे थे और मई में शुरू होने वाले किसान-विद्रोह की जमीन तैयार हो चुकी थी। इन दस्तावेजों और 'चिन्ता' के अंकों की विषयवस्तु की चर्चा से पहले नक्सलबाड़ी के बारे में यह जानना जरूरी है कि इस विद्रोह की वस्तुगत परिस्थितियाँ किस प्रकार वहाँ मौजूद थीं और नक्सलबाड़ी में किसान संघर्षों और कम्युनिस्ट आन्दोलन की किस प्रकार पहले से ही एक परम्परा रही थी।

दार्जीलिंग जिले के सिलीगुड़ी सबडिवीजन स्थित नक्सलबाड़ी क्षेत्र का ग्रामीण इलाका तराई अंचल है। वहीं से पहाड़ी क्षेत्र शुरू हो जाता है। खेती के अलावा इस इलाके में चायबागान भी हैं, जो गाँवों से एकदम लगे हुए हैं। इस क्षेत्र के किसानों और बागान मजदूरों के बीच कम्युनिस्ट पार्टी ने व्यवस्थित ढंग से काम की शुरुआत 1951 में की। दार्जीलिंग जिला ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत एक 'नॉन-रेग्यूलेटेड एरिया' था। 1947 के बाद भी वहाँ के माहौल पर इसकी छाप थी। इलाके में चाय बागान मालिक प्लाण्टर-भूस्वामियों और जोतदारों (भूस्वामियों) की निरंकुश सत्ता कायम थी। बागान मजदूरों की कोई यूनियन नहीं थी और बागान मालिकों का आतंक इतना था कि वे इस दिशा में सोच तक नहीं सकते थे। किसी भी राजनीतिक पार्टी का कार्यकर्ता जोतदारों की मर्जी और इजाजत के बगैर किसानों की झोंपड़ियों तक पहुँच भी नहीं सकता था। इन कठिन परिस्थितियों में पार्टी ने इस क्षेत्र में काम शुरू किया। चारु मजुमदार उस सिलीगुड़ी लोकल कमेटी के नेता थे, जिसके अन्तर्गत नक्सलबाड़ी क्षेत्र आता था।

चारु मजुमदार 1930 के दशक में पाबना (अब बांगला देश) के एडवर्ड कॉलेज में पढ़ते समय कम्युनिस्ट छात्र-छात्राओं के सम्पर्क में आये और कम्युनिस्ट बने। इण्टरमीडियट की फाइनल की परीक्षा छोड़कर वे जलपाईगुड़ी जिले के देवीगंज थाने (अब बांगलादेश) के पचागढ़ में किसानों के बीच काम करने लगे। कम्युनिज़्म की प्रारम्भिक शिक्षा उन्हें माधवदत्त से मिली और फिर वे जलपाईगुड़ी के कम्युनिस्ट नेता शचिन दासगुप्त और वीरेन दत्त के सम्पर्क में आये। किसानों के अधियार आन्दोलन में भागीदारी के बाद उन्होंने लालमनिहार जं. (दिनाजपुर जिला) से लेकर जलपाईगुड़ी तक के रेल मजदूरों और दुआर के चायबागान के मजदूरों के बीच संगठनकर्त्ता के रूप में काम किया। उत्तर बंगाल के करीब 70 लाख किसानों के प्रसिद्ध तेभागा आन्दोलन (1946-47) में भी वे सक्रिय रहे। उल्लेखनीय है कि तेभागा आन्दोलन का प्रत्यक्ष नेतृत्व जब बर्बर दमन का प्रतिरोध करने के लिए किसानों की सशस्त्र प्रतिरक्षा संगठित करने के बारे में सोच रहा था, उसी समय मुस्लिम लीग सरकार के कोरे आश्वासनों के बाद प्रादेशिक नेतृत्व ने आन्दोलन वापस ले लिया। तब प्रादेशिक नेतृत्व की तीखी आलोचना करने वालों में चारु मजुमदार भी थे। 1947 में देश के विभाजन के बाद चारु मजुमदार का मुख्य कार्यक्षेत्र जब पूर्वी पाकिस्तान (अब बांगलादेश) में चला गया तो वे जलपाईगुड़ी जिले के उस हिस्से में चाय बागान मजदूरों, रेल मजदूरों और आदिवासी किसानों के बीच काम करने लगे, जो भारत में आया था। रणदिवे काल की अतिवामपन्थी लाइन और पार्टी के गैरकानूनी करार दिये जाने के दौर में चारु जेल में थे। वहीं उन्हें तेलंगाना संघर्ष के दौरान पार्टी में जारी बहस और आन्ध्र दस्तावेज के बारे में पता चला। जेल में उन्हें माओ और चीनी पार्टी की लाइन के पक्षधर के रूप में जाना जाता था। तेलंगाना संघर्ष वापस लिये जाने के बाद, मार्च 1952 में चारु जेल से रिहा हुए। अब उनका नया कार्यक्षेत्र दार्जीलिंग जिले का सिलीगुड़ी सब-डिवीजन बना जहाँ की लोकल कमेटी का नेतृत्व चारु मजुमदार ने सम्हाला। 1951 में पार्टी ने नक्सलबाड़ी क्षेत्र के गाँवों के किसानों और चाय बागान मजदूरों के बीच कामों की शुरुआत की। इसी समय कानू सान्याल ने भी यहाँ पूर्णकालिक संगठनकर्त्ता के रूप में काम करना शुरू किया और जंगल सन्थाल, कदम लाल मल्लिक, खोदनलाल मल्लिक आदि स्थानीय कार्यकर्ताओं की एक टीम तैयार हुई।

1951 से लेकर 1954 तक का दौर नक्सलबाड़ी में किसानों और बागान मजदूरों के संगठित होने का प्रारम्भिक दौर था, लेकिन इलाके में जोतदारों के अत्याचार का इतना अधिक बोलबाला था कि उनके साथ ख़ूनी झड़पों के बिना शुरुआती काम भी असम्भव था। पार्टी संगठनकर्ताओं ने जोतदारों की अवैध वसूलियों और अत्याचारों के विरुद्ध किसानों को संगठित करते हुए निकटवर्ती चाय बागान मजदूरों को भी उनके पक्ष में संगठित किया। इस तरह, स्थानीय स्तर पर, व्यवहार में मजदूरों और किसानों का संयुक्त मोर्चा तैयार हुआ और 1955 से 1957 के बीच नक्सलबाड़ी के

किसानों-मजदूरों ने एक साथ मिलकर लगातार संघर्ष चलाये। जोतदारों और बागान मालिकों के निरंकुश अत्याचार के चलते इस इलाके के किसानों और मजदूरों को शुरू से ही अपने आत्मरक्षार्थ परम्परागत हथियारों की मद लेनी पड़ी। यह एक महत्त्वपूर्ण कारण था कि नक्सलबाड़ी के किसानों में उस समय से ही कानूनी और शान्तिपूर्ण तरीकों के बारे में कोई भ्रम नहीं था। 1955 का चाय बागान मजदूरों का बोनस आन्दोलन हालाँकि एक आर्थिक संघर्ष था, लेकिन हजारों मजदूरों-किसानों ने इसमें भी अपनी जुझारू एकजुटता और लड़ाकूपन का प्रदर्शन किया और न केवल बागान मालिकों के भाड़े के गुण्डों को बल्कि पुलिस को भी पीछे हटने पर मजबूर कर दिया। एक मौके पर दस हजार हथियारबन्द बागान मजदूरों और किसानों ने पुलिस बल को निश्शस्त्र होने के लिए मजबूर कर दिया था। नक्सलबाड़ी में वर्ग-संघर्ष के विकास की दृष्टि से 1955-56 का यह दूसरा दौर विशेष महत्त्व रखता है।

1958-62 के काल को नक्सलबाड़ी में किसानों-मजदूरों के संघर्ष के विकास का तीसरा दौर कहा जा सकता है। इस दौरान पश्चिम बंगाल किसान सभा ने 'बेनामी' जमीन पर किसानों द्वारा फिर से कब्जा का नारा दिया। लेकिन सिलीगुड़ी की सबडिवीजनल किसान समिति के नक्सलबाड़ी में हुए सम्मेलन ने इस आह्वान को वास्तविक भूमि-सुधार की उद्देश्य-पूर्ति के लिए अधूरा मानते हुए जोतदारों की जमीन की कुल उपज जब्त करने का आह्वान किया। सम्मेलन ने किसानों का आह्वान किया कि वे सारी फसल काटकर अपनी जगहों पर रखें, मालिकाना का सबूत पेश करने पर ही किसान समितियाँ जोतदारों को उनका हिस्सा दें और पुलिस एवं जोतदारों से फसल को बचाने के लिए किसान हथियारबन्द हो जायें। इस आन्दोलन के दौरान, सिर्फ 1958-59 के वर्ष में दो हजार किसान गिरफ़्तार हुए और उन पर सात सौ आपराधिक मुकदमे पुलिस ने दर्ज किये। जोतदारों और पुलिस से किसानों की सशस्त्र झड़पें हुईं और जोतदारों के हथियार छीनने की कई घटनाएँ घटीं। किसान 80 फीसदी फसल अपने कब्जे में लेने और उसका बड़ा हिस्सा पुलिस द्वारा छीने जाने से बचाने में सफल रहे।

पूरे आन्दोलन के दौरान एक भी नेतृत्वकारी संगठनकर्ता को पुलिस गिरफ़्तार नहीं कर पायी। चारु मजुमदार इस आन्दोलन से सीधे नहीं जुड़े थे। उसके संगठनकर्ता कानू सान्याल, जंगल सन्थाल, कदम मल्लिक आदि थे। चारु मजुमदार की एक नकारात्मक भूमिका यह जरूर रही थी कि राज्य किसान सभा के नेताओं के निर्देश पर, संघर्ष के नेताओं और भागीदार किसान कार्यकर्ताओं से सलाह-मशविरा किये बिना ही, उन्होंने संघर्ष वापस लेने की घोषणा कर दी थी। इसके बावजूद, नक्सलबाड़ी के किसान कमोबेश 1962 तक इस संघर्ष की उपलब्धियों की हिफाजत में सफल रहे।

1962-64 के दौर को नक्सलबाड़ी में किसानों के संघर्ष और उनके बीच पार्टी कार्य के विकास का चौथा दौर माना जा सकता है। 1962 के भारत-चीन सीमा-युद्ध के समय और उसके बाद के वर्षों में घनघोर अन्धराष्ट्रवाद और कम्युनिज़्म-विरोध के माहौल में भी नक्सलबाड़ी क्षेत्र के कम्युनिस्ट कार्यकर्ता दृढ़तापूर्वक इस अवस्थिति पर खड़े रहे कि हमलावर चीन नहीं है और यह युद्ध साम्राज्यवादियों की शह और अपनी विस्तारवादी महत्त्वाकांक्षा से भारतीय शासक वर्ग ने छेड़ा है। किसानों-मजदूरों में कम्युनिस्टों की साख इतनी मजबूत थी कि वे दृढ़तापूर्वक उनके साथ खड़े थे। उस समय सही अवस्थिति लेने वाले कम्युनिस्टों की गिरफ़्तारी की जो मुहिम चली थी, उसके तहत अकेले नक्सलबाड़ी में सौ किसान-मजदूर गिरफ़्तार हुए थे। इन कठिन वर्षों में भी जोतदारों और टी-प्लाण्टरों के हमलों और सत्ता के दमन का मुकाबला करते हुए इस क्षेत्र के किसान-मजदूर अपनी सांगठनिक ताक़त को बनाये रखने में सफल रहे थे। 1964 में दार्जीलिंग जिले के मजदूर, किसान और मध्यवर्गीय कार्यकर्ताओं ने संशोधनवाद के विरुद्ध जमकर संघर्ष किया और डांगेपन्थियों को पूरी तरह से अलगाव में डाल दिया। सिलीगुड़ी सबडिवीजन के कार्यकर्ता दृढ़तापूर्वक ख्रुश्चेवी संशोधनवाद का विरोध कर रहे थे और चीनी पार्टी के पक्ष का समर्थन कर रहे थे।

नक्सलबाड़ी में जोतदारों-बागान मालिकों के बर्बर दमन की जो विशेष परिस्थितियाँ थीं और वहाँ के किसानों-मजदूरों के बीच कम्युनिस्ट कतारों के काम और कम्युनिस्ट नेतृत्व में उनके जुझारू संघर्षों का जो डेढ़ दशक लम्बा इतिहास था, उसने नक्सलबाड़ी किसान-विद्रोह और उस पर क्रान्तिकारी कम्युनिज़्म के विचारधारात्मक-राजनीतिक वर्चस्व-स्थापना का आधार तैयार किया था। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि जुझारू संघर्षों का यह सिलसिला ही स्वतः विकसित होकर 1967 में नक्सलबाड़ी किसान-विद्रोह के रूप में सामने आया। ऐसा मानना स्वयंस्फूर्ततावादी भटकाव होगा। नक्सलबाड़ी सशस्त्र किसान विद्रोह महज एक विद्रोह नहीं था। वह एक क्रान्तिकारी किसान-उभार था, जिसका नेतृत्व क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के हाथों में था। नक्सलबाड़ी ने संशोधनवाद को सहज वर्ग-प्रवृत्ति से खारिज नहीं किया था, बल्कि उसके पीछे एक सचेतन विचारधारात्मक नेतृत्व की भूमिका थी, चाहे उस नेतृत्व की अपनी सैद्धान्तिक कमजोरियाँ-विसंगतियाँ जो भी रही हों। चारु मजुमदार की सकारात्मक और नकारात्मक भूमिका का सवाल इसी मुद्दे की विवेचना से जुड़ा हुआ है।

1964 में माकपा के गठन के बाद, पार्टी कांग्रेस के ठीक पहले पूरे पश्चिम बंगाल में कम्युनिस्ट कार्यकर्ताओं की बड़े पैमाने पर गिरफ़्तारी हुई। अक्टूबर 1964 से लेकर 1965 के पूर्वार्द्ध तक सिलीगुड़ी सबडिवीजन के लगभग सभी पार्टी कार्यकर्ता गिरफ़्तार किये जा चुके थे। चारु मजुमदार तबतक दिल की बीमारी से ग्रस्त हो चुके थे और बीमारी के कारण ही उन्हें गिरफ़्तार नहीं किया गया था। बाद में, 1965 के अन्त में उन्हें भी गिरफ़्तार कर लिया गया। 1964 से जून, 1966 के बीच जेल में रहने के दौरान दार्जीलिंग जिले के पार्टी कार्यकर्ताओं ने माकपा नेतृत्व के संशोधनवाद को जानने-समझने का काम किया, उसके विरुद्ध दृढ़तापूर्वक स्टैण्ड लिया और इस नतीजे पर पहुँचे कि चीनी मार्ग ही भारतीय मुक्ति-संघर्ष का भी मार्ग होगा। जेल में बन्दी इन कार्यकर्ताओं ने संशोधनवाद के विरुद्ध अपनी राजनीतिक तैयारी भले की हो, लेकिन माकपा नेतृत्व के विरुद्ध उन्होंने कोई दस्तावेज लिखने और उसे कतारों के अन्य हिस्सों तक पहुँचाने की कोई कोशिश नहीं की। यदि वे जेल से बाहर होते तो ऐसा करते या नहीं करते, यह

अटकल की बात है और इतिहास की वस्तुगत सच्चाइयों की जाँच-पड़ताल करते हुए इस अटकल का कोई महत्त्व नहीं है। चारु मजुमदार का यह योगदान असन्दिग्ध है कि उन्होंने आठ दस्तावेज लिखकर माकपा के नवसंशोधनवाद से निर्णायक विच्छेद में एक बुनियादी भूमिका निभायी। हाँ, इस बहुप्रचलित धारणा को जरूर संशोधित करने की जरूरत है कि ऐसा करने वाले वह अकेले व्यक्ति थे। ठीक उसी समय 'चिन्ता ग्रुप' (आगे चलकर 'दक्षिण देश' ग्रुप) ने भी अपनी बुलेटिन के जरिये कलकत्ता में यह काम शुरू कर दिया था और यह बुलेटिन चारु की दस्तावेज-शृंखला की तुलना में पश्चिम बंगाल के कतारों की अपेक्षाकृत बड़ी संख्या तक पहुँच रहा था। आगे चलकर नक्सलबाड़ी किसान-संघर्ष की चमक और उसके निर्माता के रूप में चारु मजुमदार और उनके आठ दस्तावेजों की ख्याति के चलते 'चिन्ता' ग्रुप के प्रयास अपने महत्त्व के समुचित मूल्यांकन से काफी हद तक वंचित रह गये। जहाँ तक नक्सलबाड़ी किसान-संघर्ष के निर्माता के रूप में चारु की और उनके आठ दस्तावेजों की भूमिका का प्रश्न है, उसका सही मूल्यांकन उस समय के ठोस तथ्यों की पड़ताल के बाद ही किया जा सकता है। अतः उनकी हम यहाँ संक्षेप में चर्चा करेंगे।

फरवरी, से सितम्बर 1965 के बीच चारु मजुमदार ने तत्कालीन राष्ट्रीय-अन्तरराष्ट्रीय परिस्थितियों का विश्लेषण करते हुए और उन परिस्थितियों में कम्युनिस्टों के कार्यभारों का विश्लेषण करते हुए पाँच लेख लिखे : 'वर्तमान स्थिति में हमारे कर्त्तव्य', 'संशोधनवाद के खिलाफ संघर्ष कर जनता की जनवादी क्रान्ति को सफल बनायें', 'भारत के स्वतःस्फूर्त क्रान्तिकारी सैलाब का स्रोत क्या है', 'आधुनिक संशोधनवाद के खिलाफ संघर्ष चलाते जायें' और '1965 किस सम्भावना का निर्देश दे रहा है।' इसके बाद वे गिरफ़्तार कर लिये गये। जेल में बीमारी गम्भीर हो जाने के कारण उन्हें कलकत्ता के एक अस्पताल में भर्ती किया गया और वहीं से वे 7 मई 1966 को रिहा कर दिये गये। अगस्त, 1966 में उन्होंने अपना छठवाँ लेख लिखा। प्रसिद्ध 'आठ दस्तावेज शृंखला' के इन छः लेखों में चारु मजुमदार ने जो स्थापनाएँ दी थीं, संक्षेप में उनका उल्लेख यहाँ जरूरी है।

इन दस्तावेजों के अनुसार, किसान सभा और ट्रेड यूनियन के जरिये आंशिक माँगों पर आन्दोलन चलाते रहने के संकीर्ण दायरे से बाहर निकलकर राजनीतिक सत्ता के लिए संघर्ष करना होगा। राजनीतिक सत्ता पर कब्जा का अर्थ सरकार पर कब्जा करना नहीं, बल्कि सशस्त्र संघर्ष द्वारा इलाकावार सत्ता-दख़ल करना है। चीन का रास्ता ही भारत की मुक्ति का रास्ता है और सशस्त्र संघर्ष हमारा फौरी कार्यभार है। इसके लिए क्रान्तिकारी कार्यकर्ता तैयार करने होंगे और गुप्त ढाँचा खड़ा करना होगा, फिर गुप्त सशस्त्र दस्ते बनाने होंगे, जोतदारों पर हमले करने होंगे, उनके घरों में आग लगानी होगी, फसल कब्जा करनी होगी और हथियार एकत्र करने होंगे। राजनीतिक प्रचार एवं उद्वेलन की कार्रवाई की पूरी उपेक्षा करते हुए इन लेखों में यह स्थापना दी गयी थी कि 'ऐक्शन' (जोतदारों पर 'काम्बैट ग्रुपों' के सशस्त्र व्यक्तिगत हमलों) के प्रभाव से ही जन-गोलबन्दी की शुरुआत हो जायेगी। यद्यपि इन दस्तावेजों में जन संगठनों और जनान्दोलनों को उसी तरह से सुधारवादी-संशोधनवादी काम नहीं करार दिया गया था, जैसाकि चारु मजुमदार ने कमोबेश 1969 से कहना शुरू कर दिया था, लेकिन सशस्त्र जनसंघर्षों के विकास में जनआन्दोलनों की कोई भूमिका बताने के बजाय सीधे गुप्त सशस्त्र दस्तों के निर्माण और ऐक्शन से ही कार्रवाई की बात की गयी थी, यानी पार्टी के कार्यभारों में जनआन्दोलन संगठित करने की कार्रवाई और राजनीतिक प्रचार की कार्रवाई की सीधे-सीधे उपेक्षा की गयी थी और सीधे छापामार संघर्ष से शुरुआत की बात की गयी थी। दस्तावेजों में आर्थिक संघर्षों को ही अर्थवादी करार देते हुए उनकी आलोचना की गयी थी और कहा गया था कि मजदूरों के आन्दोलनों को समर्थन देते हुए भी पार्टी ट्रेड यूनियन व कानूनी संघर्षों में अपना समय जाया नहीं करेगी। छठे दस्तावेज में माकपा को स्पष्ट शब्दों में एक संशोधनवादी पार्टी बताते हुए कतारों से उसके ढाँचे को तोड़कर नेतृत्व के विरुद्ध विद्रोह का आह्वान किया गया था और यह कहा गया था कि माकपा-नेतृत्व जनान्दोलनों को महज सरकार बनाने के लिए इस्तेमाल करना चाहता है और उसके कांग्रेस विरोधी संयुक्त मोर्चे के नारे का एकमात्र अर्थ है बुर्जुआ वर्ग का दुमछल्ला बनना। इसी दस्तावेज में यह भी स्पष्ट कहा गया था कि सोवियत पार्टी के संशोधनवाद की मुख़ालफत किये बिना क्रान्तिकारी संघर्ष आगे नहीं बढ़ सकता और आज की दुनिया में माओ ने लेनिन का स्थान ग्रहण कर लिया है, अतः उनका विरोध करने वाले वास्तव में संशोधनवाद के विरोधी नहीं हैं। दरअसल, इसकी पृष्ठभूमि में माकपा की केन्द्रीय कमेटी की हाल ही में हुई वह बैठक थी जिसमें एक प्रस्ताव पारित करके चीनी कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा भारत सरकार की आलोचना को गलत ठहराया गया था और यह भी कहा गया था कि सोवियत नेतृत्व की आलोचना करना अभी उचित नहीं है क्योंकि इससे लोगों के मन में समाजवाद के प्रति भरोसा घट जायेगा। इसके अतिरिक्त इन दस्तावेजों में, भारतीय व्यवस्था के संकट, गहराते दमन और बढ़ते जनाक्रोश की चर्चा के साथ ही चीन और पाकिस्तान के ख़िलाफ भारतीय शासक वर्ग द्वारा अन्धराष्ट्रवादी लहर उभाड़ने की कड़ी निन्दा की गयी थी तथा सोवियत संघ के सहयोग से बने सार्वजनिक क्षेत्र को भारतीय एकाधिकारी पूँजीपति वर्ग के हित में खड़ा किया गया उपक्रम बताया गया था।

30 अगस्त '66 को जारी चारु का छठा दस्तावेज 'भारत की कम्युनिस्ट पार्टी का माओवादी केन्द्र' की ओर से जारी किया गया था। वस्तुतः इस नाम का केवल प्रतिकात्मक महत्त्व था क्योंकि ऐसा कोई केन्द्र उस समय तक अस्तित्व में नहीं आया था और इस दस्तावेज का लेखन अकेले चारु ने ही किया था। चारु मजुमदार के पहले लेख से ही दार्जीलिंग की कम्युनिस्ट कतारों के बीच (जो जेल से बाहर थे), बहस की शुरुआत हो चुकी थी। चारु के जेल जाने तक उनके पाँच दस्तावेज सीमित लोगों तक ही पहुँच सके थे। मई में जेल से बाहर आने के बाद उन्होंने चुने हुए पाँच छः युवा कार्यकर्ताओं को पाँच दस्तावेजों में निरूपित लाइन के प्रचार के लिए ग्रामीण क्षेत्रों में भेजा। बुर्जुआ प्रेस में भी इन दस्तावेजों की ख़बरें प्रकाशित हुईं और इस तथ्य से अन्य इलाकों के माकपा

कार्यकर्ता और जेल में बन्दी लोग भी परिचित हुए।

अगस्त 1966 तक प्रकाशित छः दस्तावेजों की अन्तर्वस्तु पर यदि गौर करें तो अन्तरराष्ट्रीय संशोधनवाद और माकपा के नवसंशोधनवाद से रैडिकल विच्छेद की इनमें दो टूक शब्दों में चर्चा की गयी थी और माओ विचारधारा को क्रान्तिकारी विचारधारा के रूप में स्थापित किया गया था। यह इनका मुख्य सकारात्मक पहलू था। लेकिन साथ ही, ये दस्तावेज भारतीय परिस्थितियों का अध्ययन करके भारतीय क्रान्ति का कार्यक्रम निर्धारित करने के कार्यभार की जगह उसे तयशुदा मानकर चलते थे और यह विचार रखते थे कि भारतीय क्रान्ति का रास्ता पूरी तरह से चीनी क्रान्ति का रास्ता होगा। पर चीनी क्रान्ति में सशस्त्र छापामार युद्ध का रास्ता क्रान्तिकारी जनदिशा के आधार पर विकसित हुआ था, जबकि चारु मजुमदार जनकार्रवाइयों की उपेक्षा करते हुए शुरू से ही गुप्त सशस्त्र दस्तों के निर्माण और उनके 'ऐक्शन' पर जोर दे रहे थे और इन्हीं के द्वारा जन-गोलबन्दी पर बल दे रहे थे। उनके अनुसार, चूँकि इन कार्रवाइयों को व्यापक जन समुदाय का समर्थन प्राप्त होगा, अतः इन्हें आतंकवाद नहीं कहा जा सकता। यही लाइन आगे चलकर नग्न "वामपन्थी" दुस्साहसवादी लाइन के रूप में सामने आयी, लेकिन वस्तुतः इस भटकाव के तत्व इन छह दस्तावेजों में ही स्पष्ट रूप में मौजूद थे।

जेल से दार्जीलिंग के पार्टी कार्यकर्ताओं की रिहाई के बाद, सिलीगुड़ी लोकल कमेटी के नेतृत्वकारी संगठनकर्ताओं के साथ चारु मजुमदार की बातचीत हुई। उनमें इस बात पर आम सहमति बनी कि माकपा के संशोधनवाद के विरुद्ध संघर्ष करना होगा, भारत की मुक्ति का रास्ता चीन का रास्ता होगा, भूमि क्रान्ति को सशस्त्र संघर्ष के जरिये ही पूरा किया जा सकता है तथा, भूमि क्रान्ति की राजनीति का किसानों-मजदूरों के बीच प्रचार करना होगा, उन्हें संगठित करना होगा और गुप्त पार्टी संगठन का निर्माण करना होगा। लेकिन कानू सान्याल सहित लोकल कमेटी के पार्टी संगठनकर्ताओं का विचार था कि मजदूरों और किसानों के जन संगठन और जनान्दोलन अपरिहार्य हैं, राजनीतिक काम सशस्त्र कार्रवाई की तैयारी की अनिवार्य पूर्वशर्त है, 'पॉलिटिक्स इन कमाण्ड' के बिना 'ऐक्शन' का कोई मतलब नहीं है, जन संघर्षों के द्वारा ही संघर्ष के उच्चतर रूप विकसित किये जा सकते हैं और शहरी क्षेत्रों में भी जनसंगठन बनाने होंगे। चारु मजुमदार इस विचार से सहमत नहीं थे। ऐसी स्थिति में यह समझौता हुआ कि सिलीगुड़ी लोकल कमेटी के संगठनकर्ता नक्सलबाड़ी में अपनी लाइन लागू करेंगे और चारु मजुमदार की लाइन को उनके पक्षधर नये कार्यकर्ता नक्सलबाड़ी से सटे पश्चिमी दिनाजपुर जिले के चतरहाट-इस्लामपुर इलाके में लागू करेंगे।

चतरहाट-इस्लामपुर में चारु मजुमदार के छः दस्तावेजों के आधार पर काम की शुरुआत हुई। गुप्त दस्तों ने कुछ जोतदारों के घरों को जलाया और कुछ फसल भी रात में काट ली गयी। जनसंगठन बनाने या जनान्दोलन की कोई कोशिश नहीं की गयी। जल्दी ही 'कॉम्बैट ग्रुप' लुम्पन तत्त्वों के जमावड़े बनने लगे। 1967 में, जब नक्सलबाड़ी उभार शिखर पर था, उस समय चतरहाट-इस्लामपुर में जोतदारों ने गुप्त 'कॉम्बैट ग्रुपों' के ज्ञात सदस्यों के घरों पर संगठित होकर हमला किया। पूरी किसान आबादी ने उनका समर्थन किया। ग्रुपों के कार्यकर्ता किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये और ये गुप्त दस्ते जल्दी ही बिखर गये। इस तरह चारु की लाइन का पहला प्रयोग बुरी तरह विफल रहा।

नक्सलबाड़ी में जनदिशा लागू की गयी। जिला कमेटी में बहुमत को पक्ष में करने के लिए क्रान्तिकारी पार्टी कार्यकर्ताओं ने माकपा के भीतर विचारधारात्मक संघर्ष चलाने का निर्णय लिया। जिला कमेटी के 26 सदस्यों में से 20 ने सिलीगुड़ी लोकल कमेटी की राजनीतिक लाइन को स्वीकार किया और फिर जिला कमेटी के भीतर एक गुप्त कमेटी का गठन किया गया। व्यापक प्रचार के बाद, दार्जीलिंग जिले के पहाड़ी और मैदानी इलाकों के ज़्यादातर बागान मजदूर गुप्त जिला कमेटी की राजनीतिक लाइन का समर्थन करने लगे थे। संशोधनवादी यूनियन नेताओं से असन्तुष्ट बागान मजदूर आर्थिक माँगों को लेकर जुझारू संघर्ष के लिए कमर कसने लगे। 1966 के उत्तरार्द्ध का पूरा समय ऐसा था जब दार्जीलिंग जिले में नक्सलबाड़ी किसान उभार की पृष्ठभूमि तैयार हो रही थी। सितम्बर 1966 में चाय उद्योग में हुई नौ दिनों की आम हड़ताल इस दौर की एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। जलपाईगुड़ी जिले में हड़ताल जब टूटने की ओर अग्रसर थी, उस समय भी दार्जीलिंग में मजदूर डटे हुए थे। लाल झण्डा यूनियन के मजदूरों के साथ ही अन्य यूनियनों के मजदूर और बागानों के असंगठित मजदूर भी हड़ताल में शामिल हो गये थे। इससे भयभीत संशोधनवादी नेता पूरी कोशिश कर रहे थे कि कोई 'सेटलमेण्ट' हो जाये। दार्जीलिंग में 25,000 से अधिक मजदूरों ने दमन करने आयी पुलिस का जमकर मुकाबला किया जिसमें पुलिस की गोली से एक मजदूर शहीद हुआ। इस पूरे दौरान, खेती-बाड़ी के व्यस्त समय के कामों के बावजूद, नक्सलबाड़ी के किसान दृढ़तापूर्वक हड़ताली मजदूरों का साथ देते रहे। पुलिस के साथ कई बार उनकी झड़प भी हुई। बिना किसी बुनियादी माँग के पूरा हुए, हड़ताल वापस लेने की वजह से संशोधनवादी मजदूरों में एकदम अलग-थलग पड़ गये। गुप्त जिला कमेटी और लोकल कमेटी के कार्यकर्ताओं ने इस स्थिति का भरपूर लाभ उठाया। प्लाण्टेशन यूनियनों के शाखा सम्मेलनों ने भूमि क्रान्ति के कार्यक्रम के समर्थन में प्रस्ताव पारित किया। पर्वतीय क्षेत्र के चाय बागान मजदूरों के वार्षिक सम्मेलन ने संशोधनवादी नेताओं की कठोर निन्दा करते हुए उन्हें ट्रेड यूनियनों से निकाल बाहर किया। नक्सलबाड़ी के प्लाण्टेशन मजदूरों के वार्षिक सम्मेलन ने भूमि-संघर्ष शुरू करने के लिए किसानों का आह्वान करते हुए प्रस्ताव पारित किया। इस तरह, चारु मजुमदार की "वाम" संकीर्णतावादी लाइन का विरोध करते हुए नक्सलबाड़ी में और समग्रता में दार्जीलिंग जिले में, कानू सान्याल और अन्य पार्टी संगठनकर्ताओं ने जो लाइन लागू की, उसके परिणामस्वरूप इलाके में मजदूरों और किसानों का जुझारू और मजबूत संश्रय अस्तित्व में आया, पुरानी ट्रेड यूनियनों और जनसंगठनों पर क्रान्तिकारी लाइन का वर्चस्व स्थापित हुआ और नयी यूनियनों व अन्य जनसंगठनों का निर्माण हुआ। मजदूर-किसान संश्रय की मजबूती को इस बात से समझा जा सकता है कि

नक्सलबाड़ी उभार के दौरान चाय बागानों के मजदूरों ने उसके समर्थन में तीन बार आम हड़तालें की थीं।

'आठ दस्तावेज श्रृंखला' के सातवें और आठवें दस्तावेज 'संशोधनवाद के विरुद्ध संघर्ष कर सशस्त्र पार्टीजन संघर्ष गठित करें' और 'संशोधनवाद के खिलाफ संघर्ष करके ही किसान संघर्ष को आगे बढ़ाना होगा' चारु मजुमदार ने दार्जीलिंग जिले में, और विशेषकर सिलीगुड़ी के नक्सलबाड़ी क्षेत्र में मजदूरों-किसानों के जनान्दोलनों की उपरोक्त घटनाओं के बाद लिखे। सातवाँ दस्तावेज फरवरी 1967 के आम चुनाव के ठीक पहले और आठवाँ दस्तावेज अप्रैल, 1967 में लिखा गया। दार्जीलिंग में विरोधी लाइन के सफल व्यवहार ने चारु मजुमदार को विवश किया कि वे अपने इन दस्तावेजों में खुली जनकार्रवाइयों, आर्थिक संघर्षों और राजनीतिक प्रचार की कार्रवाई का महत्त्व स्वीकार करें, लेकिन ये दस्तावेज भी अतिवामपन्थी भटकाव से मुक्त नहीं थे। इन दस्तावेजों में जनता को संगठित करने के प्रारम्भिक चरण से ही हथियार संग्रह और गुप्त सशस्त्र दस्ते संगठित करने की बात की गयी थी, जनकार्रवाइयों की और जनसंगठन बनाने की कोई स्पष्ट योजना नहीं रखी गयी थी, उन्हें प्रकारान्तर से सशस्त्र कार्रवाइयों के पूरक मात्र का दर्जा दे दिया गया था, क्रान्तिकारी शहरी मध्यवर्ग और मजदूर वर्ग के समक्ष उनके वर्गीय माँगों पर संघर्ष या साझा संघर्ष का कोई कार्यक्रम नहीं रखा गया था, उनका एकमात्र कार्यभार भूमि संघर्ष का समर्थन करना और उसमें भागीदारी करना बताया गया था, तथा भूमि क्रान्ति के ठोस कार्यक्रम और नारे तय कने की आवश्यकता की जगह बस सशस्त्र दस्तों के द्वारा भूस्वामियों की फसल और जमीन पर कब्जे की बात की गयी थी। इन दस्तावेजों का सकारात्मक पक्ष यह था कि इनमें एक नयी क्रान्तिकारी पार्टी के निर्माण एवं गठन पर ठोस रूप में जोर दिया गया था तथा माकपा नेतृत्व की वर्ग सहयोगवादी राजनीति और हर प्रकार के संशोधनवाद के विरुद्ध समझौताहीन संघर्ष करते हुए किसान संघर्ष को आगे बढ़ाने की बात की गयी थी। आने वाले समय ने यह सिद्ध किया कि चारु ने जनदिशा पर सफल अमल और उससे निर्मित माहौल के दबाव में बस थोड़े समय के लिए अपने कदम पीछे खींच लिये थे, अन्यथा अपनी लाइन पर वे सर्वथा सुसंगत और दृढ़ थे। नक्सलबाड़ी में जनदिशा का नेतृत्व करने वाले लोगों की विचारधारात्मक कमजोरी के कारण जैसे ही आन्दोलन में गतिरोध पैदा हुआ, वैसे ही चारु ने विकल्प के तौर पर अपनी लाइन आगे बढ़ा दी, हर प्रकार के खुले, कानूनी और आर्थिक संघर्ष के रूपों, जनान्दोलनों और जनसंगठनों को संशोधनवाद बताते हुए गुप्त सशस्त्र दस्ते बनाकर वर्ग-शत्रुओं के सफाये को ही छापामार-युद्ध घोषित कर दिया और अत्यन्त भोंड़े विकृत रूप में आतंकवादी लाइन पेश की। लेकिन यह अभी आगे की बात है।

1966 में दार्जीलिंग जिले में, विशेषकर नक्सलबाड़ी क्षेत्र में संशोधनवाद के विरुद्ध जो संघर्ष चल रहा था और मजदूरों-किसानों के जो जुझारू संघर्ष लगातार विकसित हो रहे थे, सिलीगुड़ी लोकल कमेटी का नेता और दार्जीलिंग जिला कमेटी का सदस्य होने के नाते इन सबमें नेतृत्वकारी भूमिका चारु मजुमदार की ही मानी जा रही थी। संशोधनवादी, दार्जीलिंग के बाहर की कम्युनिस्ट कतारें और बुर्जुआ दायरे के लोग भी यही समझ रहे थे। चारु मजुमदार और नक्सलबाड़ी के स्थानीय संगठनकर्ताओं के बीच के मतभेद की जानकारी दार्जीलिंग जिला कमेटी के भीतर काम कर रही 'गुप्त कमेटी' तक ही सीमित थी। अक्टूबर, 1966 में माकपा राज्य कमेटी और केन्द्रीय कमेटी के कुछ नेतागण चारु मजुमदार को समझाने सिलीगुड़ी आये, पर उन्होंने उनकी बात मानने से इन्कार कर दिया। इसके पहले जुलाई, 1966 में भी बंगाल राज्य कमेटी के सचिव प्रमोद दास गुप्त उन्हें समझाने-बुझाने के लिए सिलीगुड़ी आये थे और विफल लौट गये थे।

नवम्बर, 1966 में दार्जीलिंग जिले में एक किसान सम्मेलन हुआ जिसमें यह तय हुआ कि बटाईदार किसान फसल का कोई भी हिस्सा जोतदारों को नहीं देंगे। फरवरी, 1967 में विधानसभा चुनाव हुए जिसमें जंगल सन्थाल और सौरेन बसु को क्रमशः फाँसीदेवा और सिलीगुड़ी से पार्टी का टिकट मिला। इस चुनाव के मसले पर भी दार्जीलिंग के पार्टी कार्यकर्ताओं और कुछ नये कार्यकर्ताओं में मतभेद था। दार्जीलिंग के कार्यकर्ताओं का निर्णय था कि इस चुनाव का इस्तेमाल क्रान्तिकारी राजनीति के प्रचार के लिए किया जाये और ऐसा ही किया गया। इसका पर्याप्त लाभ मिला। चुनाव के ठीक बाद, बटाईदारों ने जोतदारों के विरुद्ध फसल-जब्ती का आन्दोलन शुरू कर दिया। किसानों के कई इलाका सम्मेलन हुए जिनमें जोतदारों के कब्जे की जमीन जब्त करने का आन्दोलन शुरू करने के लिए प्रस्ताव पारित किये गये। 7 मई 1967 को सिलीगुड़ी सबडिवीजनल किसान सम्मेलन हुआ जिसमें यह निर्णय लिया गया कि किसान जोतदारों की जमीन पर कब्जा और किसान समितियों के माध्यम से उनके पुनर्वितरण का काम शुरू कर दें, जोतदारों के प्रतिरोध का मुकाबला करने के लिए हथियारबन्द हो जायें और गाँवों में किसान समितियाँ प्रशासन का काम अपने हाथों में ले लें। इस समय तक पश्चिम बंगाल में गैरकांग्रेसी दलों की संयुक्त मोर्चे की सरकार सत्तारूढ़ हो चुकी थी जिसमें माकपा सबसे बड़ी पार्टनर थी और उसका चरित्र ज़्यादा से ज़्यादा नंगा होता जा रहा था। 8 मई से नक्सलबाड़ी, खेरीबाड़ी, फाँसीदेवा और सिलीगुड़ी थानों के कई गाँवों से किसान-विद्रोह की शुरुआत हो गयी।

नक्सलबाड़ी किसान-उभार के विस्तार में जाने से पहले यह जरूरी है कि प. बंगाल में और देश के अन्य हिस्सों में माकपा के नवसंशोधनवाद के विरुद्ध संघर्ष और विद्रोह की जो प्रक्रिया 1964 से लगातार आगे बढ़ रही थी, उसकी चर्चा के छूटे हुए सिरे को पकड़कर आगे बढ़ायें। ऊपर हमने कन्हाई चटर्जी-अमूल्य सेन के नेतृत्व वाले कम्युनिस्ट ग्रुप की और उसके द्वारा प्रकाशित 'चिन्ता' बुलेटिन के छः अंकों की चर्चा की है। 'चिन्ता' ने अपने अंकों में प्रकाशित लेखों में भूमि क्रान्ति के प्रश्न को और इसे पूरा करने के लिए सशस्त्र संघर्ष की अपरिहार्यता को, क्रान्ति के दीर्घकालिक लोकयुद्ध के मार्ग के प्रश्न को, भारतीय राष्ट्र के नवऔपनिवेशिक चरित्र के प्रश्न को और संशोधनवाद के विरुद्ध विचारधारात्मक संघर्ष के प्रश्न को व्यवस्थित ढंग से उठाया। कतारों के बीच वितरित

होने वाला यह गुप्त प्रकाशन काफी लोकप्रिय हो रहा था और बंगाल में संशोधनवादियों के लिए खासा सिरदर्द पैदा कर रहा था। इसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि माकपा के केन्द्रीय मुखपत्र 'पीपुल्स डेमोक्रेसी' और 'स्वाधीनता' में तथा राज्य कमेटी के मुखपत्र 'देशहितैषी' में 'चिन्ता' के लेखों के विरुद्ध कई लेख प्रकाशित हुए। 1966 के मध्य में 'चिन्ता' से जुड़े या उससे मिलते-जुलते विचार रखने वाले पश्चिम बंगाल के कई क्रान्तिकारी कार्यकर्ताओं को "उग्रवादी" करार देकर संगठन से बाहर कर दिया गया। तब बहस को और व्यापक स्तर पर आम कतारों तक पहुँचाने के लिए कन्हाई चटर्जी-अमूल्य सेन के ग्रुप ने 'दक्षिण देश' नामक खुली पत्रिका का प्रकाशन शुरू किया। 1966 से लेकर अक्टूबर 1969 में 'माओवादी कम्युनिस्ट केन्द्र' के गठन तक 'दक्षिण देश' पत्रिका ने साम्राज्यवाद, नवउपनिवेशवाद, सोवियत सामाजिक साम्राज्यवाद, भारतीय राष्ट्र के चरित्र, भारतीय क्रान्ति की रणनीति और रणकौशल सम्बन्धी समस्याओं, क्रान्तिकारी प्रचार कार्य की जनदिशा, छापामार संघर्ष, संशोधनवाद, अर्थवाद, संसदवाद, स्वतःस्फूर्ततावाद आदि विषयों पर कई महत्त्वपूर्ण लेख छापे। इन लेखों ने माकपा के संशोधनवाद के विरुद्ध कतारों की शिक्षा में विशेष मदद की। साथ ही, इसी पत्रिका के जरिये दक्षिण देश ग्रुप ने आगे चलकर ए.आई.सी.सी.सी.आर. पर हावी चारु मजुमदार गुट की लाइन की परोक्ष आलोचना रखते हुए मतभेद के प्रश्नों पर अपनी अवस्थिति भी रखी। इस कालखण्ड की चर्चा लेख में आगे आयेगी। पत्रिका ने इस ग्रुप के आरम्भिक राजनीतिक सुदृढ़ीकरण में काफी सहायता की और इसकी अवस्थिति से सहमत कार्यकर्ताओं को लेकर एक प्रारम्भिक सांगठनिक ढाँचा भी खड़ा हो गया, जिन्हें लेकर मजदूरों, छात्रों, बुद्धिजीवियों के बीच कामों की शुरुआत हुई। 1966 के अन्त से इस ग्रुप ने 24 परगना जिले के सोनारपुर इलाके में किसानों के बीच काम की शुरुआत की जहाँ 1967 के अक्टूबर में, नक्सलबाड़ी विद्रोह के पाँच महीने बाद किसानों का सशस्त्र संघर्ष भड़क उठा जिसे मोर्चा सरकार के बर्बर पुलिस दमन का सामना करना पड़ा।

1966 में ही बंगाल में स्वतःस्फूर्त ढंग से खाद्य आन्दोलन की शुरुआत हुई, जो विशेष रूप से कलकत्ता और निकटवर्ती क्षेत्रों में अधिक तेज था। उस समय माकपा के, बंगाल के केन्द्रीय और राज्य स्तरीय नेताओं की पूरी पुरानी पीढ़ी जेल में थी और पार्टी गतिविधियों के संचालन के लिए लगभग सभी युवा और नये चेहरों को लेकर एक नया राज्य स्तरीय नेतृत्व संगठित किया गया था। इस नये नेतृत्व ने खाद्य आन्दोलन को आगे बढ़ाने के लिए सभी वाम पार्टियों का एक संयुक्त मोर्चा बनाया। लेकिन इस मोर्चे के नेता स्वयंस्फूर्त आन्दोलन को नेतृत्व देने के बजाय जनता के पीछे-पीछे रेंग रहे थे। जबर्दस्त पुलिस दमन से आन्दोलन तो बिखर गया, लेकिन माकपा के नये राज्यस्तरीय नेतृत्व की युवा पीढ़ी ने इसके समाहार के आधार पर, अन्य वाम दलों को छोड़कर, स्वयं अपने बूते पर इस आन्दोलन को पुनस्संगठित करने और आगे ले जाने की एक योजना बनाई। यह तय किया गया कि आन्दोलन को विस्तारित करके गाँवों तक ले जाया जाये, भूस्वामियों की फसल बलपूर्वक जब्त करने का नारा दिया जाये और प्रभावी प्रतिरोध की तैयारी के लिए जरूरी संगठन खड़े किये जायें। इसी समय पुरानी पीढ़ी के नेतागण जेल से छूटकर बाहर आये। शहीद मैदान मीनार में जनता का गर्मजोशी भरा अभिनन्दन स्वीकार करते हुए इन नेताओं ने खाद्य आन्दोलन में जनता की जुझारू भागीदारी की प्रशंसा की और आन्दोलन को आगे बढ़ाने का संकल्प प्रकट किया। लेकिन मंच से नीचे उतरते ही उन्होंने आगामी फरवरी, 1967 में होने वाले चौथे आम चुनाव में संयुक्त मोर्चा बनाकर भागीदारी करने के लिए भाकपा नेताओं के साथ बन्द कमरों में मीटिंगें शुरू दीं। यह कतारों में व्याप्त भावना के एकदम विपरीत था, जो भाकपा को दुश्मन से कम कुछ भी नहीं समझती थीं। खाद्य आन्दोलन के जुझारू तेवर को भूख हड़ताल का नरम रास्ता अपनाकर कुन्द बनाने के भाकपा के प्रयासों का अनुभव अभी ताजा ही था। नतीजतन, कतारों ने पुराने नेतृत्व की खिल्ली उड़ानी शुरू कर दी। जो नया युवा नेतृत्व था, उसने देखा कि जेल से लौटने के बाद पुरानी पीढ़ी के नेता 'देशहितैषी' और 'नन्दन' के सम्पादकमण्डल के कामों में कदम-कदम पर हस्तक्षेप कर रहे हैं और रोक लगा रहे हैं जो रैडिकल क्रान्तिकारी लाइन पर प्रचार-कार्य को जारी रखना चाहता था। खाद्य आन्दोलन में भाकपा की भूमिका को उजागर करने के लिए मार्क्सवाद-लेनिनवाद संस्थान की ओर से प्रकाशित पुस्तिका 'भूख हड़ताल का दर्शन' के वितरण को रोक देने का निर्देश जारी किया गया। जेल जाने से पहले मार्क्सवाद-लेनिनवाद संस्थान की शुरुआत का जिस नेतृत्व ने स्वागत किया था और समर्थन दिया था, उसी ने बाहर आने के बाद इसके कामों को तरह-तरह से रोकना शुरू कर दिया। यहाँ तक कि बुनियादी मार्क्सवाद की विभिन्न स्तरों पर चलने वाली कक्षाएँ भी रोक दी गयीं और कहा गया कि कक्षाओं में केवल पार्टी कार्यक्रम के सूत्रों के औचित्य की ही व्याख्या की जानी चाहिए। खाद्य आन्दोलन को जुझारू ढंग से आगे बढ़ाने की सारी योजनाओं को स्थगित कर दिया गया। यहाँ तक कि जनता की क्रान्तिकारी पहलकदमी को खोलने वाले स्थानीय आंशिक संघर्षों को भी तरह-तरह की तिकड़मों से और नौकरशाहाना तौर-तरीकों से रोका जाने लगा। इन सभी कार्रवाइयों के चलते, माकपा के गठन के समय से ही जारी अन्तर्पार्टी संघर्ष और अधिक गहरा हो गया। भाकपा के साथ संयुक्त मोर्चा बनाने की कोशिशें चुनाव के पहले तो परवान नहीं चढ़ सकीं लेकिन चुनाव के बाद भाकपा, कांग्रेस से अलग होकर बनी बांगला कांग्रेस और सभी गैर कांग्रेसी विपक्षी दलों को साथ लेकर माकपा ने संयुक्त मोर्चे की सरकार बनायी जिसमें गृह और पुलिस विभाग के मन्त्री ज्योति बसु बने। माकपा नेतृत्व का एकमात्र तर्क यह था कि मोर्चे की सरकार में पार्टी के शामिल होने से रैडिकल भूमि-सुधारों के लिए संघर्ष सहित वर्ग संघर्ष को गति मिलेगी और पुलिस दमन से जनता का बचाव होगा। लेकिन कतारों के सामने पार्टी नेतृत्व का संशोधनवादी-संसदवादी-अर्थवादी और नौकरशाह-चरित्र ज़्यादा से ज़्यादा नंगा होता जा रहा था। नक्सलबाड़ी किसान-विद्रोह के फूट पड़ने की घटना और राज्य सरकार द्वारा उसके बर्बर पुलिस दमन ने माकपा नेतृत्व को कतारों के सामने पूरी तरह से नंगा कर दिया था। 1967-68 के दौरान कलकत्ता

और कुछ जिलों में तो ऐसी स्थिति थी कि यदि नक्सलबाड़ी विद्रोह के बाद गठित 'कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों की अखिल भारतीय तालमेल कमेटी' (ए.आई.सी.सी.सी.आर.) में चारु की वामपन्थी आतंकवादी लाइन हावी नहीं होती और यदि जनसंगठनों और जनकार्रवाइयों का पूर्ण परित्याग नहीं किया जाता तो मजदूरों, किसानों, छात्रों, बुद्धिजीवियों के मोर्चे पर कार्यरत कतारों का बहुलांश क्रान्तिकारी धारा के साथ आ खड़ा होता और माकपा के लिए कम से कम प. बंगाल में, अस्तित्व का संकट पैदा हो जाता।

ज्ञातव्य है कि कलकत्ता में 1965 से ही माकपा के भीतर सुशीतल राय चौधरी, सरोज दत्त, परिमल दास गुप्त, असित सेन, प्रमोद सेनगुप्त आदि ने 'अन्तर्पार्टी संशोधनवाद विरोधी कमेटी' बना रखी थी। इस कमेटी से चारु मजुमदार ने 1966 के मध्य में सम्पर्क स्थापित कर लिया था। 'पार्टी के भीतर पार्टी बनाने' का नारा उन दिनों खूब प्रचलित हुआ था और माकपा के भीतर इसी तरह के संशोधनवाद-विरोधी ग्रुप बंगाल के विभिन्न अंचलों के अतिरिक्त आन्ध्र प्रदेश, उत्तर प्रदेश और बिहार में भी अस्तित्व में आ चुके थे। 1966 के अन्त में दार्जीलिंग जिले के क्रान्तिकारी धड़े के साथ 'दक्षिण देश ग्रुप' का भी सम्पर्क स्थापित हो चुका था और 1967 के प्रारम्भ में चारु मजुमदार के साथ उनकी लम्बी बातचीत हुई। दक्षिण देश ग्रुप चुनाव में जंगल सन्थाल और सौरेन बसु को प्रत्याशी बनाये जाने के निर्णय से सहमत नहीं था, बावजूद इसके संशोधनवाद-विरोधी संघर्ष को व्यापक बनाने, किसानों के बीच यथाशक्ति काम को मजबूत बनाने और परस्पर घनिष्ठ सम्पर्क रखने पर दोनों पक्षों में सहमति बनी थी।

3 मई 1967 की सुबह, नक्सलबाड़ी और निकटवर्ती तीन थानों के कुछ गाँवों से एक साथ किसान विद्रोह की शुरुआत हुई। बड़ी संख्या में तीर-धनुष से लैस किसान लाल झण्डा उड़ाते हुए जोतदारों के कब्जे की जमीनों और फसलों पर कब्जा करने लगे। उनकी बन्दूकें भी जब्त की जाने लगीं। इसी दौरान नक्सलबाड़ी थाने के एक गाँव में घटने वाली एक छोटी-सी घटना ने संघर्ष को नया मोड़ दे दिया। बिगुल नामक एक भूमिहीन किसान को दीवानी अदालत से कुछ जमीन पर अधिकार मिला था जिसे स्थानीय जोतदार ईश्वर टिर्की ने मार-पीटकर बेदखल करने की कोशिश की। इस पर स्थानीय किसानों ने एकजुट होकर ईश्वर टिर्की के लठैतों को मार भगाया। ख़बर मिलते ही, हमेशा की तरह 23 मई '67 को किसानों को सबक सिखाने और जोतदार की मदद करने जब पुलिस पहुँची तो तीर-धनुष से लैस तीन हजार किसानों ने उसे घेर लिया। इस झड़प में कई लोग घायल हुए जिनमें पुलिस टुकड़ी के भी तीन आदमी थे। इनमें से इंस्पेक्टर सुनाम वांगदी की दो दिनों बाद अस्पताल में मौत हो गयी। विद्रोही किसानों को कुचलने के लिए उसी दिन, यानी 25 मई को पुलिस की एक बड़ी सशस्त्र टुकड़ी फिर गाँव में पहुँची। उस समय वहाँ किसान विद्रोह के पक्ष में स्त्रियों का एक जुलूस निकल रहा था, जिस पर पुलिस ने अन्धाधुन्ध फायरिंग की। इसमें सात स्त्रियों और दो बच्चों सहित दस लोग शहीद हो गये। इस घटना ने बारूद की ढेरी में पलीता लगाने का काम किया। देखते ही देखते पूरे नक्सलबाड़ी में विद्रोह की आग धधकने लगी। जमीन और फसल पर कब्जे की मुहिम तेज हो गयी। हजारों की तादाद में किसान जगह-जगह एकत्र होते थे, जोतदारों की जमीन पर झण्डे गाड़ते थे और जालिम जोतदारों के घरों पर भी धावा बोलते थे। नक्सलबाड़ी पूरे देश में चर्चा का विषय बन गया। 25 मई हत्याकाण्ड के विरोध में चाय बागान मजदूरों ने हड़ताल कर दी। सिलीगुड़ी में रेल और बिजली मजदूरों का एक बड़ा जुलूस निकला। शिक्षक, छात्र और आम मध्यवर्ग के लोग भी सड़क पर उतरे। सत्तारूढ़ माकपाई संशोधनवादियों में बदहवासी का आलम था। राज्य के तत्कालीन भूमि और भू-राजस्व मन्त्री हरे कृष्ण कोनार एक और मन्त्री, भाकपा के विश्वनाथ मुखर्जी को साथ लेकर भागे-भागे सिलीगुड़ी पहुँचे। कोनार अभी हाल ही में वियतनाम से वर्ग संघर्ष के अनुभवों से "लैस" होकर लौटे थे! भूमि-प्रश्न के पुराने विशेषज्ञ थे। नक्सलबाड़ी किसान विद्रोह की गम्भीर स्थिति से निपटने के लिए उनसे अधिक उपयुक्त व्यक्ति भला और कौन हो सकता था! कोनार सिलीगुड़ी पहुँचकर न तो दार्जीलिंग जिला कमेटी के लोगों से और न ही सिलीगुड़ी के किसान संगठनकर्ताओं से मिले। इसकी जगह सुखना फॉरेस्ट गेस्ट हाउस में शीर्ष पुलिस अधिकारियों के साथ गुप्त बैठक करके वे लौट गये। उधर माकपा के राज्यस्तरीय नेताओं ने सिलीगुड़ी के कई दौरे किये और भूमिगत किसान नेताओं के आत्मसमर्पण की कोशिशें करते रहे। उनका तर्क वही पुराना था कि चूँकि वे अब मन्त्रिमण्डल में हैं, इसलिए आन्दोलन वापस ले लिये जाने पर किसानों की शिकायतें दूर कर दी जायेंगी। लेकिन कार्यकर्ताओं को संशोधनवादी नेतृत्व पर अब रत्ती भर भी भरोसा नहीं रह गया था। गौरतलब है कि माकपा नेताओं ने किसानों की हत्या पर कोई भी शोक नहीं जतलाया। इसके उलट, प्रमोद दासगुप्त ने बयान दिया कि इंस्पेक्टर सुनाम वांगदी की हत्या की प्रतिक्रिया में पुलिस ने उक्त कार्रवाई की थी।

आन्दोलन वापस लिये जाने की सरकारी कोशिशों की विफलता के बाद एक पखवारे का समय भी न बीता था कि राज्य पुलिस और केन्द्र सरकार के अर्द्धसैनिक बलों ने नक्सलबाड़ी में प्रचण्ड दमन चक्र की शुरुआत कर दी। दो हजार से भी कुछ अधिक लोग गिरफ़्तार कर लिये गये। फिर भी कानू सान्याल और जंगल सन्थाल सहित कुछ नेतृत्वकारी संगठनकर्ता भूमिगत रहकर संघर्ष को जारी रखने की कोशिश करते रहे। जंगल सन्थाल कुछ महीनों बाद गिरफ़्तार हुए। कानू सान्याल डेढ़ वर्ष बाद गिरफ़्तार किये जा सके। पूरे इलाके में आतंक-राज कायम किये जाने के बावजूद, इस किसान उभार को कुचलने में सरकार को तीन महीने से भी कुछ अधिक समय लग गया।

इस जन-विद्रोह ने नक्सलबाड़ी के किसानों की क्रान्तिकारी पहलकदमी और सर्जनात्मकमता को निर्बन्ध कर दिया। 'नक्सलबाड़ी कृषक समिति' द्वारा निर्धारित फौरी कार्यक्रम को लागू करते हुए किसानों ने जोतदारों के कब्जे की जमीन को अपने कब्जे में लेकर किसान समितियों के माध्यम से उसका पुनर्वितरण शुरू कर दिया। भू-स्वामित्व सम्बन्धी पुराने सरकारी कागजात और कर्ज सम्बन्धी कागजात को सार्वजनिक सभाओं में जला दिया गया। जोतदारों

और सूदखोरों के कर्जों को रद्द कर दिया गया और कर्ज़ के एवज में गिरवी पड़ी ज़मीनें व अन्य सामान किसानों को वापस कर दिये गये। जोतदारों द्वारा जमा किया गया अनाज और किसानों से जब्त किये गये हल-बैल और अन्य सामान जब्त करके उन्हें किसानों में बाँट दिया गया। जालिम जोतदारों, उनकी मदद करने वाले गुण्डों और सूदखोरों पर किसान समितियों ने खुली अदालतें लगाकर सजाएँ सुनायीं और उन्हें तामील किया। कुछ मामलों में मृत्युदण्ड भी दिये गये। बुर्जुआ कोर्ट-कानून- प्रशासन की मान्यता को खारिज करते हुए किसान समितियों ने घोषित किया कि केन्द्रीय और इलाकाई क्रान्तिकारी कमेटियों के निर्णय ही कानून होंगे। गाँवों के आम प्रशासन चौकीदारी, आपसी विवाद के निपटारे, स्कूलों की व्यवस्था आदि कामों को भी किसान समितियों ने अपने हाथों में लेने की घोषणा कर दी। जोतदारों के प्रतिरोध का किसानों ने हथियारबन्द होकर मुकाबला किया और इन कामों की शुरुआत की। लेकिन यह प्रक्रिया बहुत दिनों तक जारी नहीं रह सकी और बहुत आगे तक नहीं जा सकी। राज्य और केन्द्र के पुलिस बलों ने जब दमन की सुसंगठित मुहिम चलाई और नेतृत्व के ज़्यादातर लोगों को गिरफ़्तार कर लिया गया तो संघर्ष धीरे-धीरे कमजोर पड़ने लगा और बिखरने लगा। फिर भी सरकार को स्थिति पर पूरी तरह से नियन्त्रण स्थापित करने में सितम्बर माह तक का समय लग गया।

इस दौरान नक्सलबाड़ी पूरे देश में चर्चा का केन्द्रीय विषय बना रहा। देश के अखबारों में नक्सलबाड़ी किसान विद्रोह और उसके नेतृत्व की कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी राजनीति की खबरें प्रमुखता के साथ छपती रहीं। कैबिनेट सब-कमेटी ने नक्सलबाड़ी का दौरा किया। बुर्जुआ अर्थशास्त्री, राजनीतिक सिद्धान्तकार, पत्रकार, मार्क्सवादी व बुर्जुआ अकादमीशियन और सरकारी कम्युनिस्ट सबकी कमोबेश एक ही राय थी कि यदि नक्सलबाड़ी जैसे विस्फोटों से और उनके सम्भावित "भयावह" नतीजों से बचना है तो बुर्जुआ भूमि-सुधारों की गति थोड़ी और तेज करनी होगी, भूमि हदबन्दी कानून को कम से कम कुछ हद तक प्रभावी बनाना होगा, किसानों के मालिकाने के सवाल के बुर्जुआ हल की दिशा में कुछ प्रभावी कदम उठाने होंगे और भूमिहीनों में जमीन वितरण के कुछ बुर्जुआ सुधारवादी कार्यक्रम सरकारी-गैरसरकारी स्तर पर हाथ में लेने होंगे। यह वह समय था जब भारतीय पूँजीपति वर्ग राष्ट्रीय बाजार के दायरे और पहुँच-पकड़ के विस्तार के लिए गाँवों में प्राक्पूँजीवादी सम्बन्धों को बदलने की प्रक्रिया में ऊपर से, और क्रमिक परिवर्तन के "प्रशियाई मार्ग" पर धीरे-धीरे कदम बढ़ा रहा था। देश के कुछ हिस्सों में उभरे कुलकों-फार्मरों की प्रेशर-लॉबियाँ कांग्रेस पर इसके लिए दबाव भी बना रही थीं। इधर साम्राज्यवादी भी सीधे "सहायता" और अन्तरराष्ट्रीय एजेन्सियों के जरिये भारत सहित तीसरी दुनिया के अधिकांश महत्त्वपूर्ण देशों में गाँवों में पूँजीवादी विकास करके कृषि में पूँजी निवेश का स्कोप बढ़ाना चाह रहे थे और इसलिए "हरित क्रान्ति" मार्का कृषि-नीतियों पर अमल के लिए वे भारत, इण्डोनेशिया, मलयेशिया, फिलिप्पींस, श्रीलंका आदि देशों के बुर्जुआ वर्ग को पूरी मदद देने के लिए तत्पर थे। साठ के दशक के उत्तरार्द्ध में साम्राज्यवादियों और भारतीय पूँजीपति वर्ग के अपने वर्ग-हितों के तकाजे से, पहले से ही जारी भूमि सम्बन्धों के क्रमिक पूँजीवादी रूपातरण की प्रक्रिया एक नये दौर में प्रवेश कर रही थी। नक्सलबाड़ी किसान-उभार ने इस प्रक्रिया को और तेज करने और सुव्यवस्थित ढंग से बुर्जुआ भूमि-सुधार को लागू करने के लिए भारतीय शासक वर्ग पर दबाव बनाया जिसके चलते भारतीय समाज के पूँजीवादी रूपान्तरण की प्रक्रिया तेज हो गयी, देश के जिन हिस्सों में अभी भी भूमि सम्बन्धों की प्रकृति मुख्यतः प्राक्पूँजीवादी थी, या जहाँ अभी भी प्राक्पूँजीवादी अवशेष बहुत अधिक थे, या फिर जहाँ एक संक्रमणशील पिछड़ी किसानी अर्थव्यवस्था मौजूद थी, उन सभी हिस्सों में पूँजीवादी संक्रमण की गति तेज हो गयी। सत्तर के दशक में ही देश के अधिकांश हिस्से में गाँवों में पूँजीवादी वर्गीय संरचना और पूँजीवादी ध्रुवीकरण की स्थिति एकदम स्पष्ट हो चुकी थी। नक्सलबाड़ी किसान-विद्रोह के तत्काल बाद, जयप्रकाश नारायण ने विनोबा के सर्वोदय, भूदान, ग्रामदान में कूदकर उसमें जान डालने की पूरी कोशिश की। यह अनायास नहीं कि मुशहरी (बिहार) में और देश के अन्य "नक्सल प्रभावित" इलाकों और भूमि-संघर्ष के सम्भावना सम्पन्न क्षेत्रों में ही जयप्रकाश नारायण ने डेरा डालकर ताकत लगाने का काम किया था और वर्ग संघर्ष की आग पर ठण्डे पानी के छींटे डालने का काम किया था। बंगाल में बरगादारों के पंजीकरण के द्वारा जमीन के मालिकाने को आंशिक ढंग से और बुर्जुआ रास्ते से हल करके माकपा के नेतृत्व वाली वाम सरकार ने गाँवों में पूँजीवादी विकास की राह बनाने का वही काम किया जो प्रशा के बिस्मार्क ने और जार के मन्त्री स्तालिपिन ने किया था। इससे भूमि संघर्षों का तनाव विघटित हो गया और गाँवों में वर्ग-सम्बन्धों में बदलाव के साथ ही बंगाल के गाँवों में नये पैदा हुए निरंकुश कुलकों में माकपा का नया सामाजिक आधार तैयार हुआ। कुल मिलाकर, कहा जा सकता है कि नक्सलबाड़ी किसान-उभार का एक महत्त्वपूर्ण अनुवर्ती प्रभाव और उपजात (बाई प्रोडक्ट) यह था कि बुर्जुआ भूमि सुधार की गति तेज करने के लिए भारतीय शासक वर्ग पर एक दबाव निर्मित हुआ और भारतीय समाज के पूँजीवादीकरण की प्रक्रिया मुकम्मल होने की समयावधि सिकुड़कर थोड़ी और छोटी हो गयी। बहरहाल, नक्सलबाड़ी किसान विद्रोह का यह लक्ष्य नहीं बल्कि वस्तुगत प्रभाव था। लेकिन इस प्रभाव ने भी वस्तुगत तौर पर समाज-विकास की गति पर प्रगतिशील प्रभाव ही छोड़ा। पूँजीवादी वर्ग-सम्बन्धों के स्पष्ट और तीव्र होने के साथ ही यह समझना और तय कर पाना अधिक आसान हो गया कि भारतीय क्रान्ति की प्रकृति अब राष्ट्रीय जनवादी न होकर समाजवादी ही होगी।

पर जैसाकि ऊपर कहा गया है, उपरोक्त प्रक्रिया नक्सलबाड़ी का उपजात, अनुवर्ती प्रभाव था। यह एक ऐतिहासिक जनविद्रोह का शासक वर्ग की नीतियों पर पड़ने वाला प्रभाव था। देश के एक सुदूर छोटे-से अंचल के जनउभार ने शासक वर्ग को सोचने के लिए विवश ही इसलिए किया कि इसमें निहित क्रान्तिकारी सम्भावनाएँ स्पष्ट थीं। नक्सलबाड़ी किसान-उभार के दमन और बिखराव के बावजूद, पूरे देश के कम्युनिस्ट आन्दोलन पर उसका जो प्रभाव पड़ा, उसने इस बात को और अधिक स्पष्ट कर दिया। नक्सलबाड़ी कोई स्वयंस्फूर्त किसान-विद्रोह नहीं था। उसके पीछे

ऐसे उदीयमान कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी तत्व सक्रिय थे जो संशोधनवाद से निर्णायक विच्छेद करके नयी क्रान्तिकारी पार्टी के निर्माण एवं गठन के लिए संकल्पबद्ध हो चुके थे। इन कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी तत्वों को ख्रुश्चेवी संशोधनवाद के विरुद्ध चीन की पार्टी द्वारा चलायी गयी 'महान बहस' से विचारधारात्मक दिशा मिली थी और 1966 से चीन में पार्टी और राज्य के पूँजीवादी पथगामियों के विरुद्ध शुरू हुई 'महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति' ने उन्हें यह राह सुझायी थी कि पार्टी के नेतृत्व पर हावी संशोधनवादियों के विरुद्ध विद्रोह करके नये क्रान्तिकारी केन्द्र की स्थापना ही एकमात्र उचित और सही रास्ता है। अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन में जारी विचारधारात्मक बहस में पक्ष न लेने वाले मध्यमार्गियों का संशोधनवादी चरित्र माकपा के गठन और उसके बाद नेतृत्व द्वारा उठाये गये कदमों से काफी हद तक साफ हो चुका था। नक्सलबाड़ी किसान विद्रोह के प्रति उनके रुख ने उन्हें एकदम नंगा कर दिया। यही कारण था कि नक्सलबाड़ी के तुरन्त बाद, पूरे देश में माकपा के भीतर कतारों में विद्रोह की लहर फैल गयी। पराजय के बावजूद, नक्सलबाड़ी ने ऐतिहासिक मूल्यांकन की दृष्टि से महान उपलब्धि हासिल की। देश के एक गुमनाम से ग्रामीण अंचल ने इतिहास को इस तरह प्रभावित किया कि वह क्रान्तिकारी कम्युनिज्म की धारा का एक प्रतीक और एक प्रस्थान-बिन्दु बन गया। लगभग अठारह वर्षों तक संसदवाद के पंककुण्ड में दबे रहने के बाद तेलंगाना की स्पिरिट और परम्परा फिर से नक्सलबाड़ी में उभर आयी और पूरे देश में फैल गयी। आगे चलकर, विचारधारात्मक कमजोरी और उससे पैदा हुए विविध नकारात्मक पक्षों के चलते नक्सलबाड़ी से उत्पन्न हुई राजनीति भारतीय क्रान्ति की नेतृत्वकारी पार्टी के निर्माण एवं गठन तथा क्रान्ति के अग्रवर्ती विकास के रूप में भले ही आगे न बढ़ सकी हो, नक्सलबाड़ी से पैदा हुई क्रान्तिकारी वाम की धारा आगे चलकर भले ही फूट और विघटन का शिकार हो गयी हो, लेकिन भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन में उस समय हावी संसदीय जड़वामनवाद पर नक्सलबाड़ी ने जो निर्णायक प्रभावी चोट की, उसका भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के इतिहास में हरदम महत्त्व बना रहेगा। नक्सलबाड़ी के कुछ और पहलुओं को समेटते हुए सांगोपांग समाहार से पहले यह जरूरी है कि नक्सलबाड़ी किसान-उभार के तुरत बाद वाम राजनीति के दायरे के घटना-प्रवाह पर चर्चा कर ली जाये।

जैसाकि चारु मजुमदार ने 11 नवम्बर 1967 को शहीद मीनार मैदान में हुई जनसभा में अपने भाषण में स्वयं स्वीकार किया था, नक्सलबाड़ी के नेता वे नहीं बल्कि कानू सान्याल, जंगल सन्थाल, कदम मल्लिक और खोकन मजुमदार आदि स्थानीय संगठनकर्ता थे। ऊपर यह चर्चा की जा चुकी है कि अपने आठ दस्तावेजों की शृंखला में चारु मजुमदार ने भूमि-क्रान्ति की शुरुआत जनदिशा के बजाय "वामपन्थी" दुस्साहसवाद के आधार पर करने का जो प्रस्ताव रखा था, उसे ठुकराकर नक्सलबाड़ी का निर्माण हुआ था। नक्सलबाड़ी किसान-उभार वास्तव में क्रान्तिकारी जनदिशा का सत्यापन और "वाम" दुस्साहसवाद का मूर्त नकार था। लेकिन यह कहना गलत होगा कि इसमें चारु और उनके आठ दस्तावेजों की कोई भूमिका ही नहीं थी, क्योंकि 'आठ दस्तावेज' के दो पहलू थे। उसका अहम पहलू यह था कि उसने संशोधनवाद और संसदीय जड़वामनवाद पर निर्णायक चोट करते हुए एक सर्वभारतीय क्रान्तिकारी पार्टी के पुनर्निर्माण और पुनर्गठन का स्पष्ट प्रस्ताव एजेण्डे पर उपस्थित किया। उसका नकारात्मक पक्ष यह था कि उसने भारतीय आर्थिक-सामाजिक- राजनीतिक संरचना का अध्ययन करके भारतीय क्रान्ति की रणनीति एवं आम रणकौशल के निर्धारण के बजाय, न केवल चीनी क्रान्ति के कार्यक्रम व मार्ग के अन्धानुकरण का नारा दिया बल्कि सभी प्रकार की जनकार्रवाइयों, जनसंगठनों के महत्त्व को रद्द करते हुए और आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक शिक्षा एवं प्रचार के महत्त्व को भी नकारते हुए छापामार किसान संघर्ष को सशस्त्र गुप्त दस्तों के 'ऐक्शन' का समानार्थक बनाकर प्रस्तुत किया। नक्सलबाड़ी के नेतृत्व ने इस दूसरे पहलू को खारिज किया, लेकिन पहला पहलू उसका विचारधारात्मक-राजनीतिक आधार बना। कानू सान्याल आदि संगठनकर्ता भी जेल में रहने के दौरान माकपा नेतृत्व के संशोधनवाद के विरुद्ध राजनीतिक तौर पर स्वयं को तैयार कर चुके थे, लेकिन उसके विरुद्ध दस्तावेजों की शृंखला लिखने, उसे कतारों तक ले जाने की कोशिश करने और कानू आदि के जेल से बाहर आने के बाद 'आठ दस्तावेज' के रूप में माकपा नेतृत्व के विरुद्ध विद्रोह की कार्रवाई का सैद्धान्तिक आधार मुहैया करने का काम तो चारु मजुमदार ने ही किया। यानी एक ओर यदि यह कहना गलत है कि नक्सलबाड़ी किसान उभार के नेता और निर्माता चारु थे, वहीं यह तो स्वीकारना ही होगा कि उसका विचारधारात्मक आधार तैयार करने में चारु की बुनियादी रूप से एक अहम भूमिका थी। कहा जा सकता है कि माकपा-राजनीति से निर्णायक विच्छेद करने में चारु की भूमिका निर्णायक थी। चारु नहीं होते तो मुमकिन था कि नक्सलबाड़ी संघर्ष साठ के दशक में उस इलाके में कम्युनिस्ट नेतृत्व में चले बहुतेरे रैडिकल आर्थिक और जनवादी (या संकुचित सीमा वाले राजनीतिक) माँगों पर चलने वाले जन संघर्षों की ही अगली कड़ी बनकर रह जाता। चारु की संशोधनवाद-विरोधी संघर्ष की निर्णायकता के पीछे कहीं एक "वाम" दुस्साहसवादी का निम्न-बुर्जुआ अधैर्य हो सकता है (क्योंकि उनकी "वाम" दुस्साहसवादी लाइन आद्यन्त सुसंगत थी), लेकिन उस समय तो उस निर्णायकता का सकारात्मक पहलू ही प्रभावी था। कहा जा सकता है कि नक्सलबाड़ी के बाद के दौर में क्रान्तिकारी वाम राजनीति के गतिरोध, पराभव और विघटन के लिए चारु की "वामपन्थी" आतंकवादी लाइन ही जिम्मेदार बनी, लेकिन दूसरी ओर यह भी सच है कि चारु नहीं होते तो नक्सलबाड़ी किसान-उभार शायद क्रान्तिकारी वाम राजनीति का एक प्रस्थान बिन्दु और प्रतीक-चिह्न नहीं बन पाता। प्रसिद्ध उक्ति है कि संशोधनवाद करने के पाप का दण्ड मजदूर आन्दोलन "वामपन्थी" दुस्साहसवाद के रूप में भुगतता है। भारत में भी 18 वर्षों के संशोधनवादी दौर के बाद पेण्डुलम का सिरा दूसरे सिरे तक जाने का अन्देशा था और इतिहास की इस द्वन्द्वात्मक विडम्बना का व्यंग्य शायद यह होना था कि संशोधनवाद से निर्णायक विच्छेद की प्रक्रिया में एक ऐसे व्यक्ति को इतिहास के एक नायक का दर्जा हासिल करना था,

जिसकी विचारधारात्मक-राजनीतिक क्षमता नेतृत्वकारी स्तर तक की कदापि नहीं थी और जो अधैर्यशील, आदर्शवादी, भावुक निम्न-बुर्जुआ क्रान्तिकारिता से ग्रस्त था। चारु के समस्त उपलब्ध राजनीतिक लेखन के आधार पर यह कहना गलत नहीं होगा।

नक्सलबाड़ी की घटना के क्रान्तिकारी प्रतीक-चिह्न बनने में जहाँ एक सकारात्मक पक्ष है, वहीं एक नकारात्मक पक्ष भी है। नक्सलबाड़ी किसान-उभार के बाद, पूरे देश की कम्युनिस्ट कतारों में संशोधनवाद के विरुद्ध विद्रोह की एक लहर फैल गयी। पूरे देश में माकपा की क्रान्तिकारी कतारें विद्रोह करने लगीं। अनुभवसंगत धरातल पर माकपा के संशोधनवाद के विरुद्ध जो शंका, अविश्वास और बेचैनी की भावना थी, उसे नक्सलबाड़ी ने विद्रोह की दिशा देकर तरल परिस्थिति को अवक्षेपित कर दिया। देश के विभिन्न राज्यों में क्रान्तिकारी पक्ष के जो नेतृत्वकारी संगठनकर्ता थे, वे तो 'महान बहस', चीन की सांस्कृतिक क्रान्ति और माकपाई मध्यमार्ग की विचारधारात्मक अन्तर्वस्तु से कमोबेश वाकिफ थे, लेकिन आम कतारों के लिए संशोधनवाद और क्रान्तिकारी मार्ग के बीच फैसला करने का एकमात्र सीधा-सादा पैमाना बस यह बन गया कि कोई व्यक्ति नक्सलबाड़ी के पक्ष में है या विपक्ष में। इससे कतारों का ध्रुवीकरण तो तेज गति से हुआ, लेकिन ऐसे किसी भी विचारधारात्मक संघर्ष की सुदीर्घ प्रक्रिया में कतारों की जो विचारधारात्मक-राजनीतिक शिक्षा होती है और सांगठनिक सुदृढ़ीकरण से पूर्व विचारधारात्मक-राजनीतिक सुदृढ़ीकरण की जो आवश्यक प्रक्रिया होती है, वह नहीं हुइ। अपनी विचारधारात्मक-राजनीतिक कमजोरी के चलते क्रान्तिकारी नेतृत्व ने इस पर कोई बल भी नहीं दिया। यह भी एक कारण था कि आगे चलकर कतारें आसानी से "वामपन्थी" दुस्साहसवाद की लहर में बह गयीं और अपनी पारी में, "वामपन्थी" दुस्साहसवादी लाइन ने कतारों की विचारधारात्मक-राजनीतिक सुदृढ़ीकरण की प्रक्रिया के आगे बढ़ने की रही-सही सम्भावना का गला भी घोंट दिया। कल्पना करें, यदि 1967 में नक्सलबाड़ी की घटना नहीं घटित हुई होती। तब क्या भारत में मार्क्सवादी-लेनिनवादी धारा पैदा ही नहीं होती? ऐसा नहीं था। आठ दस्तावेजों का लेखन, 'चिन्ता' ग्रुप का संशोधनवाद-विरोधी संघर्ष और माकपा के भीतर संशोधनवादी नेतृत्व के विरुद्ध कतारों के असन्तोष और संशोधनवाद-विरोधी धड़ेबन्दियों की विविध रूपों में नक्सलबाड़ी विद्रोह से पहले के दौर में मौजूदगी इस बात का संकेत देती हैं कि उस स्थिति में संशोधनवाद के विरुद्ध लम्बा विचारधारात्मक संघर्ष चलता जो अपनी तार्किक परिणति तक पहुँचकर किसी वैकल्पिक क्रान्तिकारी नेतृत्वकारी केन्द्र को जन्म देता। गौरतलब है कि एशिया, अफ्रीका और लातिन अमेरिका के बहुतेरे देशों में (और यूरोप-अमेरिका में भी) साठ के दशक में 'महान बहस' और चीन की महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति से विचारधारात्मक मार्गदर्शन प्राप्त करके क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट कतारों ने ख्रुश्चोवी संशोधनवादी नेतृत्व से विद्रोह करके मार्क्सवादी-लेनिनवादी पार्टियों एवं संगठनों का गठन किया था। भारत में भी ऐसा ही होता, इसी की सम्भावना अधिक थी और उस स्थिति में लम्बे विचारधारात्मक संघर्ष के दौरान कतारों की राजनीतिक शिक्षा और सुदृढ़ीकरण की प्रक्रिया बेहतर ढंग से चलती। यानी नक्सलबाड़ी ने संशोधनवाद से विच्छेद और ध्रुवीकरण की प्रक्रिया को तीव्र और संक्षिप्त बना दिया, लेकिन इस तीव्रता और संक्षिप्तता ने दो लाइनों के सघन-सुदीर्घ संघर्ष की प्रक्रिया के दौरान होने वाले कतारों के विचारधारात्मक- राजनीतिक सुदृढ़ीकरण की प्रक्रिया पर गम्भीर प्रतिकूल प्रभाव छोड़ा। आज वस्तुगत तौर पर, भारत के कम्युनिस्ट आन्दोलन का जो इतिहास हमारे सामने है, उसमें नक्सलबाड़ी एक मील के पत्थर का स्थान रखता है, लेकिन उसी से जुड़ा हुआ जो अन्तर्निहित दूसरा पहलू है, उसकी अनदेखी नहीं की जा सकती। उसकी अनदेखी करके नक्सलबाड़ी की गौरवशाली क्रान्तिकारी परम्परा का पुनरुज्जीवन और विस्तार तो कतई सम्भव नहीं है, भावविह्वल परम्परा-पूजा का अनुष्ठान भले ही सम्पन्न कर लिया जाये।

नक्सलबाड़ी के ऐतिहासिक मूल्यांकन से ही जुड़ा एक और पहलू है, जिस पर यहाँ चर्चा जरूरी है क्योंकि चार दशक बाद पश्चदृष्टि से देखने पर चीजें आज अधिक साफ दीखती हैं। नक्सलबाड़ी उत्तर-औपनिवेशिक काल के एक ऐसे दौर में हुआ, जब पूरा भारत असमान रूप से एक संक्रमण से गुजरते हुए एक लम्बी संक्रमण-अवधि के कमोबेश मध्यबिन्दु पर खड़ा था। सत्तारूढ़ भारतीय पूँजीपति वर्ग विगत दो दशक से बुर्जुआ सत्ता का सुदृढ़ीकरण करते हुए अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा का लाभ उठाकर तथा आयात-प्रतिस्थापन की नीतियों को लागू करते हुए अपने औद्योगिक-वित्तीय आधार का विस्तार कर रहा था और साथ ही वह गाँवों को पूँजीवादी राष्ट्रीय बाजार की चौहद्दी में समेट लेने के लिए भूमि सम्बन्धों को भी, ऊपर से, बुर्जुआ क्रमिक भूमि सुधार की नीतियों को लागू करते हुए, बदलने के लिए चेष्टाशील था। यह प्रक्रिया पूरे देश में असमान रूप से जारी थी। जैसे, जम्मू-कश्मीर में सापेक्षतः सर्वाधिक रैडिकल भूमि-सुधार सबसे पहले हुए। साठ के दशक के मध्य तक स्थिति यह थी कि पंजाब, पश्चिमी उत्तर प्रदेश और महाराष्ट्र, आन्ध्र प्रदेश के कुछ क्षेत्रों में पूँजीवादी खेती की प्रवृत्ति जोर पकड़ चुकी थी और कुलक वर्ग शक्तिशाली बन चुका था। देश के कई क्षेत्रों में सामन्ती भूस्वामियों की मौजूदगी के साथ ही उन्हीं के बीच से कुछ पूँजीवादी भूस्वामी भी पैदा हो चुके थे और बड़े काश्तकारों के बीच से कुछ कुलक भी पैदा हो चुके थे। कुछ क्षेत्रों में सामन्ती अवशेष ज़्यादा थे, कुछ में कम थे, कुछ पिछड़ी हुई किसानी अर्थव्यवस्था की संक्रमणशील अवस्था में थे और कहीं अर्द्ध सामन्ती भूमि सम्बन्धों का पहलू ही अभी प्रधान था। बंगाल, बिहार, उड़ीसा जैसे राज्यों में उस समय, या तो अर्द्धसामन्ती भूमि-सम्बन्धों की प्रधानता थी या मजबूत सामन्ती अवशेष मौजूद थे। बंगाल में जब तक बरगादारों के पंजीकरण के द्वारा मालिकाने का सवाल आंशिक तौर पर हल नहीं हुआ था। जब तक भूमि-सम्बन्धों का अर्द्धसामन्ती स्वरूप मुख्यतः कायम था। नक्सलबाड़ी किसान-उभार ऐसे ही समय में हुआ। पूरे देश के क्रान्तिकारी कतारों को नक्सलबाड़ी टाइप भूमि-संघर्ष विकसित करने का नारा दिया गया। इस नारे की पहली विसंगति तो यही थी कि यह नक्सलबाड़ी की संशोधनवाद-विरोधी विचारधारात्मक विरासत की जगह नक्सलबाड़ी के रास्ते को ही पूरे भारत के लिए सामान्य

बनाकर प्रस्तुत कर रहा था और विचारधारा और कार्यक्रम के प्रश्न को परस्पर गड्डमड्ड कर रहा था। उस पर से अतिरिक्त बात यह कि जब यह नारा दिया जा रहा था, उस समय नक्सलबाड़ी का लेबुल लगाकर वस्तुतः "वामपन्थी" आतंकवाद की लाइन बेची जा रही थी। लेकिन हम कहना यह चाहते हैं कि यदि पूरे देश में नक्सलबाड़ी की क्रान्तिकारी जनदिशा वास्तव में लागू भी की जाती तो सफल नहीं होती। देश के जिन हिस्सों में पूँजीवादी भूमि-सम्बन्ध विकसित हो चुके थे और जहाँ संक्रमणशील अवस्था थी, वहाँ न तो चार वर्गों के रणनीतिक संश्रय के आधार पर भूमि-क्रान्ति को लागू कर पाना सम्भव था, न ही छापामार संघर्ष का विकास और आधार-क्षेत्र का निर्माण सम्भव था। पूरे देश की स्थिति उस समय भी ऐसी नहीं रह गयी थी कि देहातों में मुक्त क्षेत्र का निर्माण करके गाँवों से शहरों को घेरते हुए दीर्घकालिक लोकयुद्ध की सामरिक रणनीति को अमल में लाया जा सके। अर्द्धसामन्ती-अर्द्धऔपनिवेशिक चीन से भिन्न उत्तर-औपनिवेशिक दौर के भारत में एक केन्द्रीकृत राज्यसत्ता थी जिसके सामाजिक अवलम्ब व्यापक थे, अधिक विकसित राज्यसत्ता, सैन्यतन्त्र, और संचार-यातायात व्यवस्था थी। यहाँ न तो चीन जैसी स्थिति थी, न ही वियतनाम, कम्बोडिया और सैन्य तानाशाही वाले लातिन अमेरिकी देशों जैसी स्थिति थी। एक समस्या यह भी थी कि चीन की पार्टी के 1963 के विश्व सर्वहारा क्रान्ति की आम दिशा-विषयक दस्तावेज में या लिन प्याओ के 1965 के लेख 'लोकयुद्ध की विजय अमर रहे' में तीसरी दुनिया के देशों में लोक जनवादी क्रान्ति का जो आम सूत्रीकरण दिया था, वह एशिया, अफ्रीका, लातिन अमेरिका के अधिकांश उपनिवेशों और नवउपनिवेशों के लिए तो ठीक था, (और आम तौर पर उस समय सही था) पर उसके फ्रेमवर्क या स्कीम में भारत, मिस्र, इण्डोनेशिया, मलाया, आदि ऐसे नवस्वाधीन देश पूरी तरह से फिट नहीं होते थे जहाँ पूँजीवादी संक्रमण की प्रक्रिया जारी थी। चीन की पार्टी द्वारा भारतीय बड़े पूँजीपति वर्ग को दलाल और भारत को नवउपनिवेश मानने का सूत्रीकरण भी सच्चाई से मेल नहीं खाता था। समस्या यह थी कि उत्तर औपनिवेशिक समाजों के परिवर्तनशील यथार्थ की गतिकी को पकड़ने के बजाय उसे औपनिवेशिक दौर की निरन्तरता मानकर चलने की प्रवृत्ति अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन में हावी रही थी और चीन की पार्टी के भारत-विषयक सूत्रीकरण भी इस दोष से मुक्त नहीं थे। समस्या यह भी थी कि बिस्मार्ककालीन प्रशा, जारकालीन रूस या कमाल अतातुर्ककालीन तुर्की की स्थितियों से अलग एक उत्तरऔपनिवेशिक समाज में सत्तारूढ़ बुर्जुआ वर्ग (जो साम्राज्यवाद का कनिष्ठ साझीदार था लेकिन राज्यसत्ता का स्वामी था और सीमित बुर्जुआ जनवाद को अमल में ला रहा था), पहली बार बुर्जुआ भूमि-सुधार की वैसी ही नीतियाँ लागू कर रहा था, इसलिए इसे पुराने फ्रेमवर्क को तोड़कर ही समझा जा सकता था, जो नहीं हुआ। बहरहाल, मूल प्रसंग पर लौटते हुए, हम कहना यह चाहते हैं कि यदि नक्सलबाड़ी टाइप संघर्ष का मॉडल पूरे देश में वास्तव में लागू करने की कोशिश भी होती, यदि जनदिशा लागू भी होती, तो भी, 1967-70 में पूरे देश में ऐसी परिस्थितियाँ नहीं थी कि कोई सफलता मिल पाती। ज़्यादा से ज़्यादा, देश के अर्द्धसामती भूमि-सम्बन्धों वाले इलाकों में, मजबूत सामन्ती अवशेषों वाले इलाकों में ही ऐसा हो पाता और उसकी तार्किक परिणति महज इसी रूप में सामने आती कि बुर्जुआ वर्ग उन क्षेत्रों में बुर्जुआ भूमि सुधारों की गति तेज कर देता। यह अनायास नहीं है कि आगे चलकर जिन मा-ले संगठनों ने क्रान्तिकारी जनदिशा के आधार पर लोक जनवादी कार्यक्रम को लागू करने की कोशिश की भी, वे सफल नहीं हो सके और लम्बे गतिरोध की परिणति के तौर पर आज वे संगठन मालिक किसानों के लाभकारी मूल्य और लागत मूल्य की कमी की वर्गीय माँगों को लेकर लड़ने वाले मार्क्सवादी नरोदवादी बन चुके हैं। तात्पर्य यह कि 1967-70 में भी नक्सलबाड़ी पूरे देश के लिए एक सार्विक परिघटना नहीं हो सकता था। यूँ कहें कि, यदि क्रान्तिकारी जनदिशा लागू भी होती तो नक्सलबाड़ी के रास्ते की राष्ट्रव्यापी सफलता 1967 में सन्दिग्ध थी और इसलिए नक्सलबाड़ी भी बहुत दिनों तक टिका नहीं रह पाता। नक्सलबाड़ी के बाद गठित कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों की अखिल भारतीय तालमेल कमेटी यदि अध्ययन और प्रयोग के आधार पर भारतीय क्रान्ति के कार्यक्रम के निर्धारण के अपने काम को पूरा करने में कोताही नहीं बरतती तो क्रान्तिकारी जनसंघर्ष निरन्तरता की प्रक्रिया में ही अपनी कार्यक्रममूलक दिशा बदल लेते। लेकिन उस स्थिति में भी, नक्सलबाड़ी किसान-उभार का ऐतिहासिक विचारधारात्मक महत्त्व संशोधनवाद से निर्णायक विच्छेद के मोड़-बिन्दु के रूप में अक्षुण्ण बना रहता।

जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, नक्सलबाड़ी सशस्त्र किसान विद्रोह चारु मजुमदार की "वामपन्थी" अवसरवादी लाइन पर सही क्रान्तिकारी लाइन की विजय पर आधारित था। लेकिन सत्ता के दमन के बाद, संघर्ष जब गतिरोध का शिकार हुआ तो जनदिशा को लागू करने वाले कानू सान्याल आदि नेतृत्व के लोगों ने विचारधारात्मक अपरिपक्वता के चलते स्वयं को विकल्पहीन और किंकर्त्तव्यविमूढ़ अवस्था में पाया। इस स्थिति में चारु मजुमदार ने अपनी आतंकवादी लाइन को फिर आगे बढ़ाया और नक्सलबाड़ी के नेतृत्व ने उसके आगे पूरी तरह से आत्म-समर्पण कर दिया। आर्थिक संघर्षों के महत्त्व को पूरी तरह नकारने वाले चारु मजुमदार का कहना था कि नक्सलबाड़ी में किसान जमीन या किसी आर्थिक माँग के लिए नहीं लड़कर राज्यसत्ता के लिए लड़े थे। सितम्बर 1968 में कानू सान्याल ने नक्सलबाड़ी का सार-संकलन करते हुए 'तराई क्षेत्र के किसान आन्दोलन पर रिपोर्ट' नामक जो दस्तावेज लिखा, उसमें उन्होंने चारु की इसी स्थापना को दुहराया। पुनः 1974 में अपनी अवस्थिति बदलकर उन्होंने "वामपन्थी" दुस्साहसवाद की आलोचना करते हुए 'मोर अबाउट नक्सलबाड़ी' शीर्षक जो लेख लिखा उसमें यह लिखा कि भूमि क्रान्ति में जमीन और राज्यसत्ता के प्रश्न अन्तर्ग्रन्थित होते हैं और नक्सलबाड़ी में भी ऐसा ही था। यह न तो सैद्धान्तिक तौर पर सही है, न ही व्यावहारिक तौर पर ऐसा हुआ था। भूमि क्रान्ति के दौर में किसान जमीन के मालिकाने की माँग के लिए अपना संघर्ष शुरू करते हैं। पार्टी इस बात का लगातार प्रचार करती है कि इस प्रश्न को राज्यसत्ता के साथ संघर्ष करके ही हल किया जा सकता है। किसान पार्टी नेतृत्व में जब

जमीन और फसल पर कब्जे की मुहिम चलाते हैं तो उन्हें जमींदारों और राज्यसत्ता के दमनतन्त्र का सामना करना पड़ता है, जिसका मुकाबला करने के लिए वे हथियारबन्द होते हैं; स्वयंसेवक दस्ते जनमिलिशिया और छापामार दस्ते बनाते हैं और संघर्ष क्रमशः इलाकावार सत्ता दख़ल की मंजिल तक विकसित होता है। इस प्रक्रिया में जमीन का सवाल आगे बढ़कर राज्यसत्ता का सवाल बन जाता है। नक्सलबाड़ी में भी यही प्रक्रिया जारी थी, जिसे कानू सान्याल ने न तो 1967 में समझा और न ही 1974 में समझा। 1974 में "वामपन्थी" आतंकवाद की आलोचना करते हुए दक्षिणपन्थी अवसरवादी भटकाव के दूसरे छोर पर जा खड़े हुए थे, जिसकी चर्चा इस लेख में आगे की जायेगी। तराई किसान रिपोर्ट में उन्होंने किसान सम्मेलन द्वारा निर्धारित "दस महान कार्यों" को पूरा करने में नेतृत्व देने में निम्न-पूँजीवादी भटकावग्रस्त नेतृत्व की विफलता, नेतृत्व का जनता में भरोसा न होने, एक शक्तिशाली जनाधार के अभाव, एक मजबूत पार्टी ढाँचे के अभाव, राजनीतिक सत्ता की स्थापना और क्रान्तिकारी भूमि-सुधार के बारे में रूपवादी पहुँच और पुरानी संशोधनवादी सोच के असर तथा सामरिक मामलों की गैरजानकारी को नक्सलबाड़ी किसान-विद्रोह की विफलता के लिए जिम्मेदार बताया था। वास्तव में यह एक सतही, रूपवादी और सार-संग्रहवादी समाहार था। सच्चाई यह है कि नक्सलबाड़ी किसान-विद्रोह शुरू होने से पहले नेतृत्व ने दूर की सोचकर कोई व्यवस्थित तैयारी की ही नहीं थी। किसानों की सशस्त्र प्रतिरक्षा आगे किस प्रकार छापामार दस्तों के निर्माण की अवस्था तक विकसित होगी और दमन की स्थिति में अपनी सशस्त्र शक्तियों को अन्य क्षेत्रों में किस प्रकार बिखराया जायेगा, इसकी कोई योजना नहीं थी। निकटवर्ती जंगलों और पर्वतीय क्षेत्रों में पृष्ठभागीय आधार बनाने की कोई योजना नहीं थी। उल्लेखनीय है कि स्थिति को सँभालने के लिए, काफी बाद में, 1968 में मिरिक के पहाड़ी इलाके में एक पृष्ठभागीय क्षेत्र विकसित करने की कोशिश की गयी जो सफल नहीं हुई। इससे भी अहम बात यह थी कि स्थितियाँ तब तक सँभालने लायक रह ही नहीं गयीं थी। और इससे भी अहम बात यह थी कि एक सुसंगठित कम्युनिस्ट पार्टी के अभाव में दीर्घकालिक लोकयुद्ध की परिस्थिति होने पर भी उसे आगे नहीं बढ़ाया जा सकता था। ऐसी स्थिति में यदि एक योग्य नेतृत्व होता तो कुछ समय तक संघर्ष को स्थगित या विलम्बित करने के लिए रणकौशलात्मक स्तर पर शत्रु से कुछ समझौते की राह भी चुन सकता था, पर बिना जनता के बीच गहन राजनीतिक प्रचार और तैयारी के, यदि यह किया जाता तो निरुत्साह और बिखराव पैदा होना लाजिमी होता। नक्सलबाड़ी में भी यही स्थिति थी।

इन्हीं परिस्थितियों में नक्सलबाड़ी के नेतृत्व ने चारु की लाइन के आगे पूरी तरह से घुटने टेक दिये। तराई रिपोर्ट में कानू सान्याल ने नक्सलबाड़ी के पूर्व चारु की लाइन और जनदिशा के बीच के संघर्ष और चतरहाट-इस्लामपुर प्रसंग की कोई चर्चा नहीं की है और विशेष तौर पर नक्सलबाड़ी संघर्ष में चारु के योग्य नेतृत्व की भूमिका को रेखांकित किया है। इन तथ्यों का उल्लेख उन्होंने पहली बार 1974 में किया। विचारधारात्मक कमजोरी से जन्मी इस अवसरवादी आत्मसमर्पणकारी प्रवृत्ति ने "वामपन्थी" आतंकवाद के हावी होने में निश्चय ही काफी मदद पहुँचायी।

बहरहाल, नक्सलबाड़ी का ऐतिहासिक महत्त्व उस घटना की स्थानीयता में निहित नहीं था। मुख्य बात यह थी कि उसने संशोधनवाद से निर्णायक संघर्ष और रैडिकल विच्छेद तथा एक नयी क्रान्तिकारी पार्टी के निर्माण एवं गठन की अनिवार्य आवश्यकता के सन्देश को पूरे देश की कम्युनिस्ट कतारों तक पहुँचा दिया था। कम्युनिस्ट कतारों में एक नये उत्साह और ऊर्जस्विता का संचार हो चुका था। संशोधनवादी बदहवास थे। बुर्जुआ वर्ग इस नयी लहर को गम्भीर चुनौती के रूप में देख रहा था।

एजेण्डा पर कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों की एकता का सवाल : एक सर्वभारतीय पार्टी के गठन की ओर

नक्सलबाड़ी में सशस्त्र किसान विद्रोह के विस्फोट के तुरत बाद पूरे देश में माकपा की पार्टी कतारों में और पार्टी के बाहर के कम्युनिस्ट तत्वों के बीच संशोधनवाद के विरुद्ध विद्रोह की लहर दौड़ पड़ी। बंगाल से बाहर, उत्तर प्रदेश, बिहार, आन्ध्र प्रदेश, केरल, तमिलनाडु, पंजाब, जम्मू-कश्मीर, असम, उड़ीसा और त्रिपुरा में पार्टी-कतारों के विद्रोह से अराजकता और विभाजन की स्थिति उत्पन्न होने लगी। भारी संख्या में नये युवा तत्व भी इस क्रान्तिकारी लहर की ओर आकृष्ट हुए। पार्टी के भीतर और बाहर, स्वयंस्फूर्त ढंग से क्रान्तिकारी ग्रुप बनने लगे। यदि केवल प. बंगाल का उदाहरण लें तो वहाँ 'निशान', 'पदातिक', 'भित्ति', 'सूर्यसेन', 'छात्र फौज' आदि कई ग्रुप सक्रिय हो गये थे, जिन्होंने संशोधनवाद विरोधी सैद्धान्तिक संघर्ष और क्रान्तिकारी प्रचार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। 1966 से ही सक्रिय 'चिन्ता ग्रुप' और पार्टी के भीतर गठित 'अन्तर्पार्टी संशोधनवाद विरोधी कमेटी' की पहले ही चर्चा की जा चुकी है।

अलग-अलग राज्यों में माकपा के भीतर संशोधनवादी संघर्ष को नेतृत्व देने वालों में आन्ध्र प्रदेश के डी. वी. राव और नागी रेड्डी तो राष्ट्रीय स्तर के नेता थे और केन्द्रीय कमेटी के सदस्य भी रह चुके थे। इनके अतिरिक्त बिहार में सत्यनारायण सिंह, उत्तर प्रदेश में शिवकुमार मिश्र, जम्मू-कश्मीर में आर. पी. सर्राफ सहित कई राज्य स्तरीय नेतृत्व के लोग भी थे। बंगाल में सुशीतल राय चौधरी और सरोज दत्त राज्य स्तरीय नेता थे, परिमल दास गुप्त और असित सेन प्रसिद्ध ट्रेड यूनियन नेता और सिद्धान्तवेत्ता थे। उपरोक्त राज्यों में कतारों का बड़ा हिस्सा विद्रोहियों के साथ था।

14 जून 1967 को कलकत्ता के राममोहन लाइब्रेरी हॉल में नक्सलबाड़ी में किसानों की हत्या और दमन के विरोध में तथा संग्रामी किसानों के समर्थन में कुछ ऐसी मजदूर यूनियनों के आह्वान पर एक जनसभा हुई, जिनका नेतृत्व माकपा की संशोधनवादी, अर्थवादी नीतियों से असन्तुष्ट था। इसमें एक प्रस्ताव पारित करके 'नक्सलबाड़ी और कृषक संग्राम सहायक कमेटी' की स्थापना की गयी जिसका सचिव प्रसिद्ध ट्रेड यूनियन नेता और माकपा की कलकत्ता जिला कमेटी के सदस्य परिमल दासगुप्त को बनाया गया।

देश भर के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी तत्वों से सम्पर्क स्थापित करने का काम सबसे पहले इसी कमेटी के बैनर तले शुरू किया गया।

प. बंगाल राज्य कमेटी के मुखपत्र 'देशहितैषी' का दफ़्तर उस समय क्रान्तिकारी तत्वों के नियन्त्रण में आ गया था। उसके सम्पादक मण्डल में सुशीतल रायचौधरी और सरोज दत्त शामिल थे और बहुमत भी उन्हीं के साथ था। 28 जून 1967 को माकपा नेतृत्व ने बलपूर्वक उन सबको निकाल बाहर करके दफ़्तर पर कब्जा किया। इसके एक सप्ताह बाद बांगला साप्ताहिक 'देशव्रती' का प्रकाशन शुरू हुआ जो मार्क्सवादी-लेनिनवादियों का पहला मुखपत्र था। इस समय तक माकपा नेतृत्व देशव्यापी छँटनी मुहिम शुरू कर चुका था। पूरे देश में नक्सलबाड़ी के पक्ष में मुखर एक हजार से भी अधिक नेताओं-कार्यकर्ताओं को पार्टी से निकाल बाहर किया गया। अकेले बंगाल में ही निष्कासित लोगों की संख्या चार सौ से अधिक थी। बंगाल के निष्कासित लोगों में चारु मजुमदार, कानू सान्याल, सौरेन बसु, सरोज दत, सुशीतल रायचौधरी, परिमल दासगुप्त, असित सेन, सुनीति कुमार घोष आदि प्रमुख थे। बिहार से सत्यनारायण सिंह, गुरुबख़्श सिंह, उत्तर प्रदेश से शिवकुमार मिश्र, महेन्द्र सिंह, श्रीनारायण चतुर्वेदी, आर.एन. उपाध्याय, पंजाब से दया सिंह, जगजीत सिंह सोहल, बलवन्त सिंह आदि कई नेता निष्कासित लोगों में शामिल थे। इसके बाद तो निष्कासन का यह सिलसिला 1969 तक कई किश्तों में लगातार चलता रहा। नक्सलबाड़ी किसान-विद्रोह के पक्ष में पीकिंग रेडियो के प्रसारणों ने भी कार्यकर्ताओं को पक्ष चुनने के लिए प्रेरित करने में एक अहम भूमिका निभायी। पाँच जुलाई, 1967 को 'पीपुल्स डेली' (चीनी पार्टी का मुखपत्र) में 'भारत में वसन्त का वज्रनाद' शीर्षक लेख छपा, जिसमें नक्सलबाड़ी का समर्थन करते हुए माकपा के नवसंशोधनवादियों को भी गद्दार और भारतीय शासक वर्ग का चाकर घोषित किया गया था। इसके बाद 'पीपुल्स डेली' में कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन के पक्ष में कई टिप्पणियाँ छपीं। इनका एक दूरगामी नकारात्मक प्रभाव यह था कि आगे चलकर चारु मजुमदार ने इसका लाभ अपनी लाइन की अन्तरराष्ट्रीय मान्यता के रूप में प्रचार करके उठाया। एक दूसरा नकारात्मक प्रभाव यह था कि चीनी पार्टी की धारणा के हिसाब से, भारतीय कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों ने कार्यक्रम के प्रश्न पर सोच-विचार को एजेण्डे से ही हटा दिया और यह मानकर चलने लगे कि भारत में भी चीन की तरह नवजनवादी क्रान्ति और दीर्घकालिक लोकयुद्ध का रास्ता ही लागू होगा। लेकिन तात्कालिक तौर पर चीन की पार्टी की अवस्थिति ने भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन में ध्रुवीकरण की प्रक्रिया को तेज करके क्रान्तिकारी पक्ष की मदद की।

11 नवम्बर 1967 को 'नक्सलबाड़ी और कृषक संग्राम सहायक कमेटी' की ओर से अक्टूबर क्रान्ति दिवस मनाने और मार्क्सवादी-लेनिनवादी के प्रचार के लिए कलकता के शहीद मीनार मैदान में एक जनसभा बुलायी गयी जिसमें चारु मजुमदार ने खुले मंच से अपना अन्तिम भाषण दिया। इस सभा में पारित प्रस्ताव में सोवियत संशोधनवाद की भर्त्सना करते हुए चीन की पार्टी का समर्थन किया गया और माकपा को भी एक संशोधनवादी पार्टी बताते हुए उसकी निन्दा की गयी। इसके तुरन्त बाद, पूर्व योजना के अनुसार, सात राज्यों के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी प्रतिनिधियों की एक बैठक हुई जिसमें महत्त्वपूर्ण राजनीतिक-सांगठनिक प्रश्नों पर विचार-विमर्श के बाद 'भा.क.पा. (मा.) के क्रान्तिकारियों की अखिल भारतीय तालमेल कमेटी' (ऑल इण्डिया कोऑर्डिनेशन कमेटी ऑफ दि रिवोल्यूशनरीज ऑफ दि सी.पी.आई. (एम.)) का गठन किया गया और उसकी ओर से एक घोषणा जारी की गयी। इस तालमेल कमेटी ने अपने चार मुख्य कार्यभार निर्धारित किये : (1) मजदूर वर्ग के नेतृत्व में सभी स्तरों पर जुझारू और क्रान्तिकारी संघर्षों का ख़ासकर नक्सलबाड़ी की तरह किसान-संघर्षों का विकास करना और उनके बीच तालमेल कायम करना, (2) मजदूर वर्ग और अन्य मेहनतकशों के जुझारू संघर्षों का विकास करना, अर्थवाद से लड़ना और इन संघर्षों को कृषि क्रान्ति की दिशा में मोड़ना, (3) संशोधनवाद और नवसंशोधनवाद के विरुद्ध समझौताहीन सैद्धान्तिक संघर्ष चलाना और माओ त्से-तुङ विचारधारा को, जो वर्तमान युग का मार्क्सवाद-लेनिनवाद है, लोकप्रिय बनाना और इसके आधार पर पार्टी के भीतर के और बाहर के सारे क्रान्तिकारी तत्वों को ऐक्यबद्ध करना, और (4) माओ त्से-तुङ विचारधारा की रोशनी में भारतीय परिस्थिति के सुनिश्चित विश्लेषण के आधार पर क्रान्तिकारी कार्यक्रम और रणकौशल तैयार करने की जिम्मेदारी लेना।

देश के विभिन्न हिस्सों में सक्रिय कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों से सम्पर्क स्थापित करने का काम पहले से ही मुख्यतः सुशीतल रायचौधरी कर रहे थे। उन्हें ही तालमेल कमेटी का सचिव चुना गया और उनके सम्पादन में अंग्रेजी मासिक मुखपत्र 'लिबरेशन' निकालने का निर्णय लिया गया। इसका पहला अंक नवम्बर, 1967 में प्रकाशित हुआ।

आन्ध्र प्रदेश में माकपा के शीर्ष नेताओं में से दो टी. नागी रेड्डी और डी. वी. राव भी माकपा नेतृत्व के संशोधनवाद के विरुद्ध शुरू से ही संघर्षरत थे। उन्होंने नक्सलबाड़ी का पक्ष लिया था। लेकिन उनका विचार था कि माकपा के भीतर जब तक सम्भव हो, रहते हुए संशोधनवाद के विरुद्ध संघर्ष चलाया जाना चाहिए ताकि कतारों के बड़े हिस्से को क्रान्तिकारी पक्ष के साथ खड़ा किया जा सके। इस मसले पर चारु मजुमदार के साथ उनका मतभेद था। अप्रैल, 1968 में माकपा का बर्दवान प्लेनम हुआ जो मुख्यतः विचारधारात्मक प्रश्न पर केन्द्रित था। प्लेनम में पारित होने वाले दस्तावेज 'विचारधारात्मक विचार-विमर्श के लिए' का मसौदा पहले वितरित हो चुका था और उस पर डी.वी.-नागी ने तीखे मतभेद दर्ज कराये थे। यही दस्तावेज प्लेनम में पारित हुआ। इसके अनुसार, सोवियत पार्टी जहाँ दक्षिणपन्थी भटकाव का शिकार थी वहीं चीन की पार्टी "वामपन्थी" संकीर्णतावादी भटकाव का शिकार थी। इसमें चीनी पार्टी पर माकपा के अन्दरूनी मामलों में हस्तक्षेप का आरोप भी लगाया था। माकपा के मध्यमार्ग का संशोधनवादी चरित्र अब एकदम नंगा हो चुका था। जम्मू-कश्मीर और आन्ध्र प्रदेश की राज्य कमेटियों ने दस्तावेज के मसौदे का विरोध किया। विरोध का एक मुद्दा यह भी था कि दस्तावेज में भारत सहित सभी पिछड़े देशों में लोकयुद्ध को संघर्ष के सार्वभौमिक रूप के तौर पर स्वीकार नहीं किया गया है और मुख्य लाइन के तौर पर भूमि क्रान्ति को खारिज कर दिया गया है। बर्दमान प्लेनम के तुरत बाद तालमेल कमेटी ने

14 मई '68 को हुई अपनी दूसरी बैठक में अपने नाम से 'भा.क.पा. (मा.) के अन्दर के' वाक्यांश को हटाकर अपना नया नाम रखा 'कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों की अखिल भारतीय तालमेल कमेटी' (ए.आई.सी.सी.सी.आर.) और इसका नेतृत्व चारु मजुमदार को सौंपा गया। दूसरी बैठक के बाद तालमेल कमेटी ने अपनी 'दूसरी घोषणा' जारी की जिसमें कहा गया था कि नवसंशोधनवादी भी डांगेपन्थियों की तरह प्रतिक्रान्तिकारी शिविर में शामिल हो चुके हैं, वे कृषि क्रान्ति की पीठ में सक्रिय रूप से छुरा भोंक रहे हैं और जो लोग अभी भी माकपा के भीतर अन्तर्पार्टी संघर्ष की सम्भावना देखते हैं वे संशोधनवाद के विरुद्ध लड़नेवालों में भ्रम का बीज बो रहे हैं तथा उनको संगठित और शक्तिशाली होने से रोक रहे हैं। इस अन्तिम वाक्यांश में वस्तुतः डी.वी.-नागी ग्रुप की परोक्ष आलोचना की गयी थी। तालमेल कमेटी की इस दूसरी बैठक में पंजाब के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी भी शामिल हुए थे।

बर्दवान प्लेनम के तुरत बाद, डी.वी.-नागी के नेतृत्व में माकपा की आन्ध्र कमेटी का बहुसंख्यक हिस्सा विद्रोह करके पार्टी से अलग हो गया। जम्मू-कश्मीर के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी भी पार्टी से बाहर आ गये थे। डी.वी.-नागी द्वारा पार्टी के भीतर चलाये गये संघर्ष का नतीजा था कि आन्ध्र में बहुसंख्यक कार्यकर्ता पार्टी से बाहर आ गये थे। डी. वी. राव-नागी रेड्डी-चन्द्रपुल्ला रेड्डी आदि ने 'आन्ध्र प्रदेश क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट कमेटी' (ए.पी.आर.सी.सी.) का गठन किया जो ए.आई.सी.सी.सी.आर. से जुड़कर उसकी आन्ध्र राज्य कमेटी के रूप में काम करने लगी। आन्ध्र ग्रुप और चारु मजुमदार के नेतृत्व के बीच शुरू ही कुछ अहम मतभेद मौजूद थे। चारु मजुमदार के नेतृत्व वाले हिस्से का मानना था कि नागी रेड्डी ग्रुप चीनी पार्टी की लाइन को पूरी तरह से स्वीकार नहीं करता है। इसका एक आधार यह था कि नागी रेड्डी ग्रुप सोवियत संघ को सामाजिक-साम्राज्यवादी न कहकर सिर्फ संशोधनवादी कहता था। यह प्रश्न बुनियादी विचारधारात्मक न होकर वस्तुगत आकलन का था, जिसे चीनी पार्टी के कठमुल्लावादी अनुकरण के चलते बुनियादी बना दिया गया। दूसरा अहम मतभेद यह था कि अखिल भारतीय तालमेल कमेटी चुनाव बहिष्कार को एक रणनीतिक प्रश्न मानती थी और उसे क्रान्ति की प्रक्रिया की शुरुआत से अन्त तक लागू करने की बात करती थी जबकि आन्ध्र ग्रुप इसे रणकौशल का प्रश्न मानता था और इस मामले में परिस्थिति-अनुसार निर्णय की बात करता था। इस प्रश्न पर उनकी अवस्थिति क्लासिकीय लेनिनवादी सूत्रीकरण के अनुरूप थी। तालमेल कमेटी नक्सलबाड़ी को माओ विचारधारा का भारत में पहला प्रयोग मानती थी, जबकि आन्ध्र ग्रुप का कहना था कि माओ विचारधारा का पहला प्रयोग तेलंगाना में हुआ था और नक्सलबाड़ी उसी की अगली कड़ी है। तालमेल कमेटी जनसंघर्ष के खुले रूपों, आर्थिक मुद्दों पर संघर्ष और जनसंगठनों की उपेक्षा कर रही थी, जिससे आन्ध्र ग्रुप सहमत नहीं था। तालमेल कमेटी का जोर प्रारम्भिक मंजिल से ही छापामार संघर्ष संगठित करने पर था, जबकि आन्ध्र ग्रुप का कहना था कि जनान्दोलन की प्रक्रिया में संघर्ष के उच्चतर रूप के तौर पर सशस्त्र संघर्ष शुरू होगा, स्वयंसेवक दस्ते, स्थानीय दस्ते और नियमित छापामार दस्ते अस्तित्व में आयेंगे और आधार-क्षेत्रों का निर्माण होगा। कुछ सशस्त्र दस्तों की कार्रवाई के बजाय उनका जोर क्रान्तिकारी जनप्रदर्शनों, क्रान्तिकारी जनान्दोलनों, क्रान्तिकारी ग्राम सोवियतों की स्थापना और सशस्त्र जनसंघर्षों पर था। इस प्रश्न पर भी संघर्ष मूलतः "वाम" दुस्साहसवाद और जनदिशा के प्रश्न पर था। इन मूल मुद्दों के अतिरिक्त, दोनों पक्षों के बीच जनवादी कार्यक्रम (तालमेल कमेटी 'लोक जनवादी क्रान्ति' शब्दावली का प्रयोग करती थी जबकि आन्ध्र ग्रुप 'नव जनवादी क्रान्ति' शब्दावली का) की कुछ तफसीलों, व्याख्याओं और जोर को लेकर था जो हालाँकि गौण था लेकिन यहाँ भी अप्रोच की भिन्नता महत्त्वपूर्ण थी। तालमेल कमेटी चीनी पार्टी के कार्यक्रम का अन्धानुकरण करती थी जबकि आन्ध्र ग्रुप उसकी आम दिशा और फ्रेमवर्क को मानते हुए भी, एक हद तक, भारतीय परिस्थिति की सच्चाइयों को उसमें समाहित करने की कोशिश करता था। तालमेल कमेटी का आन्ध्र ग्रुप पर एक आरोप यह भी था कि वह श्रीकाकुलम सशस्त्र संघर्ष को जोर-शोर से नहीं, बल्कि महज रस्मी समर्थन दे रहा है। इस प्रश्न पर आगे चर्चा की जायेगी।

इन मतभेदों के बावजूद, पहली बैठक के बाद आन्ध्र प्रदेश की तालमेल कमेटी अखिल भारतीय तालमेल कमेटी से जुड़ गयी। यह तय किया गया कि प्रयोग करते हुए मतभेद के मसलों पर बहस की प्रक्रिया जारी रहेगी क्योंकि तालमेल कमेटी का उद्देश्य ही यही है। लेकिन ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। 7 फरवरी, 1969 को निहायत एकतरफा और मनमाने तरीके से आन्ध्र प्रदेश कमेटी को अखिल भारतीय तालमेल कमेटी से निकाल दिया गया और बातचीत करने के उनके बार-बार के अनुरोध पर कान तक नहीं दिया गया।

तालमेल कमेटी का गठन ही इस उद्देश्य से किया गया था कि माओ विचारधारा पर आम तौर पर सहमत देश भर के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आपस में बहस-मुबाहिसा करके और अपने प्रयोगों के अनुभवों का आदान-प्रदान करते हुए भारतीय क्रान्ति की रणनीति, आम रणकौशल और रास्ते के सवाल पर एक राय बनायें तथा भारतीय परिस्थितियों के अध्ययन के आधार पर कार्यक्रम तैयार करें। पर तालमेल कमेटी शुरुआत करते ही लक्ष्य विमुख हो गयी। नक्सलबाड़ी संघर्ष के नेतृत्व के "वामपन्थी" लाइन के आगे घुटने टेकने के बाद चारु मजुमदार ने इस लाइन को जोर-शोर से पूरे देश के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के बीच बढ़ावा दिया। आम क्रान्तिकारी कतारों में यह धारणा थी कि नक्सलबाड़ी के निर्माता और नेता चारु मजुमदार ही थे और उनकी लाइन को चीनी पार्टी का पूरा समर्थन हासिल है। बंगाल का एक गुट, जिसमें विशेष तौर पर सरोज दत्त, सौरेन बसु, सुनीति कुमार घोष शामिल थे, चारु को भारतीय क्रान्ति का महान नेता सिद्ध करने में जुट गया था। सत्यनारायण सिंह, कानू सान्याल आदि भी बढ़-चढ़कर उनकी प्रशंसा में जुटे थे। 'तराई किसान संघर्ष की रिपोर्ट' में हालाँकि चारु की लाइन के आगे कानू सान्याल आदि की जनदिशा की लाइन का आत्मसमर्पण मुख्य पहलू था, लेकिन उसमें व्यापक जनसंघर्ष के विकास का एक ब्योरा भी था। पर उस रिपोर्ट को तालमेल कमेटी ने देश भर के क्रान्तिकारियों के बीच न तो कभी चर्चा का विषय

बनाया, न ख़ुद ही कभी उस पर चर्चा की। इस पूरी स्थिति का लाभ उठाकर चारु मजुमदार तालमेल कमेटी को एक पार्टी की तरह चलाने लगे और स्वयं उसके स्वयंभू एकछत्र नेता जैसा व्यवहार करने लगे। तालमेल कमेटी विभिन्न कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी ग्रुपों के बीच तालमेल करने के बजाय पार्टी की केन्द्रीय कमेटी जैसा आचरण करने लगी। विभिन्न ग्रुपों को अपने मुखपत्र बन्द करने का निर्देश जारी किया जाने लगा। मतभेदों और उठाये जाने वाले सवालों पर स्वस्थ बहस के बजाय, अलग विचार प्रकट करने वाले लोगों व ग्रुपों के ख़िलाफ कुत्सा-प्रचार करके और उन पर तोहमतें लगाकर निकाल बाहर किया जाने लगा। तालमेल कमेटी ने भारतीय परिस्थितियों का अध्ययन-विश्लेषण करके भारतीय क्रान्ति का कार्यक्रम और रणकौशल तय करने के बुनियादी कार्यभार को तो पूरी तरह से तिलांजलि दे दी। यह घोषित कर दिया गया कि भारतीय क्रान्ति का कार्यक्रम, रणकौशल और रास्ता हूबहू चीनी क्रान्ति जैसा होगा। लेकिन नक्सलबाड़ी टाइप किसान संघर्ष और चीनी रास्ते की दुहाई देते हुए चारु मजुमदार व्यवहार में घनघोर आतंकवादी लाइन लागू करने की बात कर रहे थे। मजदूर वर्ग के नेतृत्व की बात करते हुए भी ट्रेड यूनियन कार्यों व मजदूर वर्ग के बीच हर प्रकार की जनकार्रवाई को अर्थवाद-सुधारवाद कहकर खारिज किया जा रहा था। पार्टी को "देहात-आधारित पार्टी" होना था। और वहाँ भी, किसी प्रकार की जनकार्रवाई, आर्थिक संघर्ष और खुले राजनीतिक प्रचार से बचते हुए सीधे सशस्त्र दस्तों का निर्माण करके भूस्वामियों के ख़िलाफ 'ऐक्शन' करना था (जल्दी ही चारु ने इसे स्पष्ट करते हुए 'ख़ात्मे की लाइन' यानी वर्ग शत्रुओं की हत्या की लाइन दी जो व्यक्तिगत आतंकवाद का नग्न रूप था)।

आन्ध्र प्रदेश के श्रीकाकुलम जिले के गिरिजन नक्सलबाड़ी की घटना के करीब आठ वर्ष पहले से भूस्वामियों के शोषण-उत्पीड़न और पुलिस उत्पीड़न के विरुद्ध आन्दोलन चला रहे थे। वह इलाका डी. वी. राव.-नागी रेड्डी धड़े के प्रभाव क्षेत्र में नहीं था। कम्युनिस्ट पार्टी के संशोधनवादियों ने इस संघर्ष को आगे विकसित करने की कभी कोई कोशिश नहीं की। नक्सलबाड़ी की ख्याति के बाद श्रीकाकुलम के नेताओं ने तालमेल कमेटी से सम्पर्क स्थापित किया और चारु मजुमदार को अपना नेतृत्व करने के लिए आमन्त्रित किया। जनवरी '69 में चारु मजुमदार श्रीकाकुलम गये और वहाँ सशस्त्र संग्राम को "वामपन्थी" आतंकवादी लाइन पर आगे बढ़ाने का दिशा-निर्देश दिया। श्रीकाकुलम में जनवरी '69 से भूस्वामियों के घरों-गोदामों पर छापामार दस्तों के हमलों और सफाये के लाइन की शुरुआत हुई। चूँकि गिरिजनों का आन्दोलन लम्बे समय से जारी था इसलिए शुरुआती सशस्त्र कार्रवाइयों को व्यापक जनसमर्थन भी हासिल हुआ। बाथापुरम्, पद्मपुर, बूड़ीबांका, आकूपल्ली और गरुड़भद्र में छापामार हमलों और भूस्वामियों-सूदख़ोरों की हत्या की घटनाओं को काफी ख्याति मिली। चारु मजुमदार गुट ने इसे लोकयुद्ध का संकेत बताया। चतरहाट-इस्लामपुर की विफलता के बाद, श्रीकाकुलम में पहली बार चारु मजुमदार की आतंकवादी लाइन व्यापक स्तर पर लागू हुई। पुलिस ने घनघोर दमन की कार्रवाई शुरू की। मई 1966 में, संघर्ष के एक मुख्य नेता पंचाद्रि कृष्णमूर्ति, उनकी पत्नी निर्मला और पाँच अन्य छापामार पुलिस मुठभेड़ में मारे गये। तमाम दमन के बावजूद श्रीकाकुलम संघर्ष 1970 तक जारी रहा। मई 1970 में भा.क.पा. (मा-ले) के स्थापना-सम्मेलन के कुछ महीने बाद ही गिरिजनों के लोकप्रिय नेता वेंकटापु सत्यनारायण और आदिमाटला कैलाशम् सहित कई और नेताओं की हत्या हो गयी तथा नागभूषण पटनायक और अप्पाला सूरी गिरफ़्तार हो गये। लगभग नेतृत्वविहीन हो चुका आन्दोलन फिर जल्दी ही बिखर गया। इस तरह एक व्यापक आधार वाले, लम्बे समय से जारी जनसंघर्ष को "आतंकवादी" रास्ते पर विमुख करके पराजय के गर्त में धकेल दिया गया।

जनवरी '69 में श्रीकाकुलम संघर्ष का नेतृत्व हाथ में आ जाने के बाद, चारु मजुमदार को यह उचित अवसर प्रतीत हुआ कि क्रान्तिकारी जनदिशा की पुरजोर वकालत करने वाले डी.वी.-नागी ग्रुप से छुटकारा पा लिया जाये और फिर फरवरी '69 में निहायत नौकरशाहाना तरीके से उन्हें तालमेल कमेटी से निकाल बाहर किया गया। डी.वी.-नागी के नेतृत्व में आन्ध्र प्रदेश में माकपा से पार्टी का बहुसंख्यक हिस्सा बाहर आया था। कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी राजनीति का इतना व्यापक जनाधार और कार्यकर्ताओं का आधार देश के किसी राज्य में नहीं था। आन्ध्र प्रदेश क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट कमेटी को निष्कासित करने में चारु को मिली सफलता कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन के लिए एक भारी धक्का थी जिसने पार्टी गठन की प्रक्रिया को शुरू होते ही गम्भीर नुकसान पहुँचाया।

तालमेल कमेटी में बहस-मुबाहिसे के जनवादी माहौल का गला घोंट दिये जाने और नौकरशाहाना और संकीर्ण गुटपरस्त कार्यशैली के हावी होने के बाद, बंगाल के और पूरे देश के कई छोटे-छोटे ग्रुप तो उसमें शामिल ही नहीं हुए। कई ग्रुप जो शुरू में इससे सम्बद्ध हुए थे, बाद में अलग हो गये। 'चिन्ता'/'दक्षिण देश' ग्रुप का उल्लेख पहले आ चुका है। नक्सलबाड़ी विद्रोह के पाँच महीने बाद इस ग्रुप ने 24 परगना जिले के सोनारपुर में किसान संघर्ष संगठित किया था जिसे जबरदस्त पुलिस दमन का शिकार होना पड़ा था। इसमें ग्रुप के एक संस्थापक नेता चन्द्रशेखर दास की हत्या भी कर दी गयी थी। सोनारपुर के अतिरिक्त 1968-69 के दौरान इस ग्रुप ने हावड़ा, हुगली, मेदिनीपुर, बीरभूम, मालदा और बर्धमान जिले के कुछ क्षेत्रों में भी किसानों में काम संगठित किया तथा दक्षिणी कलकता, आसनसोल और दुर्गापुर में औद्योगिक मजदूरों के बीच ट्रेड यूनियन मोर्चे पर काम किया। दक्षिण देश ग्रुप के लोगों का 1966 के अन्त में ही चारु मजुमदार और दार्जिलिंग के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों से सम्पर्क हो चुका था। नक्सलबाड़ी के तुरत बाद चारु मजुमदार से फिर उनकी बातचीत हुई। तालमेल कमेटी बनने के बाद चारु मजुमदार से कई अहम मतभेदों के बावजूद दक्षिण देश ग्रुप उससे सम्बद्ध हुआ, लेकिन नौकरशाहाना तौर-तरीकों के चलते और मतभेदों के सुलझने की प्रक्रिया नहीं चलते देख, जल्दी ही उसे अलग हो जाना पड़ा। दक्षिण देश ग्रुप की राजनीतिक सोच कई मायनों में दकियानूसी और यान्त्रिक थी, लेकिन उन्होंने राजनीति और सांगठनिक कार्यशैली-विषयक कुछ बुनियादी महत्त्व के प्रश्न उठाये। जनसंगठन और पार्टी संगठन के अन्तरसम्बन्ध और छापामार

संघर्ष के विकास, चुनाव के इस्तेमाल, वर्गों के रणनीतिक संश्रय के अमली रूप आदि कई प्रश्नों पर वे स्वयं अतिवामपन्थी भटकावों के शिकार थे, लेकिन बिना किसी राजनीतिक कार्य के गुप्त दस्तों के गठन और 'ऐक्शन' को छापामार-युद्ध बताने और सफाये की लाइन को वे "वामपन्थी" दुस्साहसवाद मानते थे तथा साथ ही, चारु की लाइन को स्वयंस्फूर्ततावाद और अराजकतावाद का भी शिकार मानते थे। चीन की पार्टी के प्रति उनका रवैया अनुकरणवादी था और विभिन्न सांगठिनक प्रश्नों पर वे शुद्धतावादी रोमानी नजरिये के शिकार थे, लेकिन इस प्रश्न को उन्होंने गम्भीरता के साथ रेखांकित किया कि तालमेल कमेटी को भारतीय परिस्थितियों के अध्ययन-विश्लेषण के आधार पर भारतीय क्रान्ति के कार्यक्रम एवं रणकौशल के निर्धारण के अपने लक्ष्य को पूरा करने पर विशेष ध्यान देना चाहिए जबकि वह उसकी उपेक्षा कर रही है। उनका भी यह मानना था कि नक्सलबाड़ी नहीं बल्कि तेलंगाना भारत में माओ विचारधारा का पहला प्रयोग था और नक्सलबाड़ी उसका जारी रूप है। इन प्रश्नों पर तालमेल कमेटी में जनवादी ढंग से बहस चलाने के बजाय चारु गुट ने उपेक्षा करने, कुत्सा प्रचार करने और लेबल चस्पाँ करने ('देशव्रती' में लिखकर भी) का काम किया। यही नहीं, तालमेल कमेटी का पार्टी की तरह इस्तेमाल करते हुए और स्वयं पार्टी नेतृत्व जैसा व्यवहार करते हुए चारु गुट ने 'दक्षिण देश' का प्रकाशन-वितरण बन्द करने के लिए भी कहना शुरू कर दिया। इस स्थिति में 'दक्षिण देश' ग्रुप ने तालमेल कमेटी से अपने को अलग कर लिया। लेकिन साथ ही यह निर्णय भी लिया कि गलत नीतियों के विरुद्ध संघर्ष करते हुए वे एकता कायम करने की कोशिशें जारी रखेंगे। आन्ध्र प्रदेश क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट कमेटी के निष्कासन और दक्षिण देश ग्रुप के अलग होने के बाद, तालमेल कमेटी के कामों की समीक्षा किये बगैर और बुनियादी लक्ष्यों को पूरा किये बगैर 22 अप्रैल, 1969 को जब अचानक भा.क.पा. (मा-ले) की स्थापना की घोषणा की गयी और एक वर्ष के भीतर पार्टी कांग्रेस का निर्णय लिया गया तो यह दक्षिण देश ग्रुप के लिए आश्चर्य की बात थी। अपने विचारों और मतभेदों को लेकर उसने भा.क.पा. (मा-ले) नेतृत्व को एक पत्र भेजा, जिसका उसने कोई उत्तर नहीं दिया। तब दक्षिण देश ग्रुप ने अलग राह पकड़ी और 20 अक्टूबर 1969 को 'माओवादी कम्युनिस्ट केन्द्र' नाम से एक अलग केन्द्र की स्थापना की।

क्रान्तिकारियों की पश्चिम बंगाल तालमेल कमेटी (डब्ल्यू.बी.सी.सी.आर.) ने भी अखिल भारतीय तालमेल कमेटी के समक्ष राजनीति, संगठन और कार्यप्रणाली-विषयक कुछ महत्त्वपूर्ण सवाल उठाये और "वामपन्थी" दुस्साहसवादी लाइन के साथ अपने मतभेद रखे। उसके प्रश्नों और मतभेदों की भी पूरी तरह से अनदेखी की गयी और यह संगठन भी तालमेल कमेटी में शामिल नहीं हुआ।

मतभेद के बुनियादी और अहम मसले उठाने वाले अगले दो व्यक्ति थे परिमल दासगुप्त और असित सेन। परिमल दासगुप्त तालमेल कमेटी के काम के एक-डेढ़ वर्ष बाद ही आनन-फानन में पार्टी-गठन के निर्णय से सहमत नहीं थे। वे लम्बे सैद्धान्तिक संघर्ष और व्यावहारिक कामों के बाद संशोधनवाद और अवसरवाद से मुक्त क्रान्तिकारी पार्टी की स्थापना के पक्षधर थे। यह सही है कि कोई भी क्रान्तिकारी पार्टी भटकावों से अन्तिम मुक्ति की गारण्टी नहीं दे सकती और यह भटकाव पार्टी में सिर उठाते ही रहते हैं जिनके विरुद्ध पार्टी में सतत दो लाइनों का संघर्ष चलाना पड़ता है। लेकिन इस आदर्शवादी विचलन के बावजूद परिमल दासगुप्त की अवस्थिति इस मायने में सही थी कि कार्यक्रम-निर्धारण के लिए भारतीय परिस्थितियों के अध्ययन-विश्लेषण सहित अपने किसी भी लक्ष्य को तालमेल कमेटी ने वास्तव में अर्जित नहीं किया था और कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के बीच वास्तविक राजनीतिक एकता कायम करने के लिए वे बहस और अनुभवों के आदान-प्रदान की जिम्मेदारी लगभग पूरी तरह से छोड़ दी गयी थी। इस मतभेद के बाद परिमल दासगुप्त और उनके समर्थकों ने अखिल भारतीय तालमेल कमेटी से अलग होकर एक समान्तर तालमेल कमेटी बनायी (जो कालान्तर में निष्क्रिय हो गयी) जिसने एक दस्तावेज निकालकर चारु मजुमदार के साथ अपने मतभेदों का उल्लेख किया। उक्त दस्तावेज में कहा गया था कि चारु मजुमदार माओ के रास्ते से भटककर चे ग्वेवारा के निम्न-बुर्जुआ क्रान्तिवादी रास्ते का अनुसरण कर रहे हैं। माओ विचारधारा राजनीति के आधार पर जनगण को संगठित करने की बात करती है जबकि चे ग्वेवारा का रास्ता उसे मुठभेड़ों के जरिये संगठित करने का था। दस्तावेज के अनुसार, गुप्त दस्तों के जरिये छापामार युद्ध को क्रान्तिकारी आन्दोलन का एकमात्र रास्ता बताना, अर्थवाद से बचने के नाम पर ट्रेड यूनियन आन्दोलन का विरोध, देहाती क्षेत्रों में आधार क्षेत्र के निर्माण के नाम पर शहरी मजदूरों और मध्य वर्ग के आन्दोलनों के प्रति घृणा-भाव, छोटे-छोटे ग्रुपों द्वारा संघर्षों के जरिये ही भूमि क्रान्ति को आगे बढ़ाने का प्रयास और वर्ग संगठन और जन संघर्षों के बिना ही क्रान्तिकारी संघर्ष की कोशिशें चारु की लाइन के ये सभी संघटक अवयव चे ग्वेवारा से उधार लिये गये हैं, यह माओ विचारधारा का विकृतिकरण है और इन रुझानों को ठीक किये बिना बनायी जाने वाली पार्टी कालान्तर में एक आतंकवादी पार्टी बनकर रह जायेगी।

1 मई, 1969 को कलकता के शहीद मीनार मैदान की जिस जनसभा में कानू सान्याल ने भा.क.पा. (मा-ले) की स्थापना की घोषणा की थी उसकी अध्यक्षता असित सेन ने ही की थी, लेकिन कुछ सप्ताह बाद ही नेतृत्व के साथ पहले से ही चले आ रहे अपने गम्भीर मतभेदों के हल नहीं होने के कारण उन्हें अलग हो जाना पड़ा। चारु मजुमदार की लाइन के साथ असित सेन के मतभेद शुरुआती दौर से ही मौजूद थे। चारु मजुमदार का मानना था कि जमीन की लड़ाई किसानों को क्रान्तिकारी रास्ते से भटकाकर अर्थवाद और संशोधनवाद के दलदल में धँसा देती है, अतः उन्हें सिर्फ राज्यसत्ता पर अधिकार के लिए लड़ना चाहिए। उनका कहना था कि नक्सलबाड़ी में किसान जमीन के लिए नहीं बल्कि राज्यसत्ता पर अधिकार के लिए लड़ रहे थे। असित सेन का मानना था कि कोई भी वर्ग पहले अपनी वर्गीय माँग पर ही संगठित होता है, जमीन के लिए संघर्ष जनवादी क्रान्ति के लिए किसानों की तैयारी के लिए जरूरी पहला कदम होता है। चारु मजुमदार की लाइन के विपरीत असित सेन ट्रेड यूनियनों को मजदूरों के लिए क्रान्ति का

प्राथमिक स्कूल मानते थे और मजदूर वर्ग के आन्दोलनों और ट्रेड यूनियनों को आवश्यक मानते थे। वे "देहात-आधारित" पार्टी की अवधारणा का विरोध करते थे और पार्टी के मजदूरवर्गीय हिरावल चरित्र पर बल देते थे। चारु मजुमदार गुट का तर्क था कि भा.क.पा. (मा-ले) विशुद्ध सर्वहारा पार्टी है क्योंकि उसके अधिकांश नेता सशस्त्र संघर्ष के क्षेत्र से आये हैं। असित सेन का तर्क था कि मात्र कुछ कॉमरेडों के सशस्त्र संघर्ष के क्षेत्र से जुड़े होने से पार्टी का निम्न-पूँजीवादी वर्ग-चरित्र बदल नहीं जाता। मुख्य प्रश्न विचारधारा का है और मजदूर वर्ग से पार्टी कतारों में भरती का है। साथ ही, व्यापक वर्ग संघर्ष की उपेक्षा करके मात्र क्रान्तिकारी राजनीति देने पर भी क्रान्तिकारी सेना का हिरावल नहीं तैयार हो सकता। असित सेन का कहना था कि आर्थिक माँगों की लड़ाई को संशोधनवाद कहकर मजदूर आन्दोलन से दूर हट जाना मजदूर वर्ग को संशोधनवाद और हर तरह के प्रतिक्रियावादी विचारधारा के हवाले कर दिये जाने के समान है। व्यक्ति-हत्या या ख़ात्मे की लाइन को उन्होंने नरोदवाद और चे ग्वेवारा के निम्न-पूँजीवादी रोमानी सिद्धान्त का सम्मिश्रण बताया। असित सेन का कहना था कि वर्ग शत्रुओं की हत्या और जायदाद-जब्ती कभी भी वर्ग संघर्ष का मुख्य रूप नहीं हो सकते। साथ ही, जिस प्रकार जनता के स्वतःस्फूर्त सशस्त्र संघर्ष और क्रान्तिकारी राजनीति के नेतृत्व में चलने वाले सशस्त्र संघर्ष में मौलिक अन्तर होता है, उसी प्रकार निम्न-पूँजीवादी क्रान्तिकारी दुस्साहसियों द्वारा प्रारम्भ किये गये सशस्त्र संघर्ष और मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओ विचारधारा से लैस मजदूर वर्ग की क्रान्तिकारी पार्टी के नेतृत्व में चलने वाले वर्ग-संघर्ष में भी मौलिक अन्तर होता है। हरेक बात छापामार संघर्ष के जरिये सोच-समझ ली जायेगी, चारु मजुमदार की इस धारणा का खण्डन करते हुए असित सेन ने अपने दस्तावेज में लिखा कि यदि सशस्त्र संग्राम करने से अपने आप सही क्रान्तिकारी पार्टी बन जानी होती तो भारत में क्रान्ति कभी की हो गयी होती। उन्होंने इस तथ्य को भी रेखांकित किया कि चारु की लाइन क्रान्तिकारी पार्टी के मुख्य तत्व मजदूर वर्ग को सशस्त्र संघर्ष से एकदम अलग कर देती है!

यह सही है कि परिमल दासगुप्त और असित सेनगुप्त द्वारा प्रस्तुत चारु मजुमदार की "वामपन्थी" अवसरवादी लाइन की आलोचना विचारधारात्मक रूप से उतनी सुसंगत और सांगोपांग नहीं थी, जैसी कि डी. वी. राव-नागी रेड्डी ग्रुप या आगे चलकर पंजाब क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट कमेटी (हरभजन सिंह सोही ग्रुप) द्वारा प्रस्तुत आलोचना थी। फिर भी उन्होंने "वामपन्थी" दुस्साहवाद की प्रकृति, वर्ग-चरित्र और मुख्य अभिव्यक्तियों की बुनियादी तौर पर सही शिनाख़्त की थी। समस्या यह थी कि एक गहरी विचारधारात्मक समझ और सांगोपांग दृष्टि न होने के कारण उन्होंने सवाल काफी देर से उठाये और अलग-अलग समयों पर उठाये। जब आन्ध्र कमेटी से मतभेद चला और उन्हें नौकरशाहाना ढंग से निकाल बाहर किया गया, उस समय उन्होंने सही अवस्थिति नहीं ली थी। यही नहीं, स्वयं अलग होने के बाद भी उन्होंने जनदिशा की बुनियादी एकता के बावजूद उनसे (यानी आन्ध्र कमेटी से) तालमेल बनाने की कोशिश नहीं की। अपनी स्वयं की विचारधारात्मक कमजोरी और विचलनों के चलते "वामपन्थी" आतंकवादी लाइन का विरोध करने वाले ग्रुप और व्यक्ति आपस के गौण मतभेदों को अतिरिक्त अहमियत देते रहे और इस कारण से भी अतिवामपन्थ और जनदिशा के बीच ध्रुवीकरण की प्रक्रिया प्रभावित हुई। यह भी एक तथ्य है कि संशोधनवादी भटकाव और कतिपय विचारधारात्मक उलझाव परिमल दासगुप्त और असित सेन के चिन्तन में भी मौजूद थे (जैसे परिमल दासगुप्त सोवियत पार्टी को संशोधनवादी तो मानते थे, लेकिन साथ ही उन्होंने "पश्चिमी साम्राज्यवादी दख़लन्दाजी के विरोध" के तर्क के आधार पर चेकोस्लोवाकिया पर सोवियत संघ के आक्रमण को उचित ठहराया था), लेकिन वे सुसंगत संशोधनवादी न होकर 'जेनुइन' मार्क्सवादी-लेनिनवादी ही थे। उनके जीवन के उत्तरवर्ती दौर ने इस बात को सही सिद्ध किया। दोनों जीवनपर्यन्त कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी धारा से ही जुड़े रहे और 1996 में अपनी मृत्यु से पूर्व असित सेन भा.क.पा. (मा-ले) (जनशक्ति) ग्रुप के साथ जुड़े हुए थे। मूल और मुख्य बात यह है कि यदि ए.आई.सी.सी.सी.आर. सही जनवादी ढंग से तालमेल और राजनीतिक बहस की भूमिका निभाती तो ऐसे योग्य और ईमानदार लोग बहस-मुबाहिसे के दौरान अपने भटकावों से मुक्त होकर क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन में शानदार भूमिका निभा सकते थे, लेकिन तालमेल कमेटी पर आतंकवादी लाइन के नौकरशाहाना वर्चस्व ने ऐसा होने नहीं दिया। ऐतिहासिक आकलन की दृष्टि से आज मुख्य बात यह है कि कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन को विघटन और तबाही की दिशा में धकेलने में जिस लाइन ने कुंजीभूत भूमिका निभायी, कतिपय कमियों के बावजूद परिमल दासगुप्त और असित सेन जैसे लोगों ने भी उस लाइन की मूल प्रकृति की निशानदेही की और उसकी आलोचना प्रस्तुत की।

ए.आई.सी.सी.सी.आर. के काल में चारु मजुमदार की "वामपन्थी" लाइन की सुसंगत, तार्किक और सांगोपांग समालोचना प्रस्तुत करने वाले और दृढ़ विरोध करने वालों में आन्ध्र प्रदेश क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट कमेटी (डी. वी. राव-नागी रेड्डी ग्रुप) के बाद दूसरे स्थान पर पंजाब के एक कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी धड़े का नाम आता है जिसका नेतृत्व हरभजन सिंह सोही कर रहे थे। 1970 के बाद, भा.क.पा. (मा-ले) काल में एक अलग ग्रुप के तौर पर काम करते हुए कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के इस हिस्से ने जनदिशा को ठोस रूप में सफलतापूर्वक लागू करते हुए पंजाब में "वामपन्थी" आतंकवादी धारा को व्यवहार में भी फैसलाकुन शिकस्त दी। मा.क.पा. की पंजाब इकाई में मतभेद और विवादों की शुरुआत नक्सलबाड़ी विद्रोह के तत्काल बाद हो गयी थी और जल्दी ही माओवादी रुझान वाले कार्यकर्ताओं को पार्टी से निकाल दिया गया। इन क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों ने राज्य स्तर पर एक तालमेल कमेटी गठित की जिसके सचिव दया सिंह थे। दया सिंह सुलझे हुए कम्युनिस्ट थे और "वामपन्थी" लाइन के बारे में उनके भी कुछ 'रिजर्वेशंस' थे। लेकिन कमोबेश 1968 के अन्त से तालमेल कमेटी में हावी "वामपन्थी" लहर का पंजाब में भी भारी प्रभाव था और उदारतावादी प्रवृत्ति के चलते दया सिंह बहुमत के हिसाब से चलने के हामी थे। आतंकवादी लाइन पर पंजाब में सशस्त्र संघर्ष की

शुरुआत 1969 में हुई। कुछ 'ऐक्शंस' के बाद ही पुलिस दमन, गिरफ़्तारियों और फर्जी मुठभेड़ों का धुआँधार सिलसिला शुरू हो गया। मार्च 1970 के अन्त में भा.क.पा. (मा-ले) (तब तक पार्टी की घोषणा हो चुकी थी) की पंजाब राज्य कमेटी के सचिव दया सिंह, रोपड़ जिला कमेटी के सचिव बलवन्त सिंह, वयोवृद्ध गदरी बाबा और पटियाला के नेता हरिसिंह मृगेन्द्र की पुलिस ने फर्जी मुठभेड़ में हत्या कर दी। पंजाब में मा-ले आन्दोलन से जुड़ने वाले गदर पार्टी के पुराने लोगों में बाबा निरंजन कालसा और बाबा भुजा सिंह भी थे। इनकी भी बाद में पुलिस ने गिरफ़्तारी के बाद फर्जी मुठभेड़ दिखाकर नृशंस हत्या कर दी। "वामपन्थी" दुस्साहसवादी लाइन पंजाब में पार्टी कांग्रेस के बाद भी कुछ दिनों तक जारी रही। करीब नब्बे के आसपास वर्ग शत्रुओं का सफाया किया गया जिनमें अधिकांश सूदख़ोर थे। पंजाब में देश के अन्य कुछ पिछड़े हिस्सों की तरह जमीन और सामन्ती उत्पीड़न का सवाल 1967-70 के दौरान भी नहीं था, लेकिन सूदख़ोरों के ख़िलाफ न केवल गरीब बल्कि मँझोले किसानों में भी गहरी नफरत थी। पंजाबी समाज में राज्य के विरुद्ध जुझारू वीरतापूर्ण संघर्षों-कुर्बानियों की एक लम्बी परम्परा रही है। कम्युनिस्ट कतारों में विचारधारात्मक समझ के अभाव में इस परम्परा ने "वामपन्थी" दुस्साहसवाद के लिए खाद-पानी का काम किया। अकेले इस एक राज्य में 1974 तक फर्जी मुठभेड़ों में सौ से कुछ अधिक क्रान्तिकारी मौत के घाट उतारे जा चुके थे और दर्जनों क्रान्तिकारी जेलों में लम्बी सजाएँ भुगत रहे थे।

पंजाब में राज्य स्तरीय तालमेल कमेटी के गठन के बाद से ही भटिण्डा-फिरोजपुर कमेटी के लोग सफाये की लाइन, आर्थिक संघर्षों, जन संघर्षों और जन संगठन के निषेध की लाइन और लोक युद्ध के उद्गम और विकास की आतंकवादी समझ का दृढ़तापूर्वक विरोध कर रहे थे। क्रान्तिकारी संघर्षों के असमान विकास और मजदूर वर्ग के नेतृत्व के प्रश्न पर भी उनकी चारु की लाइन से भिन्न राय थी और जनदिशा के अमल के प्रश्न पर वे अडिग थे। जब भा.क.पा. (मा-ले) के गठन और कांग्रेस की घोषणा हुई तो उन्होंने इस पर भी अपनी अलग राय रखी। कठिन अलगाव झेलकर और "गद्दार", "संशोधनवादी", "जनता के दुश्मन" आदि "उपाधियाँ" पाकर भी वे अपनी अवस्थिति पर दृढ़ रहे और क्रान्तिकारी आतंकवाद की शक्तिशाली लहर का सामना करते रहे। इसके बावजूद वे औपचारिक तौर पर पहले तालमेल कमेटी, और पार्टी-गठन की घोषणा के बाद भा.क.पा. (मा-ले) का हिस्सा बने रहे। फरवरी 1970 में, पार्टी कांग्रेस के ठीक पहले भटिण्डा-फिरोजपुर कमेटी भा.क.पा. (मा-ले) से अलग हो गयी और 'पंजाब कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी कमेटी' (पी.सी.आर.सी.) के नाम से इसने अपना पुनर्गठन किया। आगे चलकर उसने पंजाब में जनदिशा को सफलतापूर्वक और प्रभावी ढंग से लागू किया और चारुपन्थी धारा को एकदम अलग-थलग और निश्शक्त बना डाला। इसकी चर्चा आलेख में आगे यथास्थान आयेगी।

ए.आई.सी.सी.सी.आर. के पूरे काल में, तालमेल कमेटी द्वारा निर्धारित सभी कार्यभारों को तिलांजलि देते हुए तालमेल कमेटी के स्वरूप को नकारकर उसे एक केन्द्रीकृत पार्टी की तरह इस्तेमाल करते हुए और स्वयं एकछत्र नेता सदृश नौकरशाहाना व्यवहार करते हुए तथा चीन की पार्टी के लेखों एवं प्रसारणों द्वारा मिलने वाली मान्यता एवं नक्सलबाड़ी के घोषित नेता होने की साख का लाभ उठाते हुए चारु मजुमदार ने एक-एक करके अपनी लाइन के विरोधी ग्रुपों और व्यक्तियों को ठिकाने लगाया और तालमेल कमेटी पर अपनी लाइन का वर्चस्व स्थापित होते ही पार्टी-गठन के लिए आगे बढ़ गये। इस प्रक्रिया में उन्हें इस बात से भी मदद मिली कि उनकी लाइन के कई विरोधी स्वयं या तो "वामपन्थी" या दक्षिणपन्थी विचलन के शिकार थे, उनकी (यानी चारु के लाइन के विरोधियों की) लाइन सुसंगत नहीं थी, विरोध के स्वर एकसाथ नहीं बल्कि अलग-अलग उठते रहे तथा जनदिशा के पक्षधर ग्रुपों और लोगों के बीच भी आपस में कई मसलों पर अहम या गौण मतभेद थे। जैसे-जैसे तालमेल कमेटी से विरोध-पक्ष का सफाया होता गया, चारु की लाइन का "वामपन्थी" अवसरवादी चरित्र ज्यादा से ज्यादा नग्न और विकृत रूप में सामने आता चला गया। पहले वे गोलमोल भाषा में जनसंघर्षों की या भूमि क्रान्ति के कार्यक्रम की या मजदूर वर्ग के संघर्षों की बात करते थे, लेकिन अब उन्होंने हर प्रकार की जनकार्रवाई, खुले काम, आर्थिक संघर्ष और राजनीतिक प्रचार-कार्य को सिरे से खारिज करते हुए यह कहना शुरू किया कि "ख़ात्मे की लड़ाई ही वर्ग संघर्ष का उच्चतर रूप और छापामार संघर्ष का आरम्भ दोनों ही है", इसी के द्वारा भारी किसान जनसमुदाय जागृत होगा, इसी के द्वारा मुक्तांचल-निर्माण और क्रान्तिकारी सेना-निर्माण की समस्या हल होगी और इसी से प्रेरित प्रचण्ड स्वयंस्फूर्त जन-अभ्युत्थान राज्यसत्ता पर वज्राघात करेगा। पार्टी कांग्रेस से तीन माह पहले छापामार कार्रवाई के बारे में लिखे गये अपने एक लेख में उन्होंने लिखा कि छापामार दस्ते बिल्कुल गुप्त और स्वतन्त्र होंगे, उन पर पार्टी कमेटी का भी नियन्त्रण नहीं होगा, उनको बनाने का तरीका एक-एक व्यक्ति को पकड़कर, उसके कान में फुसफुसाकर किया जायेगा, इसकी भनक पार्टी की राजनीतिक इकाइयों को भी नहीं होगी और इसके लिए निम्न-बुर्जुआ बुद्धिजीवियों को पहल करनी होगी। यही नहीं, लोकयुद्ध की दीर्घकालिक प्रवृत्ति को ठुकराते हुए उन्होंने ख़ात्मे की लाइन से प्रेरित प्रचण्ड देशव्यापी विद्रोह की भी कल्पना की और कांग्रेस के पहले के काल में ही, पार्टी-गठन की घोषणा के बाद, 1969 में सत्तर के दशक को मुक्ति के दशक में बदल देने का नारा दिया।

वस्तुतः यह रणदिवे काल के "वामपन्थी" भटकाव का ही एक अत्यधिक विकृत और भोंड़ा संस्करण था जिसका मार्क्सवाद-लेनिनवाद से और जनवादी क्रान्ति विषयक माओ के विचारों से कुछ भी लेना-देना नहीं था।

सिद्धान्त-निरूपण के साथ ही क्रान्तिकारी आतंकवाद का व्यवहार भी देश के विभिन्न हिस्सों में जोर-शोर से जारी था। देश के विभिन्न हिस्सों में चारु की लाइन से प्रेरित कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी छिटपुट, बिखरे हुए रूप में, दस्ते बनाकर 'ऐक्शन' और ख़ात्मे की लाइन लागू करते थे और कुछेक कार्रवाइयों के बाद ही सबकुछ बिखर जाता था। श्रीकाकुलम के बाद "वाम" दुस्साहवाद का दूसरा बड़ा प्रयोग बंगाल के मिदनापुर जिले के दो थानों डेबरा और

गोपीवल्लभपुर में हुआ। उस समय तक तालमेल कमेटी पार्टी-गठन की घोषणा कर चुकी थी। सितम्बर '69 से यहाँ कार्रवाइयों की शुरुआत नवगठित पार्टी की प. बंगाल-बिहार-उड़ीसा सीमा आंचलिक कमेटी ने की थी जिसके सचिव असीम चटर्जी और मुख्य संगठनकर्ता सन्तोष राणा, मिहिर राणा, गुणधर मुर्मू आदि थे। उल्लेखनीय है कि शुरुआत यहाँ भी व्यापक जन पहलकदमी और जनान्दोलन के रूप में हुई। अत्याचारी जमींदारों के खेत काटने के अभियान में 40,000 किसानों ने हिस्सा लिया। गाँवों में किसान कमेटियों ने अपनी सत्ता कायम करके लोक अदालतें लगाकर जमींदारों, सूदख़ोरों को दण्डित किया। जमींदारों और धनी किसानों के खेतों में काम करने वाले मजदूरों की मजदूरी पाँच गुनी कर दी गयी। लेकिन इस शुरुआत के बाद दस्तों की आतंकवादी कार्रवाइयों ने जनान्दोलन को तबाह कर दिया। अप्रैल 1970 तक साठ वर्ग शत्रुओं की हत्या की जा चुकी थी। इस मुहिम को डेबरा और गोपीवल्लभपुर थानों से बाहर खड़गपुर लोकल, सांक्राइल, केशापुर और चाकुलिया में फैलाया गया। लेकिन बढ़ते दमन और गतिरोध के साथ ही नेतृत्व में मतभेद भी पैदा होने लगे और लाइन पर सवाल भी उठने लगे। 1970 के मध्य तक यह आन्दोलन बिखर चुका था।

बिहार के मुजफ्फरपुर जिले के मुसहरी अंचल के लगभग बारह गाँवों में भी भूमि आन्दोलन की शुरुआत 1969 में जन आन्दोलन के रूप में हुई जिसमें लगभग दस हजार किसानों ने हिस्सा लिया। शुरुआती दौर के बाद वहाँ भी सफाये की लाइन लागू हुई और फरवरी '70 तक दस वर्ग-शत्रुओं की हत्या कर दी गयी। यहाँ भी डेढ़ वर्ष के भीतर आन्दोलन गतिरोध का शिकार होकर बिखर गया।

उत्तर प्रदेश में लखीमपुर जिले के तराई अंचल के पालिया में जनवरी-फरवरी 1968 में किसानों का आन्दोलन जन-पहलकदमी और जन-भागीदारी के साथ शुरू हुआ। गरीब किसानों और मजदूरों ने पीलीभीत तराई फार्म और पतियान, घोला, इब्राहीमपुर के फार्मों पर (यह एक दीगर प्रश्न है कि मुद्दा यहाँ जमीन का होना चाहिए था या नहीं, क्योंकि ये फार्म पूँजीवादी भूस्वामियों के फार्म थे जो मजदूरों से काम लेकर मुनाफे की खेती करते थे) फार्म मालिकों के गुण्डा गिरोहों से मोर्चा लेकर जमीन पर कब्जा किया। फिर "वामपन्थी" लाइन के हावी होने का दौर आया और दमन ने भी जोर पकड़ा। एक वर्ष के भीतर यह आन्दोलन भी बिखर गया।

बावजूद इन विफलताओं के, मुक्ति संघर्ष के निरन्तर अग्रवर्ती विकास के चारु के दावे जारी थे। कारण यह था कि एक जगह "वामपन्थी" लाइन की विफलता सामने आती थी, तब तक दूसरे किसी क्षेत्र में जोर-शोर से इसका अमल शुरू हो चुका होता था। फिर भी 1970 के अन्त तक पूरे देश में मा-ले आन्दोलन की "वाम-" आतंकवादी मुहिम पिट चुकी थी और चतुर्दिक व्याप्त गतिरोध एक ओर कतारों में निराशा पैदा कर रहा था, दूसरी ओर नेतृत्व में मतभेद और फूट की जमीन तैयार कर रहा था। इसकी चर्चा लेख के अगले हिस्से में पार्टी कांग्रेस के बाद के काल के घटना-प्रवाह के विवरण और समाहार के दौरान की जायेगी। यहाँ पार्टी-कांग्रेस तक का घटनाक्रम संक्षेप में बताकर हमें इस हिस्से का समापन करना होगा।

ए.आई.सी.सी.सी.आर. से आन्ध्र प्रदेश कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी कमेटी के निष्कासन (7 फरवरी '69) के बाद चारु को लगने लगा था कि "वामपन्थी" लाइन के रास्ते की सबसे बड़ी बाधा हटायी जा चुकी है। अपने पहले के विचार को एकाएक बदलते हुए उन्होंने अचानक यह विचार रखना शुरू किया कि अब सर्वभारतीय पार्टी गठन का उपयुक्त समय आ गया है। तालमेल कमेटी के कामों की कोई भी समीक्षा नहीं हुई। कुछ लोगों ने विरोध किया, फिर सहमत हो गये। परिमल दासगुप्त को निकाले जाने के बाद इस निर्णय का एकमात्र शेष विरोधी भी रास्ते से हट गया। 22 अप्रैल 1969 को तालमेल कमेटी ने अपने को भंग कर भा.क.पा. (मा-ले) की स्थापना की और 1 मई 1969 को कलकता के शहीद मीनार मैदान में आयोजित जनसभा में कानू सान्याल ने इसकी घोषणा की। 27 अप्रैल के अधिवेशन में पार्टी की आरजी (कांग्रेस तक के लिए) नेतृत्वकारी कमेटी के रूप में केन्द्रीय सांगठनिक कमेटी का गठन किया गया जिसके कुल ग्यारह सदस्य थे : चारु मजुमदार, सुशीतल रायचौधरी, सरोज दत्त, कानू सान्याल, सौरेन बसु, शिवकुमार मिश्र, सत्यनारायण सिंह, आर. पी. सर्राफ, पंचाद्रि कृष्णमूर्ति, चौधरी तेजेश्वर राव और एल. अप्पू। चारु मजुमदार को कमेटी का सचिव चुना गया। एक वर्ष के भीतर पार्टी कांग्रेस बुलाने का निर्णय लिया गया। चीन की कम्युनिस्ट पार्टी ने पार्टी-स्थापना का स्वागत किया और उसे मान्यता प्रदान की। पीकिंङ रेडियो से 22 अप्रैल '69 के प्रस्ताव का, 1 मई की जनसभा में कानू सान्याल के भाषण का और जनसभा में पारित प्रस्तावों का प्रसारण हुआ। इससे कतारों में नवगठित पार्टी की मान्यता बढ़ी और नये उत्साह का संचार हुआ। 1969 के अन्त में एक पार्टी प्रतिनिधिमण्डल ने चीन की गुप्त यात्रा भी की।

अप्रैल 1970 में पार्टी कांग्रेस की तैयारी के लिए केन्द्रीय सांगठनिक कमेटी ने तीन दिनों की बैठक की। बैठक में सत्यनारायण सिंह, शिवकुमार मिश्र और सौरेन बसु को पार्टी कार्यक्रम का मसविदा तैयार करने की तथा सुशीतल रायचौधरी, आर. पी. सर्राफ और सरोज दत्त को राजनीतिक प्रस्ताव का मसौदा तैयार करने की जिम्मेदारी सौंपी गयी।

भा.क.पा. (मा-ले) की स्थापना कांग्रेस (जिसे कम्युनिस्ट पार्टी के इतिहास की निरन्तरता की दृष्टि से आठवीं कांग्रेस कहा गया) 15-16 मई 1970 को कलकता में हुई जिसमें प. बंगाल, बिहार, उत्तर प्रदेश, असम, आन्ध्र, त्रिपुरा, तमिलनाडु, केरल, पंजाब और जम्मू-कश्मीर के प्रतिनिधियों ने हिस्सा लिया। इसके पूर्व राजनीतिक प्रस्ताव के मसौदे पर उत्तर प्रदेश राज्य सम्मेलन में काफी बहस हुई थी जिसमें छापामार संघर्ष के ही संघर्ष के एकमात्र रूप होने, सफाये की लाइन और चीन की पार्टी के प्रति निष्ठा को क्रान्तिकारियों की एकरूपता की एकमात्र शर्त बनाने का विरोध किया गया था। कांग्रेस में आर. एन. उपाध्याय ने इस बहस की रिपोर्ट रखी। स्पष्ट था कि उ. प्र. में चारु की लाइन के विरोध का पक्ष प्रधान था। लेकिन राजनीतिक प्रस्ताव के मसौदे के पक्ष में सत्यनारायण सिंह के वक्तव्य के बाद उसे पारित कर दिया गया। पार्टी-कार्यक्रम

चीन की लोक जनवादी क्रान्ति के कार्यक्रम पर आधारित था। इसमें भारतीय समाज को एक अर्द्धसामन्ती, अर्द्ध-औपनिवेशिक समाज बताते हुए और आजादी को नकली आजादी बताते हुए अमेरिकी साम्राज्यवाद, सोवियत सामाजिक साम्राज्यवाद, सामन्तवाद और दलाल-नौकरशाह पूँजी को भारतीय जनता के चार मुख्य शत्रु बताया गया था। भारत को अमेरिकी और सोवियत साम्राज्यवाद का (एकसाथ) नवउपनिवेश बताया गया था लेकिन तत्कालीन दौर का मुख्य अन्तरविरोध व्यापक भारतीय जनता और सामन्तवाद के रूप में बताया गया था। यह कार्यक्रम चीन की पार्टी के विश्व परिस्थितियों के आम आकलन को निगमनात्मक तरीके से भारत पर लागू करते हुए तैयार किया गया था और विसंगतियों से भरा हुआ था। इसके पीछे ठोस परिस्थितियों के स्वतन्त्र अध्ययन-विश्लेषण की कोई भूमिका नहीं थी। आगे लेख में नवजनवादी कार्यक्रम की तमाम विसंगतियों-अन्तरविरोधों की चर्चा उस स्थान पर की जायेगी जहाँ मार्क्सवादी-लेनिनवादी शिविर में इस पर सवाल उठने का प्रसंग आयेगा, इसलिए यहाँ हम उसके विस्तार में नहीं जा रहे हैं। राजनीतिक प्रस्ताव भी इसी कार्यक्रम के अनुरूप था। साथ ही, उसमें रणकौशल और रास्ते से जुड़े विविध प्रश्नों पर रखी गयी अवस्थिति में "वाम" अवसरवादी लाइन की पूरी छाया मौजूद थी। रही-सही कोर-कसर चारु मजुमदार ने अपने वक्तव्य से पूरी कर दी जिसमें उन्होंने साफ-साफ शब्दों में पुरजोर तरीके से आतंकवादी लाइन की हाँक लगायी थी।

यहाँ यह चर्चा भी जरूरी है कि कांग्रेस में सौरेन बसु ने (सरोज दत्त भी उनके साथ थे) चारु मजुमदार के व्यक्तिगत प्राधिकार को औपचारिक तौर पर स्थापित करने का प्रस्ताव रखा। असीम चटर्जी ने प्रस्ताव के पक्ष में यहाँ तक कह डाला कि केन्द्रीय कमेटी और चारु मजुमदार के बीच विरोध होने पर मैं चारु मजुमदार का साथ दूँगा। कानू सान्याल ने बस इतना कहा कि तराई रिपोर्ट में चारु मजुमदार की भूमिका का और ज्यादा उल्लेख करना जरूरी था। सत्यनारायण सिंह ने इसका मुखर विरोध किया। शिवकुमार मिश्र और आर. पी. सर्राफ ने भी दबी जुबान से विरोध प्रकट किया। सुशीतल रायचौधरी ने माओ के उद्धरणों की पुस्तक से पार्टी कमेटी को शक्तिशाली बनाने सम्बन्धी सारे उद्धरण पढ़ सुनाये और इस प्रस्ताव को माओ की शिक्षाओं के विपरीत बताया। आम सहमति नहीं बनने के कारण यह प्रस्ताव पारित नहीं हो सका लेकिन बाद के दौर में केन्द्रीय कमेटी में मौजूद चारु समर्थक कॉकस ने वस्तुतः चारु के प्राधिकार वाली स्थिति को ही लागू किया, जिसके आगे केन्द्रीय कमेटी का कोई मतलब ही नहीं रह गया था। यह सर्वथा स्वाभाविक था क्योंकि "वामपन्थी" दुस्साहसवादी विचारधारात्मक-राजनीतिक लाइन केवल और केवल नौकरशाहाना और फरमानशाहाना केन्द्रीयता की सांगठनिक लाइन के माध्यम से ही प्रभावी हो सकती है।

कांग्रेस ने एक बीस-सदस्यीय केन्द्रीय कमेटी का चुनाव किया जिसके सदस्य थे : चारु मजुमदार, सुशीतल रायचौधरी, सरोज दत्त, कानू सान्याल, सौरेन बसु, सुनीति कुमार घोष, असीम चटर्जी (प. बंगाल), सत्यनारायण सिंह, गुरुबख़्श सिंह (बिहार), शिवकुमार मिश्र, महेन्द्र सिंह (उत्तर प्रदेश), वेंकटाप्पु सत्यनारायण, आदिमाटला कैलाशम्, नागभूषण पटनायक, अप्पाला सूरी (आन्ध्र प्रदेश), एल. अप्पू, कोदण्डरामन (तमिलनाडु), आम्बाडि (केरल), आर. पी. सर्राफ (जम्मू-कश्मीर), और जगजीत सिंह सोहल (पंजाब)। कमेटी के सचिव चारु मजुमदार चुने गये।

आठवीं कांगेस में स्वीकृत कार्यक्रम, राजनीतिक प्रस्ताव, राजनीतिक-सांगठनिक रिपोर्ट और चारु मजुमदार के वक्तव्य को यदि एकसाथ रखकर देखा जाये तो यह बात एकदम साफ हो जाती है कि कांग्रेस द्वारा स्वीकृत लाइन की विचारधारात्मक अन्तर्वस्तु मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओ विचारधारा के विपरीत थी। हम यहाँ कार्यक्रम में प्रस्तुत भारतीय समाज के विश्लेषण और चरित्र-निर्धारण का फिलहाल उल्लेख नहीं कर रहे हैं। मूल बात विचारधारा की है। यदि कोई क्रान्तिकारी पार्टी जनदिशा और जनवादी केन्द्रीयता की सांगठनिक लाइन को सुसंगत ढंग से लागू करती है तो अनुभवों के समाहार और अन्तर्पार्टी बहस-मुबाहिसे के द्वारा वह क्रान्ति के कार्यक्रम विषयक गलती को ठीक भी कर सकती है। लेकिन यदि पार्टी का विचाराधारात्मक आधार ही गलत हो तो सही कार्यक्रम भी महज कागज का टुकड़ा बनकर रह जायेगा। भा.क.पा. (मा-ले) का गठन मार्क्सवाद-लेनिनवाद के आधार पर नहीं बल्कि "वामपन्थी" दुस्साहसवाद के आधार पर हुआ था। आठवीं कांग्रेस ने एक सर्वभारतीय पार्टी-गठन के कार्यभार को कतई पूरा नहीं किया। मूलतः और मुख्यतः क्रान्तिकारी जनदिशा को लागू करने वाले जो मार्क्सवादी-लेनिनवादी संगठन थे (और जो संगठन "वामपन्थी" या दक्षिणपन्थी भटकाव के अपेक्षाकृत कम शिकार थे), वे भा.क.पा. (मा-ले) के बाहर ही रह गये थे। इसलिए, 1970 में गठित भा.क.पा. (मा-ले) के बारे में ज्यादा से ज्यादा इतना ही कहा जा सकता है कि वह गम्भीर "वामपन्थी" अवसरवादी भटकाव से ग्रस्त एक कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी संगठन था, एक सर्वभारतीय क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी कतई नहीं था।

(अगले अंक में जारी)

अगले अंक में :

- भा.क.पा. (मा-ले) में गतिरोध, संकट और फूट-दर-फूट का अविराम सिलसिला
- मा-ले शिविर की दूसरी धारा का संकट और बिखराव
- एक नयी धारा का उद्भव और उसकी दुर्गम विकास-यात्रा
- वर्तमान स्थिति : मुख्य धाराएँ और प्रवृत्तियाँ
- ऐतिहासिक गतिरोध और विफलता के कारणों की समाहारमूलक पड़ताल : विचारधारा, कार्यक्रम और सांगठनिक लाइन के प्रश्न, पार्टी-निर्माण और पार्टी-गठन का प्रश्न
- नक्सलबाड़ी की विरासत और कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन के समक्ष इक्कीसवीं सदी की चुनौतियाँ, समस्याएँ, विकास की दिशाएँ और सम्भावनाएँ

बेर्टोल्ट ब्रेष्ट के उपन्यास 'तीन टके का उपन्यास' के कुछ अंश

'वे बस सौदा करने की स्थिति में आने का इंतज़ार कर रहे हैं। इस पूरे मोल-भाव से मेरा दिमाग़ ख़राब हो जाता है! मैं यहाँ बैठता हूँ और हिस्सों के बारे में टाल-मटोल करता हूँ। मैं जो चाहता हूँ अगर ये लोग मुझे वह नहीं देते तो क्यों न बस मैं अपना छुरा निकालूँ और इनमें घुसेड़ दूँ? धन्धा करने का यह भी क्या तरीका हैसिगरेट पीना और करारनामों पर दस्तख़त करना! इसलिए मुझे छोटे-छोटे वाक्य घुसाने होंगे और सुझावपरक इशारे करने होंगे! मैं सीधे यह क्यों नहीं कह सकतातुम्हारा पैसा था तुम्हारी जान! सौदा क्यों किया जाय जब वही काम उनका टेंटुआ चाँपकर किया जा सकता है? जजों और बैलिफों के सामने कायरता से अपना बचाव क्यों किया जाय? ये सब एक आदमी को नीचे गिरा देता है। निश्चित रूप से, आज सड़कछाप डकैती के पुराने सीधे-सादे और स्वाभाविक तरीके आपको कहीं नहीं ले जाएँगे। उनका मौजूदा धन्धे के तरीकों से वही रिश्ता है जो चप्पूदार जहाज़ों का भाप से चलने वाले जहाज़ों से है। लेकिन पुराने दिन सबसे अच्छे थे। भूसम्पत्ति वाले पुराने ईमानदार दिन। वह सब कैसे ख़त्म हो गया! पहले, बड़ा भूस्वामी अपने काश्तकार के जबड़े पर एक घूँसा देता था और उसे कर्ज़दारों की जेल में डाल देता था। आज, उसी भूस्वामी को अदालत जाकर, वहाँ एक हाथ में कानून की किताब पकड़कर मुकदमा लड़ रहे काश्तकार के बेटे को इस बात पर बाध्य करना पड़ता है कि वह काग़ज़ के उस टुकड़े पर दस्तख़त करे, जो उसे उस काश्तकार को बेदख़ल करने की इजाज़त देगा। पहले, अगर कर्मचारियों की मज़दूरी पर्याप्त अधिक नहीं है या उनसे ज़्यादा मुनाफा नहीं मिल रहा होता था, तो उनका मालिक बस लात मारकर उन्हें बाहर निकाल सकता था। वह आज भी उन्हें बाहर निकालता है, निश्चित तौर पर, वह आज भी मुनाफा कमाता है और शायद पहले से ज़्यादा मुनाफ़ा कमाता है लेकिन कितनी अपमानजनक स्थितियों में! पहले उसे अपने मैनेजर के घृणास्पद मुँह में सिगार घुसेड़नी होगी और फिर उनके भेजे में वह सब भरना पड़ेगा जो उन्हें उन सर्वशक्तिशाली कर्मचरियो ंको बोलना है ताकि वे अपने मालिक के ज़्यादा यश और मुनाफे के लिए काम करने की दया करने का राज़ी हों। क्या जुगुप्सित स्थिति है। ऐसी स्थितियों में, कोई भी इज्जतदार इंसान, चाहे वह कितना भी सफल हो, अपने मुनाफे में आनन्द नहीं ले सकता! आत्म-सम्मान की क़ुर्बानी कहीं ज़्यादा बड़ी होती है! उससे सरकार पर भी असर पड़ता है। निश्चित रूप से आज भी जनता के मेहनत और आत्म-त्याग के जीवन की शिक्षा दी जाती है, लेकिन कितनी बड़ी कीमत पर! सरकार को शर्म भी नहीं आती कि वह इन्हीं लोगों से कहती है कि अपने हाथ में बैलट फॉर्म लें और उसी पुलिस के लिए वोट दें जो उन्हें नीचे रखने के लिए है। इस कमरे में भी आत्म-सम्मान की यह सार्वभौमिक उपेक्षा ग़ौर करने योग्य है। इन लोगों को मेरे द्वाराहाँ मेरे द्वारा, यानी एक साधारण से सड़कछाप लुटेरे द्वारा, यह बताया जाना चाहिए, कि उन दिनों में जब मैं अपने आपको अभी सड़कछाप लुटेरा ही कहता था, मैं अपने आपको इस कदर अपमानित नहीं करता जैसा कि वे अपने आपको कर रहे हैं!'

मैकहीथ, उपन्यास का एक केन्द्रीय पात्र

उन्होंने सोचा, 'कमाल है, किस तरह उलझा हुआ कारोबार अक्सर युगों पुराने साधारणतम तरीकों से रास्ते पर आ जाता है। वाकई, हमारी यह गर्वोन्मत्त सभ्यता उन दिनों से बहुत दूर नहीं है जब निअण्डरथल मानव को अपने शत्रु को मुग्दर से मार गिराना पड़ता था। ये पूरा धन्धा करारनामों और सरकारी सीलों के साथ शुरू हुआ, और अन्त में हमें कत्ल का सहारा लेना पड़ा! मैं कत्ल से किस कदर नफरत करता हूँ! बर्बरता की कितनी जुगुप्सापूर्ण निशानी है! लेकिन कारोबार इसे एक ज़रूरत बना देता है। इसके बग़ैर हमारा काम ही नहीं चल सकता। एक हत्यारे को सज़ा मिलती है; लेकिन हत्या न करने वाले को भी सज़ा भुगतनी पड़ती हैऔर कहीं ज़्यादा भयंकर ढंग से। मिसाल के तौर पर, क्रॉल को जहाज़ के कारोबार में अपने जानलेवा रुख के चलते मौत की सज़ा मिली। झुग्गियों में गुज़ारा जिसका मुझपर और मेरे परिवार पर ख़तरा आ गया था, कोई कैद से कम थोड़े ही है। वह एक उम्रकैद है! यहाँ जब देखो बेहतर शिक्षा और जनता की चेतना उन्नत करने की बात होती रहती हैनिस्सन्देह इस कोक्स की तस्वीर अक्सर मुझे और उसके हत्यारे फ्यूकूम्बी को नींद में दिखलाई पड़ेगीलेकिन चेतना, अच्छाई, मानवता, ये सब अकेले पर्याप्त मज़बूत नहीं है, एक लम्बे रास्ते में तो कतई पर्याप्त नहीं हैं, हत्या को पूरी तरह समाप्त करने के लिए; इसे अधिकृत करने का ईनाम बहुत बड़ा है और इसका अवहेलना करने की सज़ा बहुत भारी! दरअसल, यह कोक्स एक निहायत ही स्वाभाविक तरीके से मरा, या मारा गया था। उसके रहने पर सब गुड़-गोबर हो गया होता; उसके नहीं रहने पर सबकुछ, या लगभग सबकुछ ठीक है। मानता हूँ, कि हत्या अन्तिम उपाय है, बिल्कुल अन्तिमलेकिन यह फिर भी उपयोगी है। और सोचने की बात है कि हम तो सिर्फ साथ में धन्धा कर रहे थे!'

पीचम, उपन्यास का एक केन्द्रीय पात्र

'तीन टके का उपन्यास' परिकल्पना प्रकाशन, लखनऊ से हाल ही में प्रकाशित हुआ है

अमेरिकी सबप्राइम संकट : गहराते साम्राज्यवादी संकट की नयी अभिव्यक्ति

• अभिनव

"...यह प्रगति नहीं है, यह तो पीछे हटना है। और यह सबकुछ इसलिए है क्योंकि सम्पत्ति अब सम्पत्ति नहीं रह गयी है। पहले एक आदमी एक दुकान या एक घर का मालिक होता था और वह मुनाफे का एक स्रोत था। आज यह घाटे और तबाही का एक स्रोत हो सकता है। इससे चरित्र-निर्माण की अपेक्षा कैसे की जा सकती है। मान लो एक आदमी के पास साहस और उद्यम है। पिछले सालों में पहले ही वह कुछ पैसा बना चुका है। आज वह एक धन्धा खोलता है और लुट जाता है। सावधानी बरतने पर भी वह लुट जाता है। अचानक साहस का मतलब कर्ज़ चुकाने की क्षमता हो गया है; नहीं, कर्ज़ कम करने की क्षमता। अगर किसी आदमी का तीन साल से बिल्कुल समान दृष्टिकोण है, तो इससे यही पता चलता है कि तीन साल से उसने कभी वास्तविकता का सामना नहीं किया है।"

मैकहीथ (बेर्टोल्ट ब्रेष्ट के उपन्यास 'तीन टके का उपन्यास' का एक प्रमुख चरित्र)

2001 में शुरू हुए 'हाउसिंग बूम' (अमेरिका में आवास बाज़ार में आई अभूतपूर्व तेज़ी का दौर) के दौरान अमेरिकी संसद के कुछ मान्य सीनेटरों व राष्ट्रपति ने कहा कि अमेरिकियों को यह समझ लेना चाहिए कि देशभक्ति का अर्थ क्या है। देशभक्ति का अर्थ है जमकर ख़र्च करना और जो उपभोक्ता सामग्रियों पर ख़र्च नहीं करता वह आज के अर्थों में सच्चा देशभक्त नहीं है! अगर सीधे-सीधे उद्धृत किया जाय तो शब्द कुछ यूँ थे-'स्पेण्ड योर वे आउट ऑफ रिसेशन' (यानी, इतना ख़र्च करो कि मन्दी से बाहर निकला जा सके!) मार्क्स ने जब कहा था कि बुर्जुआ वर्ग का राष्ट्रवाद मण्डी में पैदा होता है तो उन्होंने शायद नहीं सोचा होगा कि पूँजीवादी विश्व के शीर्ष पर बैठे हुए देश का राष्ट्रपति इतने नंगे शब्दों में इस बात को स्वीकार करेगा!

2001 में डॉट-कॉम क्रैश के बाद के झटके से उबरने के लिए अमेरिका के केन्द्रीय बैंक *फेडरल रिज़र्व* या *फेड* ने ब्याज दरों को ज़बर्दस्त रूप से नीचे गिरा दिया। यह महामन्दी के दौर के बाद ब्याज दरों में की गयी सबसे बड़ी कटौतियों में से एक थी। कारण यह था कि *डॉट-कॉम* बुलबुले के फूटने के बाद शेयर मार्केटों में भारी गिरावट आनी शुरू हुई, कई निवेश बैंक दिवालिया हुए और उपभोक्ता सामग्रियों की ख़रीद में भारी कमी आने लगी। नतीजा था, एक मन्दी। लेकिन अभी यह मन्दी पूरी तरह परवान भी नहीं चढ़ी थी कि फेडरल बैंक ने ब्याज दरों में कटौती की ताकि उधार से वित्त पोषण करके उपभोक्ता सामग्रियों की ख़रीद को उन्हीं स्तरों पर बरकरार रखा जा सके जिन पर वह पहले थी, या उनसे भी ऊपर ले जाया जा सके। *डॉट-कॉम* बुलबुले के दौरान उपभोक्ता सामग्रियों की ख़रीद में वृद्धि करने के लिए जो 'समृद्धि प्रभाव' (वेल्थ इफेक्ट) पैदा करना था उसका जरिया बना था शेयर मार्केट। इस बार तेज़ी का जरिया था *रियल एस्टेट*, यानी आवास उद्योग। घर ख़रीदने के लिए भारी पैमाने पर ऋण दिये गये। *डॉट-कॉम* बुलबुला दरअसल एक दूसरे संकट से उबरने का फौरी नुस्खा था। वह संकट था 1997-98 का पूर्वी एशियाई देशों का मौद्रिक संकट जिसमें 'एशियन टाइगर्स' कही जाने वाली सशक्त पूर्वी एशियाई अर्थव्यवस्थाओं की मुद्राएँ औंधे मुँह गिर गयी थीं। *डॉट-कॉम* बुलबुले के फूटने के बाद आए संकट से उबरने के लिए 'हाउसिंग बूम' पैदा किया गया। दरअसल, आज जो संकट *'सबप्राइम क्राइसिस'* के नाम से पूरे विश्व मीडिया पर छाया हुआ है और जिसके कारण 18 दिसम्बर को अमेरिका के सबसे बड़े निवेश बैंकों में से एक *मॉर्गन स्टैनली* को खुले तौर पर स्वीकारना पड़ा कि अमेरिका एक घातक मन्दी की ओर तेज़ी से फिसल रहा है और यह मन्दी तथाकथित 'उभरती अर्थव्यवस्थाओं' को बुरी तरह प्रभावित करेगा और कालान्तर में एक वैश्विक मन्दी का रूप ले लेगा, वह संकट इसी 'हाउसिंग बूम' के फटने के कारण आया है; ऐसा कैसे हुआ है, यह हम इस लेख में आगे देखेंगे। सितम्बर तक रॉबर्ट शिलर से लेकर जोसेफ़ स्टिग्लिट्ज़ तक जैसे अर्थशास्त्री जिस संभावित मन्दी की बात कर रहे थे वह दिसम्बर आते-आते एक हकीक़त में तब्दील होने लगी है। इससे पहले कि हम आगे बढ़ें, यह स्पष्ट कर देना ज़रूरी है कि इस वित्तीय संकट ने एक बार फिर बुनियादी मार्क्सवादी सिद्धान्तों

की वैधता को पूरे ज़ोर के साथ स्थापित कर दिया है। यह और कुछ नहीं अतिउत्पादन और साम्राज्यवाद या इजारेदार पूँजीवाद के दौर में पूँजी के बढ़ते अनुत्पादक चरित्र और उसकी सट्टेबाज़ प्रवृत्ति के कारण पैदा होने वाला साम्राज्यवादी आर्थिक संकट है, जो हर नये चक्र के साथ और अधिक गहराता जा रहा है और पूरी दुनिया को एक नयी उथल-पुथल की ओर धकेल रहा है। इस लेख में हम सबप्राइम संकट के जरिये अमेरिकी और मोटे तौर पर पूरी विश्व अर्थव्यवस्था के गहराते आर्थिक संकट के चरित्र, कालानुक्रम, उसकी दिशा और उसके भविष्य पर एक निगाह डालेंगे और उसे समझने का प्रयास करेंगे और साथ ही यह प्रदर्शित करेंगे कि यह साम्राज्यवाद के गहराते संकट और उसके अवश्यंभावी अंत का एक दिशा-संकेतक ही है।

सबप्राइम ऋण क्या है?

सबप्राइम संकट का रिश्ता सबप्राइम ऋण से है। अमेरिका में ऋणों को मानक तय करने वाले संस्थानों और बैंकों तथा वित्तीय मामलों पर केन्द्रित पत्रिकाओं ने कई श्रेणियों में बाँटा है। सबसे ऊँची श्रेणी होती है *'एएए'* ऋण या प्राइम ऋण जिसमें जोखिम सबसे कम होता है। यानी, जिसके ब्याज सहित चुकता होने में न्यूनतम सन्देह है। इसके बाद, आती है 'ऑल्ट-ए' या 'ऑल्टरनेटिव ए' श्रेणी, जो इससे थोड़ा अधिक जोखिम वाले ऋण होते हैं। इसमें भी ऋण लेने वाले की जाँच आदि की जाती है, उसके दस्तावेज़ों को देखा जाता है। इसके बाद आती है 'सबप्राइम' ऋण की श्रेणी। यह सबसे ख़तरनाक किस्म के ऋण होते हैं। इसमें ऋण लेने वाले की भरोसेमन्दी की पूरी तरह जाँच नहीं की जाती है और उन लोगों को भी ऋण दिया जाता है जिनके उधार लेने का इतिहास और बैंक खाते की क्रेडिट हिस्टरी उनको ऋण की पात्रता से वंचित करती है। इसके बदले में उनपर अत्यधिक ब्याज लगाया जाता है। यह ब्याज कई मामलों में फिक्स्ड यानी स्थिर नहीं होता बल्कि वह परिवर्तनीय होता है। इसे ए.आर.एम (*एड्जस्टेबल रेट मॉर्टगेज*) भी कहा जाता है। और ऋण की पूरी अवधि में ब्याज दरें 2 प्रतिशत से 30 प्रतिशत तक जा सकती हैं। ऋणदाता सबप्राइम ऋण में निहित जोखिम से निपटने के लिए भारी ब्याज दरें लगाता है। जब तक सबप्राइम ऋण देने वालों को फेडरल रिज़र्व से कम ब्याज पर ऋण मिलता रहता है तब तक तो ब्याज दरें थोड़ी कम रहती हैं और फेड द्वारा ब्याज दरें बढ़ाए जाने के साथ ही प्रति माह ऋण की किश्त का भुगतान बढ़ता जाता है।

सबप्राइम ऋण देनेवाले और लेनेवाले दोनों के लिए ही घातक होता है। इसका कारण होता है, लेनेवाले की खराब आर्थिक स्थितियाँ और अत्यधिक ऊँची ब्याज दर। सबप्राइम ऋण कई किस्म के क्रेडिट उपकरणों का उपयोग करके दिया जाता है। इसके प्रमुख रूप हैं *सबप्राइम मॉर्टगेज*, जिसमें सबप्राइम ऋण लेने वाला संपत्ति गिरवी रखकर ऋण लेता है, और सबप्राइम क्रेडिट कार्ड, जिसमें उपभोक्ता को खर्च के लिए सबप्राइम ऋण क्रेडिट कार्ड के माध्यम से दिया जाता है। सबप्राइम ऋण की शुरुआत दिखावे के लिए जनता के हित में हुई थी। यह कहा गया कि यह उन ग़रीब लोगों को भी ऋण का पात्र बना देता है जिनकी क्रेडिट हिस्टरी उनको प्राइम श्रेणी के ऋणों का अधिकारी नहीं बनाती। लेकिन यह नहीं बताया गया कि इसमें कई बार ब्याज दर इतनी अधिक बढ़ सकती है कि उसकी एक किश्त मूलधन से भी अधिक हो जाए, या फिर जिस संपत्ति को गिरवी रखकर वह ऋण लिया गया है, उस संपत्ति की कीमत से भी अधिक हो जाए। लोगों को फँसाने के लिए पहले कुछ महीने ब्याज दरें कम रखी जाती हैं ताकि लोग सबप्राइम ऋण लेते रहें। और उसके बाद ब्याज दरें बढ़ना शुरू होती हैं और यह दरें कई बार 30 प्रतिशत तक पहुँच जाती हैं।

सबप्राइम ऋण की शुरुआत का कारण था वित्तीय बाज़ार की बढ़ती अस्थिरता और एक भारी आबादी का विकास जिसकी क्रेडिट रेटिंग इतनी नहीं थी कि उन्हें ऋण देने के काबिल समझा जाय। अमेरिका का संस्थान *फिको (FICO) क्रेडिट ब्यूरो* रिस्क स्कोर देता है जिसके अनुसार किसी व्यक्ति की ऋण की पात्रता निर्धारित होती है। 25 प्रतिशत अमेरिकियों का क्रेडिट स्कोर 620 अंक से कम है, जो उन्हें प्राइम ऋण या ऑल्ट-ए ऋण की श्रेणी से बाहर कर देता है। लेकिन अमेरिकी वित्तीय बाज़ार 25 प्रतिशत अमेरिकी जनता को छोड़ नहीं सकता। दूसरी बात यह कि उसके पास पूँजी की इतनी प्रचुरता है कि प्राइम व ऑल्ट-ए ऋण का बाज़ार संतृप्त होने के बाद भी उसके पास भारी मात्र में पूँजी बच जाती है। अब इस पूँजी का संचरित कराना उसके लिए अस्तित्व का प्रश्न होता है। इसलिए एक नये ऋण उपकरण का आविष्कार किया गया--सबप्राइम लोन!! और उसे इस लफ्फाजी भरे तर्क की चाशनी में लपेटा गया कि यह ग़रीब लोगों को भी ऋण की पात्रता के दायरे में लाकर एक क्रान्तिकारी काम को अंजाम देता है।

मौजूदा सबप्राइम संकट का कारण दरअसल सबप्राइम मॉर्टगेज बाज़ार में आया संकट है। सबप्राइम ऋण का यह सबसे प्रमुख उपकरण है। इसमें किसी संपत्ति को सिक्योरिटी के रूप में रखकर ऐसे व्यक्तियों को ऋण दिया जाता है जो एएए श्रेणी का या ऑल्ट-ए श्रेणी का ऋण प्राप्त करने के लिए पूरे किये जाने वाले मानकों को पूरा नहीं करते। *मूडीज़ इन्वेस्टर्स* सर्विस के प्रमुख अर्थशास्त्री जॉन लांस्की का कहना है कि 2004 से 2006 तक अमेरिका में दिये गये सारे ऋणों में से 21 प्रतिशत सबप्राइम ऋण थे। 2006 में सबप्राइम मॉर्टगेज के तहत 600 बिलियन डॉलर का ऋण दिया गया जो अमेरिका के कुल आवास ऋण बाज़ार का 20 प्रतिशत था। इसी आँकड़े से सबप्राइम ऋण की पहुँच को समझा जा सकता है। सबप्राइम ऋण के उदय को समझने के लिए यह समझना बेहद ज़रूरी है कि द्वितीय विश्वयुद्धोत्तर काल में ऋण का एक माल के रूप में विकास हुआ और इसी के साथ विकसित हुआ एक ऋण बाज़ार। वित्तीय पूँजी के विस्तार के साथ यह होना लाज़िमी था। इसका प्रमुख उदाहरण *डिबेंचर इशू* को माना जा सकता है जिसमें कम्पनियाँ लोगों से ऋण लेती हैं, जिसके बदले में वे उन्हें ब्याज लेने और ऋण के भुगतान प्राप्ति का अधिकार देती हैं। लाभ के दौर में तो यह उपकरण निवेशकों के लिए फायदेमन्द होता है, लेकिन मन्दी के दौर में यह दोगुना नुकसानदेह साबित होता है। ऋण की इस खरीद-फरोख्त में वित्तीय बाज़ार में पूँजी की प्रचुरता के साथ भारी बढ़ोत्तरी हुई है। पूँजी के बाज़ार पर भी हर बाज़ार की तरह संतृप्त

होने का नियम लागू होता है। यहाँ भी लाभ के दर में लगातार गिरावट की प्रवृत्ति होती है। यही कारण है, कि प्राइम ऋण के बाज़ार के संतृप्त होने के बाद अब बदहवासी में निवेश बैंकों और मॉर्टगेज बैंकों ने अन्धाधुन्ध सबप्राइम ऋण दिये। यह फौरी मुनाफ़े के लिए और संकट को रोकने के लिए एक ललचा देने वाला रास्ता था। इस बदहवासी में ही बैंकों ने ऋणों का पैकेज बनाकर बेचने के तमाम नायाब तरीके निकाले। इन निवेश बैंकों ने अन्य वित्तीय संस्थाओं जैसे *हेज फण्ड्स*, बैंकों और बीमा कम्पनियों को ये ऋण पैकेज बेचे। इससे यह उम्मीद की गयी कि जोखिम का वितरण हो जाएगा और विस्फोटक कचरा सामग्री (बुरे जोखिम भरे ऋण) किसी एक जगह पर एकत्र नहीं होंगे। इससे कोई एक बैंक बुरे ऋणों के संकट के तहत ध्वस्त नहीं होगा। लेकिन ऋण को दूसरों के मत्थे डालने के इस चमत्कारी मंत्र ने कई ऋणदाताओं को अपने ऋण देने के मानकों को बेहद ढीला कर देने के लिए प्रेरित किया। सबप्राइम ऋणों को और आकर्षक बनाने के लिए उनकी पैकेजिंग अन्य प्राइम व ऑल्ट-ए ऋणों के साथ की गयी और इन ऋण उत्पादों को *कोलेटरल डेट ऑब्लिगेशन* (संपार्श्विक ऋण देनदारी) कहा गया। इन ऋणों को तमाम संस्थानों द्वारा अच्छी क्रेडिट रेटिंग दी गयी और फिर इन निवेश बैंकों ने इन्हें जमकर हेज फण्ड्स और बैंकों को बेचा। लेकिन जैसे ही सबप्राइम ऋण की ब्याज दर बढ़नी शुरू हुई और इन ऋणों के भुगतान का असफल होना शुरू हुआ वैसे ही इन हेज फण्ड्स और बैंकों को पता चला कि जिन ऋणों को वे कम जोखिम वाला समझ रहे थे वे वित्तीय कचरा थे और फिर शुरू हुआ बैंकों और हेज फण्ड्स के दीवालिया होने का सिलसिला और सबप्राइम संकट का प्रारंभ!

सबप्राइम संकट

सबप्राइम संकट का आरंभ 2006 के उत्तरार्द्ध में, मोटा-मोटी अगस्त में हुआ। सबप्राइम ऋण लेने वाले ऋण के ब्याज का भुगतान करने में स्वयं को असमर्थ पाने लगे और फिर शुरू हुआ नीलामियों (फोरक्लोज़र्स) का सिलसिला। नतीजा यह हुआ कि सबप्राइम ऋण देने वाले तमाम बड़े बैंक एक-एक करके धराशायी होने लगे। 100 से अधिक सबप्राइम ऋणदाताओं ने या तो अपने आपको दीवालिया घोषित कर दिया या फिर वे बंद हो गये। इसमें न्यू सेंचुरी फाइनेंशियल कॉर्पोरेशन भी शामिल था जो देश का दूसरा सबसे बड़ा सबप्राइम ऋणदाता था। इन कंपनियों के औंधे मुँह गिरने के कारण अमेरिका का 6.5 ट्रिलियन (दस खरब) डॉलर का मॉर्टगेज बाज़ार ढह गया और इसका अमेरिकी आवास बाज़ार और पूरी अर्थव्यवस्था पर भयंकर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। यह संकट अब इस हद तक पहुँच गया है कि तमाम अर्थशास्त्री इसे एक मन्दी का नाम दे रहे हैं और अमेरिकी अर्थव्यवस्था के भयंकर रूप से संकटग्रस्त होने की घोषणा कर रहे हैं।

इस संकट का कारण यह था कि भारी राष्ट्रीय ऋण और व्यापार घाटे के कारण अमेरिकी केन्द्रीय बैंक फेडरल रिज़र्व को ब्याज दरें बढ़ानी पड़ीं। नतीजतन, निवेश बैंकों और मॉर्टगेज बाज़ार के बड़े खिलाड़ियों को अपनी ब्याज दरें बढ़ानी पड़ीं। इसके कारण सबसे भारी चोट पड़ी सबप्राइम ऋण लेने वालों को क्योंकि वे परिवर्तनीय ब्याज दर के तहत ऋण प्राप्त करने वाले लोग थे। यह दरें तेज़ी से ऊपर गयीं और नतीजे के तौर पर भारी संख्या में सबप्राइम ऋण लेने वाले लोगों ने ऋण के भुगतान में अपनी असमर्थता जता दी। घरों की नीलामी शुरू हुई। लेकिन सबप्राइम संकट के कारण जो नीलामियाँ शुरू हुईं उसने अमेरिका के 'हाउसिंग बूम' का भी निर्णायक रूप से क्रिया-कर्म कर दिया जो पहले से ही संकट का शिकार था। 'हाउसिंग बूम' के पैदा होने और ख़त्म होने की कहानी को हम एक अलग उपशीर्षक के तहत बयान करेंगे। हाउसिंग बूम के ख़त्म होने के कारण घरों की कीमत में भारी कमी आनी शुरू हुई और लोगों की मकान खरीदने में दिलचस्पी ख़त्म होने लगी। यानी कि अब उन नीलामियों का कोई फ़ायदा नहीं था जो सबप्राइम के कारण होनी शुरू हुईं क्योंकि कोई ख़रीदार ही नहीं था। परिणामतः, पूँजी बाज़ार के खिलाड़ियों की पूँजी फँसनी शुरू हो गयी और एक *लिक्विडिटी क्रंच* की स्थिति पूँजी बाज़ार में पैदा हो गयी। *लिक्विडिटी* या तरलता का अर्थ होता है अर्थव्यवस्था में पूँजी की मौजूदगी। तरलता में कमी के कारण कई बड़े निवेश बैंक असमाधेयता *(इनसॉल्वेंसी)* का शिकार हो गये और एक *क्रेडिट क्रंच* (ऋण में कमी) पैदा हो गयी। बड़े निवेश बैंकों और हेज फण्ड्स के दीवालिया होने के कारण स्टॉक मार्केट में भी पतन का ख़तरा पैदा हो गया। कारण यह था कि हेज फण्ड्स और सबप्राइम ऋण लेने वाले सभी निवेशक या तो पूँजी की कमी का या फिर असमाधेयता और दीवालियेपन का शिकार हो गये और उनके शेयरों के दाम गिरने लगे। हेज फण्ड्स में निवेश करने वाले लोगों ने अपने शेयर बेचने शुरू कर दिये। कोई निवेश बैंक या हेज फण्ड्स नहीं जानता था कि उसने जो *कोलेटरल डेट ऑब्लिगेशन* वाले बॉण्ड्स खरीदे हैं उसमें कितना जहरीला वित्तीय कचरा है, यानी उसमें कितना सबप्राइम ऋण है। इन निवेश संस्थानों ने अपने जोखिम का नये सिरे से मूल्यांकन शुरू किया, या कहा जाय कि वे ऐसा करने को बाध्य हो गये। उपभोक्ताओं का भरोसा डगमगा गया और उन्होंने और ख़र्च करने और अपनी उपभोक्ता ख़रीदारियों को वित्त पोषित करने की क्षमता खो दी। मतलब यह कि उपभोक्ता सामग्रियों पर ख़र्च में भारी कमी आनी शुरू हो गयी। और अमेरिकी अर्थव्यवस्था के लिए तो यह बहुत ही दुर्भाग्यपूर्ण था जिसके कुल सकल घरेलू उत्पाद का 70 प्रतिशत हिस्सा उपभोक्ता खरीदारियों से आता है। इससे स्थिर आय, *इक्विटी* और *डेरिवेटिव* बाज़ार में अस्थिरता बढ़ी। इसका असर पूरी अर्थव्यवस्था पर नज़र आना शुरू हो गया है। जो लोग शुरू में यह कह रहे थे कि सबप्राइम संकट वित्तीय पूँजी बाज़ार का संकट है इसलिए इससे अमेरिकी अर्थव्यवस्था जल्दी ही उबर जाएगी और इसका वास्तविक अर्थव्यवस्था पर कोई प्रभाव नहीं होगा, उन्हें काफ़ी शर्मिंदगी का सामना करना पड़ रहा है। आज एकदम साफ़ हो चुका है कि सबप्राइम संकट अतिउत्पादन और पूँजी की प्रचुरता का ऐसा संकट है जिसका प्रभाव अमेरिका की वास्तविक अर्थव्यवस्था पर ही नहीं बल्कि पूरी दुनिया की वास्तविक अर्थव्यवस्था पर भी पड़ने वाला है।

सबप्राइम संकट की एक साम्राज्यवादी वित्तीय संकट के रूप में समझ विकसित करने के लिए हमें डॉट-कॉम बुलबुले के समय

से अमेरिकी अर्थव्यवस्था के पूरे ऐतिहासिक विकास पर निगाह दौड़ानी होगी। अगर यह समझ लिया जाय कि कहानी यहाँ तक पहुँची कैसे तो यह भी समझा जा सकता है कि यह जाएगी कहाँ।

अमेरिकी अर्थव्यवस्था का बूम-बस्ट चक्र (1997-2005)

डॉट-कॉम बुलबुला सट्टेबाज़ी के कारण पैदा हुआ एक स्टॉक मार्केट बूम था। यह मोटे तौर पर 1990 के दशक के मध्य से शुरू हुआ और 2001 तक बना रहा। इसी दौर में ई-कॉमर्स और ई-बिज़ आदि जैसे जुओं की शुरुआत हुई। इस बुलबुले के पैदा होने के पूरे दौर में पश्चिमी विकसित पूँजीवादी देशों के स्टॉक मार्केट में भारी उछाल आया जिसका कारण था इण्टरनेट व सम्बन्धित सेक्टर में आयी वृद्धि। इस पूरे दौर ने नये किस्म की कम्पनियों के आश्चर्यजनक उभार को देखा जिन्हें डॉट-कॉम कम्पनियाँ कहा गया। इन कम्पनियों की वृद्धि के कारण शेयरों की बढ़ती कीमत और सट्टेबाज़ी या स्पेक्यूलेशन के कारण एक ऐसा माहौल पैदा हुआ जिसमें कम्पनियों ने वास्तविक अर्थव्यवस्था में निवेश करना कम कर दिया और स्टॉक मार्केट से तुरत-फुरत मुनाफ़ा कमा लेने की तकनीक का इस्तेमाल करना शुरू किया। लेकिन कोई ठोस आधार न होने के कारण 2001 में डॉट-कॉम बुलबुला फूटा और इसने 2000 के दशक की मन्द मन्दी का श्रीगणेश कर दिया।

डॉट-कॉम कम्पनियों का पूरा फण्डा था इण्टरनेट तकनोलॉजी के आधार पर आइडिया बेचना और नेटवर्क इफेक्ट पैदा करके अपनी बाज़ार हिस्सेदारी को बढ़ाना। इन कम्पनियों का मानना था कि शुरुआत में एक निश्चित अवधि तक हानि में रहकर काम करते हुए डॉट-कॉम तकनोलॉजी द्वारा ब्राण्ड जागरूकता पैदा की जाय और फिर अपने उत्पादों और सेवाओं के लिए लाभदायक कीमतें वसूली जाय। इस हानि की अवधि के दौरान ये कम्पनियाँ वेंचर पूँजी पर निर्भर करती थीं, जिसका अर्थ था शुरू करने के लिए आरंभिक पूँजी। यह पूँजी प्राप्त करना 1997-98 के समय आसान हो गया था क्योंकि 1997-98 के पूर्वी एशियाई संकट के उत्तर-प्रभावों से निपटने के लिए *फेड* ने ब्याज दरें बेहद गिरा दी थीं। इसके अलावा ये कम्पनियाँ निर्भर करती थीं अपने शेयर को अच्छे से अच्छे दाम पर बेचने के लिए जिसके लिए सट्टेबाज़ों को जमकर खिलाया जाता था। ये शेयर एकदम नये किस्म के थे जिनका वास्तकविक संपत्ति से कोई लेना-देना नहीं था। वास्तविक अर्थव्यवस्था में काम करने वाली कम्पनियों के शेयरों के दाम उनकी वास्तविक संपदा से मेल नहीं खाते। लेकिन डॉट-कॉम कम्पनियों की तो कई बार कोई वास्तविक सम्पदा होती ही नहीं थी और फिर भी उनके शेयर आसमान छू रहे थे! कई कम्पनियाँ इस शेयर बाज़ार बुलबुले के कारण कागज़ों पर अरबपति-खरबपति हो गयीं। मार्च 2000 इस डॉट-कॉम बुलबुले के फूलने का चरमोत्कर्ष था जब नास्डाक सूचकांक अपने शीर्ष पर पहुँचा। डॉट-कॉम बुलबुले के फूटने की शुरुआत इसी के ठीक बाद हुई। इसके तात्कालिक कारणों के रूप में लोगों ने अमेरिकी सरकार और माइक्रोसॉफ्ट के बीच हुए मुकदमे और *वाई2के* समस्या को भी गिनाया था लेकिन असल कारण कुछ और था। भावी मुनाफ़े की उम्मीद में तमाम इंटरनेट सम्बन्धित सेक्टरों में सैकड़ों कम्पनियाँ लगातार हानि में काम कर रही थीं। उनका सहारा था फेड की कम ब्याज दर। लेकिन नेटवर्क प्रभाव के जरिये सभी कम्पनियाँ कभी मुनाफ़ा कमा ही नहीं सकती थीं। हर सेक्टर में ज़्यादा से ज़्यादा एक या दो विजेता ही हो सकते थे जो प्रचार और सट्टेबाजी के जरिये अपने उपभोक्ताओं के आधार को हानि में रहते हुए इस हद तक विस्तारित कर पाते कि बाद में उससे कहीं ज़्यादा मुनाफ़ा कमाया जा सके। 2001 आते-आते जिस भावी मुनाफ़े की उम्मीद में तमाम डॉट-कॉम कम्पनियाँ काम कर रही थीं, वह असलियत नहीं बन पाया और वेंचर पूँजी भी समाप्त हो चुकी थी। नतीजतन, सैकड़ों कम्पनियाँ दीवालिया हुईं, छँटनियाँ हुईं, तालाबन्दियाँ हुईं और स्टॉक मार्केट भारी मन्दी का शिकार होने लगा। तरलता में एक भारी कमी आयी और पूरी की पूरी अर्थव्यवस्था एक गम्भीर मन्दी की ओर बढ़ने लगी।

हेज फण्ड्स

हेज फण्ड्स एक निवेश फण्ड होता है जो विनियमन और करों से बचने के लिए बने होते हैं। वे फण्ड की सम्पत्ति के मूल्य के बढ़ने पर एक परफार्मेंस शुल्क लगाते हैं। हेज फण्ड्स का पैसा विशाल निवेश प्रबन्धन कम्पनियों द्वारा प्रबन्धित होता है। चूँकि हेज फण्ड्स अविनियमित होते हैं इसलिए यह ऐसे तमाम निवेश कर सकता है जो जोखिम भरे होते हैं। यह *शॉर्ट सेलिंग, फ्यूचर्स, स्वैप* व *डेरिवेटिव* जैसे तमाम जोखिम भरे निवेश कर सकता है। हेज फण्ड दरअसल ऐसे फण्ड होते हैं जिनमें विशाल धनपतियों और संस्थाओं के पैसे लगे होते हैं। ये आम जनता से निवेश नहीं आमन्त्रित करते इसीलिए ये विनियमन से बच जाते हैं। यही कारण है कि हेज फण्ड्स अधिक जोखिम उठाना चाहते हैं। वित्तीय बाज़ार का बुनियादी फण्डा यह होता है कि जिस निवेश में जितना अधिक जोखिम होगा वह तुरत-फुरत और अधिक मुनाफ़ा देने में उतना ही सक्षम होगा। हेज फण्ड्स इसीलिए उच्च रिटर्न वाले बॉण्ड्स, मन्दी झेल रही प्रतिभूतियों और कोलेटरल डेट ऑब्लिगेशन प्रतिभूतियों में निवेश करते हैं। इनमें सबप्राइम ऋण वाले *कोलेटरल डेट ऑब्लिगेशन* भी शामिल हैं जो कई अन्य अच्छे ऋणों के साथ पैकेज बनाकर डेरिवेटिव के रूप में बेचे जाते हैं। इनमें जब तक मुनाफ़ा मिलता है, ज़बर्दस्त मुनाफ़ा मिलता है, लेकिन इनके ढहते पर होने वाला नुकसान भी भयंकर होता है। इसीलिए जब सबप्राइम संकट फैला तो सबसे पहले निवेश बैंक और हेज फण्ड दीवालिया होने शुरू हुए। कुल मिलाकर यह बड़ी पूँजी द्वारा निकाला गया मुनाफा पीटने का एक नया तरीका है जो 'अधिक जोखिम यानी अधिक मुनाफ़ा' के सिद्धान्त पर काम करते हैं।

हाउसिंग बूम

"...एक दूसरे मौके पर मैंने एक ऐसा घर बेच डाला था जो मेरा नहीं था; वह उस वक्त खाली था। मैंने एक सूचना लगा दी : बिकाऊ है। ख़रीदने के लिए एक्स.एक्स के पास दस्तखत करें। वह मैं था। बचकानापन! वह वाकई अनैतिक था क्योंकि यह गैर-कानूनी तरीकों ओर जरियों का बिला वजह फायदा उठा रहा था। यह काम उतनी ही आसानी से कुछ रद्दी और बेढंगे बने मकानों को बनवाकर, उन्हें किश्तों में बेचकर और, खरीदारों के कंगाल हो जाने का इंतज़ार करके भी किया जा सकता था! और फिर आपके पास घर भी हैं और आप जब भी जितनी बार चाहें उतनी बार इस प्रक्रिया को दोहरा सकते हैं और यह सबकुछ पुलिस को दखल देने का कोई बहाना दिये बगैर किया जा सकता है!"

मैकहीथ (बेर्टोल्ट ब्रेष्ट के उपन्यास 'तीन टके का उपन्यास' का प्रमुख चरित्र)

डॉट-कॉम बुलबुले के फूटने के कारण पैदा हुए संकट से निपटने के लिए फेडरल बैंक ने ब्याज दरों को ऐतिहासिक रूप से निम्न स्तरों तक गिरा दिया। यहीं से शुरू होती है 'हाउसिंग बूम' की कहानी। ज़रा येल के अर्थशास्त्री रॉबर्ट शिलर के इस कथन पर निगाह डालें--**"जैसे ही शेयरों की कीमत गिरी, रियल एस्टेट उस सट्टेबाज़ी के पागलपन के लिए एक प्राथमिक निकासी द्वार बन गया, जिसे स्टॉक मार्केट ने शुरू किया था। अपने हाल ही में हासिल की गयी प्रतिभा का ये जुआरी इससे बेहतर और कहाँ इस्तेमाल कर सकते थे?....आजकल घर खरीदने से बड़ा राष्ट्रीय उन्माद सिर्फ़ पोकर है..."।**

आज जिस परिघटना को हम 'हाउसिंग बूम' के नाम से जानते हैं वह अमेरिकी आवास बाज़ार में मोटे तौर पर 2001 से 2005 तक अस्तित्वमान रही और 2005 में उसमें उतार शुरू हुआ। आवास बाज़ार में तेज़ी पूरे अमेरिका में समान रूप से नहीं आयी। विशेष रूप से इसका केन्द्र थे कैलीफोर्निया, फ्लोरिडा, न्यूयॉर्क, शिकागो, डेट्रॉइट, और बॉसवॉश मेगालोपॉलिस। इसके अतिरिक्त भी कई अन्य इलाकों में इस तेज़ी का प्रभाव देखा गया। आवास बाज़ार में आने वाली तेज़ी कोई नयी परिघटना नहीं थी। यह द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद से चक्रीय रूप से अमेरिकी अर्थव्यवस्था में आती-जाती रही है। लेकिन इस बार यह सबसे बड़े पैमाने पर आयी थी और इसमें कुछ अस्वस्थ और अस्वाभाविक था। इस बुलबुले के पैदा होने के कई कारण थे। इनमें ऐतिहासिक रूप से निम्न ब्याज दरें, ऋणदाताओं द्वारा बेहद कम ब्याज दरों पर और बिना जाँच-पड़ताल के बड़े पैमाने पर दिया जाने वाला खराब ऋण, और प्रचार और सट्टेबाज़ी द्वारा घर खरीदने के लिए पैदा किया गया उन्माद प्रमुख थे। लेकिन यह सारा गोरखधन्धा क्यों किया गया था, यह जानना दिलचस्प होगा। डॉट-कॉम बुलबुले के फटने के बाद अमेरिकी अर्थव्यवस्था जिस मन्दी की ओर बढ़ रही थी उसके बारे में हम बता चुके हैं। इस मन्दी के आसन्न होने के कारण उपभोक्ता सामग्रियों की ख़रीद में कमी आने लगी थी। इसी कमी को रोकने के लिए लोगों के बीच एक ऐसा माहौल पैदा करना ज़रूरी था जिससे कि उपभोक्ता ख़र्च को गिरने से रोका जा सके। ऐसा किया जा सकता था 'वेल्थ इफेक्ट' पैदा करके और सहज प्राप्य पूँजी मुहैया कराके।

पहली बात तो यह है कि अमेरिकियों में मकान के मालिकाने के प्रति एक आसक्ति वहाँ की व्यवस्था ने लम्बे समय के दौरान पैदा की है। ज्ञात हो कि अमेरिकी बड़े पूँजीपति वर्ग में रियल एस्टेट वालों की हमेशा से ही एक शक्तिशाली लॉबी रही है। नतीजतन, एक आम मध्यवर्गीय अमेरिकी नागरिक घर का मालिक होना बहुत बड़ी नेमत समझता है। लेकिन इस बुलबुले को बनाने के लिए पहले यह इच्छा एक उन्माद में तब्दील की गयी और फिर पागलपन में। यहाँ तक कि तमाम सटोरियों की पत्रिकाओं तक ने 2005 के आरम्भ होते-होते रियल एस्टेट बाज़ार को "झागदार" (फ्रॉथी) बताना शुरू कर दिया। 2007 में *फोर्ब्स* पत्रिका ने एक लेख में लिखा, *"यह समझने के लिए कि अमेरिका में घर खरीदने का उन्माद सभी संजीदा सच्चाइयों से कोसों दूर है, आपको बस मौजूदा सबप्राइम ऋण संकट पर एक निगाह डालने की आवश्यकता है...जैसे-जैसे ब्याज दरें और उसके साथ मॉर्टगेज भुगतान चढ़ने शुरू हुए हैं, वैसे-वैसे कई नये मालिकों को अपनी ज़रूरतों को पूरा करने में दिक्कतें पेश आ रही हैं...ये ऋण लेने वाले उससे भी बुरी स्थिति में पहुँच गये हैं जिसमें वे ऋण लेने से पहले थे।"*

दूसरी बात यह है कि अमेरिका में आवास में निवेश करने को ज़्यादा भरोसेमन्द माना जाता है। इस रूप में नहीं कि यह आपको रहने की जगह देगा, बल्कि इस रूप में कि यह एक लाभदायक और भरोसेमन्द एसेट (सम्पदा) है जिसकी कीमत समय के साथ बढ़ेगी। साथ ही यह तुलनात्मक रूप से जोखिम से मुक्त निवेश है। यह कहा जाता है कि शेयर की तरह मकानों की कीमत अस्थिर और गैर-भरोसेमन्द नहीं होती है। इसके अतिरिक्त, महामन्दी के बाद के दौर से हाउसिंग बूम के समाप्त होने तक अमेरिका में मकानों की दरों में कभी गिरावट नहीं आयी थी। इसलिए भी लोग मकान में पैसा लगाना शेयर मार्केट में पैसा लगाने से बेहतर समझने लगे क्योंकि डॉट-कॉम बुलबुले के फूटने और 1997-98 के पूर्वी एशियाई मौद्रिक संकट के बाद निवेशकों ने यह समझ लिया था कि शेयर बाज़ार अधिक से अधिक अस्थिर और आवारा होता जा रहा है। आवास में निवेश ठोस और भरोसेमन्द प्रतीत होता था। लेकिन आवास बाज़ार में तेज़ी की समाप्ति के बाद से यह विश्वास डगमगा चुका है। बहरहाल, इसने हाउसिंग बुलबुले को पैदा करने में काफ़ी योगदान दिया।

कुछ अर्थशास्त्रियों ने इस यक़ीन पर भी सवाल उठाया है कि पूरी बीसवीं शताब्दी में (महामन्दी के दौर को छोड़कर) आवासीय कीमतों में लगातार भारी बढ़ोत्तरी होती रही है। रॉबर्ट शिलर ने दिखलाया है कि 1890 से 2004 के बीच मुद्रास्फीति को समायोजित करने के बाद आवास की कीमतों में मात्र 0.4 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। 1940 से 2004 के बीच वृद्धि 0.7 प्रतिशत रही है।

हाउसिंग बूम के पीछे तीसरा कारण था सट्टेबाज़ी। जैसे ही 2000-2001 में आवासीय कीमतों में बढ़ोत्तरी शुरू हुई, जिसका

भारत में भी सबप्राइम संकट की छाया

अगर रिज़र्व बैंक के पूर्व डिप्टी गवर्नर एस.एस. तारापुर की मानें तो भारत का अपना सबप्राइम संकट कभी भी फूट सकता है। हाल ही में वित्तीय जोखिम को कम करने के विषय पर हुई एक गोष्ठी में तारापुर ने कहा कि भारतीय वित्तीय बाज़ार में ऋण का जो अभूतपूर्व विस्तार हुआ है वह यहाँ भी सबप्राइम संकट को जन्म दे सकता है। उन्होंने कहा कि यह मानना ग़लत है कि क्रेडिट कार्ड, रियल एस्टेट, निजी ऋण जोखिम से परे हैं। इन सेक्टरों में ऋण ख़तरनाक रूप से ख़राब होने की सीमाओं तक पहुँच चुका है।

पिछले एक वर्ष में क्रेडिट रेटिंग एजेंसियों द्वारा प्रतिभूतियों में परिवर्तित निजी ऋण के भण्डार करीब 4,800 करोड़ रुपये तक पहुँच चुके हैं, जबकि अन्य निजी ऋण भण्डारों का मूल्य करीब 2000 करोड़ रुपये है। बैंकों और गैर-बैंक वित्तीय संस्थानों बकाया ऋण राशि 35,000 करोड़ रुपये तक पहुँच चुकी है जिसमें से 28,000 करोड़ रुपये सबप्राइम ऋण है। क्रेडिट कार्डों का अनुमानित बकाया 16,000 करोड़ रुपये है जिनका 40 प्रतिशत 'हार्डकोर रोलओवर' है, जो सबप्राइम ऋण का ही एक दूसरा नाम है। दरअसल, 41,000 करोड़ रुपये सबप्राइम ऋण के रूप में भारत में दिये जा चुके हैं। यह सबप्राइम कचरा कभी भी फट सकता है।

कारण *फेड* द्वारा ब्याज दरों में नाटकीय कटौती था, वैसे ही सट्टेबाज़ों द्वारा घरों की खरीद में भी भारी वृद्धि हुई। कई अर्थशास्त्रियों ने उस समय ही आने वाले समय में भारी क्रैश की चेतावनी दे दी थी। उनका कहना था कि घरों की आसमान छूती कीमत का कारण उनके वास्तविक मूल्य में वृद्धि नहीं बल्कि सट्टेबाज़ी या स्पेक्यूलेशन है। मार्च 2006 में *कंट्रीवाइड फाइनेंशियल* के सीईओ एंजेलो मोत्सिलो ने कहा कि साल भर के भीतर घरों की कीमतों में 30 प्रतिशत तक की गिरावट आने की पूरी संभावना है क्योंकि घर अपनी वास्तविक कीमत पर नहीं है और सट्टेबाज़ी के बुलबुले की हवा निकलते ही पूरा का पूरा आवासीय उद्योग अमेरिका के ही नहीं बल्कि विश्व के पैमाने पर एक लम्बी मन्दी का शिकार हो जाएगा। सट्टेबाज़ी को बढ़ाने के लिए ज़िम्मेदार एक कारक फेड द्वारा लम्बे समय तक लक्ष्य ब्याज दर को 1 प्रतिशत पर रखना भी था जिसने सटोरियों का मनोबल बढ़ाने का ही काम किया। इसके लिए तत्कालीन फेड अध्यक्ष व अर्थशास्त्री एलन ग्रीनस्पैन को दोषी ठहराया जाता है। लेकिन पूँजीवाद के पूँजीवादी समालोचक यह नहीं समझ पाते हैं कि इसमें श्रीमान ग्रीनस्पैन की कोई ग़लती नहीं थी। दरअसल, अगर पूरी अर्थव्यवस्था को डॉट-कॉम के गुब्बारे के फटने के बाद डूबने से बचाना था तो बाज़ार में बड़ी मात्र में पूँजी इंजेक्ट करके निवेश को बढ़ावा देना फेड की मजबूरी थी। यह सच है कि इससे संकट सिर्फ निलम्बित ही हो सकता था। लेकिन पूँजीवाद और कुछ कर भी तो नहीं सकता!

चौथा कारण था मीडिया द्वारा रियल एस्टेट से घूस खाकर लोगों में घर खरीदने के प्रति एक उन्माद और पागलपन पैदा करना। 2005 से 2006 के बीच ऐसे टेलीविज़न कार्यक्रमों में भारी वृद्धि हुई जो घर को खरीदने के लिए लोगों को उकसाते थे। अमेरिका में ऐसी किताबों की भरमार हो गयी जो मकान को सर्वश्रेष्ठ सम्पदा घोषित करने लगीं। इसमें रियल एस्टेट लॉबी द्वारा फेंकी गयी हड्डियों को चबा-चबाकर गुज़ारा करने वाले अर्थशास्त्री डेविड लेरियाह की किताब *व्हाई दि रियल एस्टेट बूम विल नॉट एण्ड* प्रमुख थी। हालाँकि फेड के अध्यक्ष बेन बर्नाके द्वारा 2006 में हाउसिंग बूम की समाप्ति की घोषणा के बाद यही लेरियाह यह मानने को मजबूर हुए कि एक बुलबुला पैदा किया गया था जिसे हमेशा के लिए नहीं चलाया जा सकता था और बाज़ार करेक्शन तो होना ही था। लेरियाह *नेशनल एसोसियेशन ऑफ रियाल्टर्स* के पैसों पर पलने वाला एक कुख्यात अर्थशास्त्री है जिसका काम ही रियल एस्टेट के मगरमच्छों का हित साधने वाली सट्टेबाज़ियों को अपने सिद्धान्तों से बढ़ावा देना है। हाउसिंग बूम की समाप्ति के बाद इन्हें अमेरिकी अर्थशास्त्र का जोकर कहा जाने लगा है!

लेकिन ये चारों कारण सहायक कारण थे। हाउसिंग बूम के असल कारण तो मुख्य रूप से दो थे।

पहला, 2001 में डॉट-कॉम क्रैश के झटके को सोखने के लिए कदम उठाना। 2000 में *नास्डाक* सूचकांक में डॉट-कॉम बुलबुले के फटने के कारण 70 प्रतिशत की अभूतपूर्व गिरावट आयी। इसके कारण लोगों ने शेयरों में से अपनी पूँजी निकालनी शुरू कर दी और मीडिया और सट्टेबाज़ों के बहकावे में रियल एस्टेट में लगानी शुरू कर दी जिसे ज़्यादा भरोसेमन्द और कभी हानिकारक न बनने वाला निवेश करार दिया गया। येल के अर्थशास्त्री रॉबर्ट शिलर ने इस पर गौर करने योग्य टिप्पणी करते हुए कहा था कि "अतार्किक प्रचुरता" शेयरों की दुनिया से निकल कर मकानों की दुनिया में आ गयी। शेयर मार्केट के ढहने के बाद सट्टेबाज़ी का निकास द्वार बना आवास उद्योग।

दूसरा प्रमुख वास्तविक कारण था *फेडरल रिज़र्व* द्वारा डॉट-कॉम बुलबुले के फटने के झटके से अर्थव्यवस्था को बचाने के लिए ब्याज दरों को ऐतिहासिक रूप से निम्न स्तरों तक गिरा देना। *फेडरल बैंक* ने 2001 में ब्याज दरों को 6.5 प्रतिशत से घटाकर 1 प्रतिशत पर कर दिया!! फेड अध्यक्ष एलन ग्रीनस्पैन ने बाद में स्वीकार किया कि हाउसिंग बुलबुले के पैदा होने का कारण फेड द्वारा ब्याज दरों को गिराना ही था। सभी जानते हैं कि निम्न ब्याज दरों, उच्चतर आवास मूल्यों और बढ़ती वित्तीय तरलता का अर्थव्यवस्था पर क्या असर पड़ता है। फेड की एक रिपोर्ट में कहा गया है कि किसी भी अन्य संपत्ति के मूल्य की ही तरह, घर की कीमतें भी ब्याज दरों से प्रभावित होती हैं और कई देशों में तो आवास उद्योग ही मौद्रिक नीति में आये बदलाव को अन्य सेक्टरों तक संचारित करते हैं। एलन ग्रीनस्पैन का उस समय तो यशगान गाया गया कि उन्होंने अर्थव्यवस्था को मन्दी में जाने से बचाया। और बाद में उनकी आलोचनाएँ की गयीं कि उन्होंने सबकुछ जानते हुए भी आवास बाज़ार के गुब्बारे में ज़रूरत से ज़्यादा हवा भर दी जिससे

मौजूदा संकट का कालानुक्रम

1995-2001 : डॉट-कॉम बूम और शेयर बाज़ार बुलबुला।
2001 : डॉट-कॉम बुलबुले का फटना।
2000-2003 : इक्कीसवीं सदी के पहले दशक के पूर्वार्द्ध की मन्दी।
2001-2005 : अमेरिका में हाउसिंग बूम।
2001 : फेड द्वारा ब्याज दरों को 11 बार घटाकर 6.5 प्रतिशत से 1.75 प्रतिशत पर लाया जाना।
2002 : कई इलाकों, जैसे कैलीफोर्निया और फ्लोरिडा में घर की कीमतों में 10 प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि।
2004-2005 : एरिज़ोना, कैलीफोर्निया और फ्लोरिडा जैसे इलाकों में घर की कीमतों में 25 प्रतिशत से भी अधिक की वृद्धि।
2005 : हाउसिंग बुलबुले का फटना और मार्केट करेक्शन
2006 : घर की कीमतों में आश्चर्यजनक गिरावट से अमेरिकी आवास निर्माण सूचकांक में 40 प्रतिशत की गिरावट।
2007 : घर की कीमतों का गिरना बदस्तूर जारी। सबप्राइम मॉर्टगेज बाज़ार का औंधे मुँह गिरना और बढ़ती ब्याज दर के कारण कीमतों का लगातार गिरना जिसके कारण सबप्राइम संकट अन्य ऋणों के क्षेत्र में भी फैला। सबप्राइम संकट पूरी अर्थव्यवस्था पर हावी, बड़े पैमाने पर निवेश बैंक असमाधेयता का या तरलता की कमी का शिकार। विश्व वित्तीय बाज़ार गहरे संकट का शिकार। वास्तविक अर्थव्यवस्था उपभोग के गिरने के कारण संकट की चपेट में। एक सर्वव्यापी मन्दी का उद्घाटन।

कि वह फूट गया। ब्याज दरों को नीचे करने से पूँजी तो बाज़ार में आ गयी। लेकिन ज़्यादा अच्छी क्रेडिट हिस्टरी वालों को ऋण की आवश्यकता नहीं थी और ख़राब *क्रेडिट हिस्टरी* वालों को ऋण देने के लिए किसी "रचनात्मक" ऋण उपकरण की ज़रूरत थी। इसी ज़रूरत को पूरा करने के लिए सबप्राइम लोन, एडजस्टेबल मॉर्टगेज रेट, आदि जैसे उपकरणों का उपयोग शुरू किया गया और बड़े पैमाने पर खराब ऋण दिये गये, जो बाद में ज़हरीला वित्तीय कचरा साबित हुए। डलास फेड के अध्यक्ष रिचर्ड फिशर की इस उक्ति पर ग़ौर करें, **"फेड की कम ब्याज दरों की नीति ने गैरइरादतन तौर पर आवास बाज़ार में सट्टेबाज़ी को बढ़ावा दिया, और बाद में होने वाले भारी करेक्शन के कारण लाखों मकानमालिकों को भारी हानि उठानी पड़ी।"** मॉर्टगेज ब्याज दरों में कटौती से ऋण लेने की कीमत कम हो जाती है और इसके कारण एक ऐसे बाज़ार में कीमतें बढ़ने लगती हैं जहाँ लोग मकान ख़रीदने के लिए ऋण लेते हैं। गणना करने से पता चलता है कि ब्याज दरों में 1 प्रतिशत का बदलाव घरों की कीमत को 10 प्रतिशत तक प्रभावित कर सकता है। यानी, ब्याज दरों और मकान की कीमतों में 1:10 का अनुपात है। रॉबर्ट शिलर ने दिखलाया है कि फेड द्वारा ब्याज दरों में की गयी भारी कटौती के कारण हाउसिंग बूम के दौरान 45 प्रतिशत से 50 प्रतिशत तक की वृद्धि हुई है। इसी नियम के अनुसार जब ब्याज दरें बढ़ती हैं तो घर की कीमतों पर क्या प्रभाव पड़ता होगा इसे समझा जा सकता है। हुआ यही है। फेड ने 2004 से 2006 के बीच 17 बार ब्याज दरें बढ़ाईं--1 प्रतिशत से 5.25 प्रतिशत तक। लेकिन तब तक बहुत देर हो चुकी थी। अर्थशास्त्रियों का कहना था कि ब्याज दरों को पहले ही बढ़ाया जाना चाहिए था। लेकिन यह भी पूँजीवाद के दायरे के भीतर एक संत सदिच्छा ही है। पूँजीवादी व्यवस्था के नियोजक छोटी दूरी का ही सोच सकते हैं। लम्बा सोचने की इजाज़त उन्हें अराजकतापूर्ण आर्थिक शक्तियाँ देती नहीं हैं।

कम ब्याज दरों से ही सबप्राइम ऋण देने की गति, दर और आकार में वृद्धि हुई। मार्च 2007 में सबप्राइम ऋण लेने वालों के भारी संख्या में डिफॉल्टर होने और उनकी संपत्ति की ज़ब्ती और नीलामी होने के कारण सबप्राइम ऋणदाता ढह गये और पूरा सबप्राइम ही नहीं बल्कि ऋण बाज़ार ही ढहना शुरू हो गया। इसके बार में *हार्पर्स मैगज़ीन* लिखती है : *"समस्या यह है कि खरीदने वालों के कुल मॉर्टगेज के स्थिर रहने या बढ़ने के बावजूद घर की कीमतें गिर रही हैं...बढ़ता ऋण-सेवा भुगतान आगे भी उपभोक्ता ख़र्च से आय को हटाएगा। साथ में देखने पर, ये कारक "वास्तविक अर्थव्यवस्था" को सिंकोड़ देंगे, पहले से ही गिर रही वास्तविक आय को नीचे ले जाएँगे, और कर्ज़ तले दबी हमारी अर्थव्यवस्था को जापान जैसे ठहराव में धकेल देंगे या उससे भी बुरी स्थिति पैदा कर देंगे।"* जिन कारकों ने ब्याज दरों को बढ़ाने का काम किया है वे हैं अमेरिका का राष्ट्रीय ऋण, व्यापार घाटा, कच्चे तेल की बढ़ती कीमतों के कारण मुद्रास्फीति में वृद्धि, और अमेरिकी अर्थव्यवस्था में विदेशी निवेश में आने वाले परिवर्तन। परिवर्तनीय ब्याज दरों के कारण सबप्राइम ऋण फेड द्वारा ब्याज दरें बढ़ाए जाने के कारण काफ़ी घातक सिद्ध हुए। फेड ने जब ब्याज दरें बढ़ाईं तो वे सबप्राइम ऋणदाता अपनी ब्याज दरों को इस हद तक बढ़ाने को मजबूर हो गये कि सबप्राइम ऋण लेने वालों के लिए ऋण की किश्त चुकाना भी मुश्किल हो गया और उनकी संपत्ति की ज़ब्ती और नीलामी शुरू हो गयी। लेकिन अब मकानों की कीमतें इतनी गिर गयी थीं कि उनमें निवेश करने के लिए पर्याप्त निवेशक नहीं बचे। नतीजा यह हुआ कि तमाम सबप्राइम ऋणदाता कंगाल होने शुरू हो गये और साथ ही कोलेटरल डेट ऑब्लिगेशन पैकेज के तहत जिन हेज फण्ड्स और निवेश बैंकों ने निवेश किये थे वे भी दीवालिया होने लगे। यही कारण था कि सबप्राइम संकट सबप्राइम ऋण से बढ़कर ऑल्ट-ए व प्राइम ऋण तक भी पहुँच गया और पूरा का पूरा वित्तीय पूँजी बाज़ार ही भयंकर रूप से संकटग्रस्त हो गया। बाज़ार में तरलता की कमी हो गयी; कई निवेशक क्रेडिट क्रंच और असमाधेयता के शिकार हो गये। फेड ने तीन बार पूँजी बाज़ार में पूँजी इंजेक्ट करके पूँजी बाज़ार को अपने पैरों पर खड़ा करने की कोशिश की; इसके अतिरिक्त, फेड ने ब्याज दरें थोड़ी गिराकर भी सबप्राइम संकट को बढ़ने से रोकने की कोशिश की लेकिन इसका कोई लाभ नहीं हुआ और दिसम्बर मध्य आते-आते सरकारी अधिकारी और

प्रमुख निवेश बैंक भी इस बात को स्वीकार करने लगे कि अमेरिकी अर्थव्यवस्था एक गहरे संकट के भँवर में फँस चुकी है। यह संकट अब सर्वव्यापी बन चुका है। दुनिया के सबसे बड़े बॉण्ड फण्ड पिमको के प्रबंधक ने तो जून 2007 में ही चेतावनी दे दी थी कि सबप्राइम संकट अन्य सेक्टरों से कोई कटी हुई परिघटना नहीं है और कालान्तर में इसकी कीमत पूरी की पूरी अर्थव्यवस्था चुकाएगी। इसके दुष्प्रभाव व्यापक हैं। सबसे प्रमुख प्रभाव पूरे निर्माण उद्योग पर पड़ा है। नये मकानों के निर्माण में भारी कमी दर्ज की जा रही है। मॉर्टगेज इक्विटी में निवेश करने वालों ने अपनी पूँजी निकालनी शुरू कर दी है जिससे पूरी की पूरी मॉर्टगेज इण्डस्ट्री एक गम्भीर संकट का शिकार हो चुकी है। अर्थशास्त्री नूरियल रूबीनी ने कहा है कि आवास उद्योग गहरी मन्दी का शिकार है जो पूरी अर्थव्यवस्था को पटरी से उतार रहा है और यह एक महामन्दी भी पैदा कर सकता है। भूमण्डलीकरण के "मानवीय चेहरे" की वकालत करने वाले जोसेफ स्टिग्लिट्ज़ तक को यह स्वीकार करना पड़ा है मकान की गिरती कीमतें पूरी अमेरिकी अर्थव्यवस्था को एक मन्दी की ओर धकेल सकती हैं। मकान की कीमतें गिरने के साथ ही आवास उद्योग से जुड़ा "समृद्धि प्रभाव" हवा हो चुका है और उपभोक्ता सामग्रियों को खरीदने के लिए लोगों के पास न तो पैसा है और न ही वे पैसा खर्च करना चाहते हैं। अमेरिकी अर्थव्यवस्था अपने 13. 7 ट्रिलियन डॉलर का 70 प्रतिशत उपभोक्ता सामग्रियों की ख़रीद से प्राप्त करती है। आवास उद्योग की मन्दी के कारण उपभोक्ता सामग्रियों की ख़रीद में भी भारी कमी आई है और इसके कारण "वास्तविक अर्थव्यवस्था" प्रभावित होने लगी है। इसका एक प्रमाण तब मिला जब 9 सितम्बर को डॉलर 15 वर्ष के अपने न्यूनतम स्तर पर पहुँच गया और 4000 नौकरियों में कटौती की गयी। 2003 के बाद पहली बार ऐसा हुआ है कि अमेरिका में नौकरियों में कटौती की गयी है। और यह तो सिर्फ़ शुरुआत भर है। आगे स्थिति इससे भी भयंकर रूप धारण करने वाली है।

अमेरिकी सरकार और *फेडरल रिज़र्व* के सामने एक बहुत बड़ा सवाल यह है कि पहले की तरह इस बाज़ार को संकट से उबारने के लिए कोई "कीन्सियाई हस्तक्षेप" किया जाय या नहीं? यह सवाल भी कोई सीधा सवाल नहीं है बल्कि काफी टेढ़ा-मेढ़ा है। कारण यह है कि राष्ट्रीय कर्ज़ के बढ़ने, कच्चे तेल की कीमतों में वृद्धि और व्यापार घाटे के बढ़ने के साथ ही फेड के लिए ब्याज दरों को और गिराना एक तरह से असम्भव हो गया है। दूसरा कारण यह है कि पहले भी बाज़ार में पूँजी इंजेक्ट करके अर्थव्यवस्था को उबारने के दूरगामी परिणामों को अमेरिकी शासक वर्ग देख चुका है। 1997-98 के संकट से उबरने के लिए *फेड* ने ब्याज दरें गिराई थीं और पूँजी बाज़ार में पूँजी *इंजेक्ट* की थी। इसके कारण जो डॉट-कॉम बुलबुला पैदा हुआ उसके 2001 में फूटने के बाद फेडरल रिज़र्व ने हाउसिंग बूम पैदा करके अर्थव्यवस्था को उबारने के लिए फिर से ब्याज दरों को गिराया और इस बार अभूतपूर्व स्तरों तक। 2005 में हाउसिंग बुलबुले के फूटने के बाद जो सबप्राइम संकट शुरू हुआ है उससे उबरने के लिए फिर से पूँजी बाज़ार को कोरामिन का इंजेक्शन देने से फेड ने इंकार कर दिया है। क्योंकि

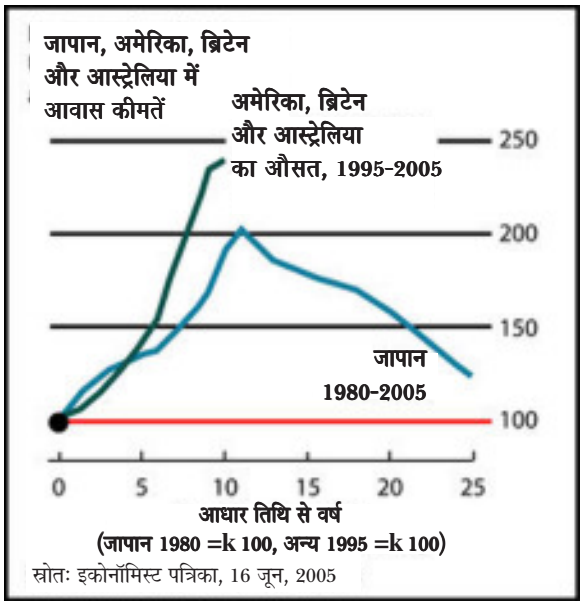

स्रोतः इकोनॉमिस्ट पत्रिका, 16 जून, 2005

हर ऐसी मदद के बाद जो नया संकट आया है वह पहले से ज़्यादा भयंकर रहा है क्योंकि हर ऐसे कदम के बाद अर्थव्यवस्था में अस्थिरता बढ़ी है, तरलता के बढ़ने-घटने के चक्र ज़्यादा क्षतिकारी हो गये हैं और सट्टेबाज़ी को इससे काफ़ी बढ़ावा मिला है। कुल मिलाकर, विश्व साम्राज्यवाद के चौधरी और उनके तलवे चाटने वाले अर्थशास्त्री ही अब इस पूरे जटिल पूँजी तंत्र को नहीं समझ पा रहे हैं जो उन्होंने खुद ही पैदा किया है। वे ज़्यादा से ज़्यादा तात्कालिक राहत के लिए होम्योपैथिक डॉक्टर की तरह लक्षणों की पहचान करने की कोशिश कर रहे हैं और वैसे ही सुझाव भी दे रहे हैं। लेकिन इस बीमारी का इलाज पूँजीवादी-साम्राज्यवादी विश्व व्यवस्था के भीतर है ही नहीं। यह इसकी अंतकारी लाइलाज बीमारी है--अति-उत्पादन और पूँजी की प्रचुरता।

सरकारी सहायता से बाज़ार को उबारने का तो अब बुर्जुआ अर्थशास्त्री तक अपनी भाषा और शब्दावली में विरोध कर रहे हैं। सरकारी मदद का विरोध करने वालों का कहना है कि ऐसी मदद यह एक बुरा उदाहरण स्थापित कर देगी और एक "नैतिक तबाही" लाएगी। इसके अतिरिक्त, यह आवास उद्योग में सट्टेबाज़ी को बढ़ावा देगा। मॉर्टगेज समर्थित *सिक्योरिटीज़* (प्रतिभूतियों) के बाज़ार के जनक, *सालोमॉन ब्रदर्स* का कहना है कि यह तो तूफान की शुरुआत भर है। इसी से अन्दाज़ा लगाया जा सकता है कि तूफान के मध्य में क्या होने वाला है।

लुब्बेलुबाब यह है कि अमेरिकी अर्थव्यवस्था को एक गम्भीर संकट के भँवर में जाने से अब कोई नहीं बचा सकता है। और इस संकट को रोकने का प्रयास तो अब सरकार ने छोड़ भी दिया है। अब तो सारे घाघ "डैमेज कण्ट्रोल" के बारे में सोच रहे हैं!

चेन रिएक्शन

जिन प्रेक्षकों ने यह भविष्यवाणी की थी कि अमेरिकी सबप्राइम

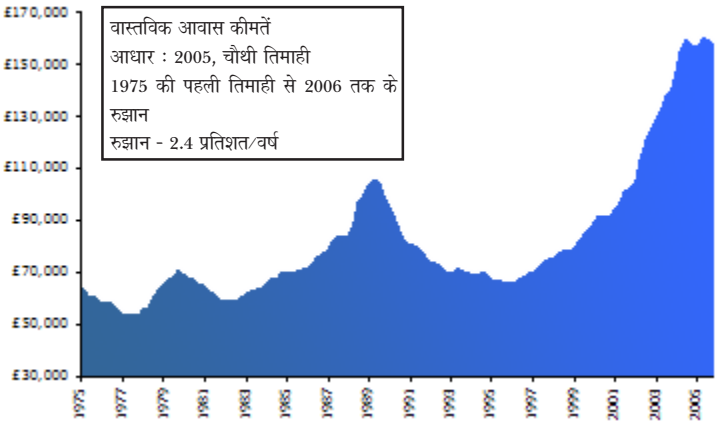

इंग्लैंड में 1975 से 2006 तक आवास कीमतें

संकट एक वित्तीय संकट है जिसका "वास्तविक अर्थव्यवस्था" पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा और जो अमेरिकी पूँजी बाज़ार तक ही सीमित रहेगा, उन्हें जल्दी ही अपनी बात पर पुनर्विचार करना पड़ा। सितम्बर, 2007 में अमेरिकी सबप्राइम संकट के कारण ब्रिटेन के प्रमुख मॉर्टगेज बैंकों में से एक *नॉर्दर्न रॉक* ढह गया। पूरे महीने बैंक से अपने पैसे निकालने वालों की भीड़ लगी रही और बैंक से कुछ ही समय में लोगों ने 2 खरब डॉलर निकाल लिए और नॉर्दर्न रॉक दीवालियेपन की कगार पर आ गया। बैंक ऑफ इंग्लैण्ड ने सही समय पर हस्तक्षेप करके इस बैंक को बचाया। लेकिन यह पूरे वित्तीय संकट को रोक नहीं सकता। इंग्लैण्ड के केन्द्रीय बैंक ने 28 बिलियन डॉलर ब्रिटिश पूँजी बाज़ार में इंजेक्ट किए लेकिन अभी भी स्थिति डावाँडोल ही बनी हुई है। नॉर्दर्न रॉक बैंक का पूरा व्यवसाय मॉर्टगेज ऋणों पर आधारित था। इसमें करीब 4,000 कर्मचारी काम करते हैं। अमेरिकी सबप्राइम बाज़ार के ढहने के साथ ही इसके पास मॉर्टगेज ऋणों को वित्तपोषित करने के लिए पूँजी की कमी हो गयी। वैश्विक पूँजी बाज़ार के अधिक से अधिक जुड़ते जाने के बाद यह तो होना ही था। और इस कदर भूमण्डलीकृत विश्व वित्तीय बाज़ार में ऐसी घोषणा और भविष्यवाणियाँ करना कि कोई भी संकट स्थानीय बना रहेगा, मूर्खतापूर्ण है। लेकिन पूँजीवादी अर्थशास्त्रियों की फितरत शुतुरमुर्ग जैसी होती है। तूफान आने पर वे अपना सिर बालू के अन्दर डालकर यह सोच लेते हैं कि तूफान चला गया। लेकिन ऐसा होता तो है नहीं, इसलिए इससे कोई फायदा नहीं होता। जैसा कि लिबरल डेमोक्रैट विंस केबल ने कहा है, **"मौजूदा बूम दीर्घकालिक निवेश पर या निर्यात या अधिक शिक्षित, कुशल श्रम शक्ति पर आधारित नहीं है। यह ऋणपोषित उपभोक्ता क्रय, बेहूदा किस्म के ऋण और मकानों की कीमत बढ़ने पर आधारित है। इसे तो फूटना ही था।"**

चीन की अर्थव्यवस्था पर भी अमेरिकी सबप्राइम संकट का प्रभाव पड़ना शुरू हो गया है। कारण यह है कि चीन की पूरी अर्थव्यवस्था एक निर्यात निर्देशित अर्थव्यवस्था है और उसके निर्यातों का सबसे बड़ा ख़रीदार अमेरिका है। अमेरिका का चीन की ओर व्यापार घाटा चेतावनी स्तर को कब का पार कर चुका है। ऐसे में अमेरिकी अर्थव्यवस्था में होने वाली कोई भी हलचल चीन की अर्थव्यवस्था को प्रभावित किए बगैर नहीं रह सकती। और जब संकट इस गंभीरता और इस आकार का हो तो समझा जा सकता है कि चीन की अर्थव्यवस्था पर उसका क्या प्रभाव पड़ सकता है। मिसाल के तौर पर, अगर फेडरल बैंक ने ब्याज दरों को और घटाने का निर्णय लिया होता या अगर वह भविष्य में संकट को और गहराने से रोकने के लिए ऐसा करता है, तो इसका चीन की अर्थव्यवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है क्योंकि वह अमेरिका के राष्ट्रीय ऋण और व्यापार घाटे को और बढ़ाएगा। व्यापार ने अमेरिकी और चीनी अर्थव्यवस्था को बुरी तरह नत्थी कर दिया है। अगर अमेरिकी बाज़ार में उपभोक्ता टिकाऊ और गैर-टिकाऊ वस्तुओं पर ख़र्च में कमी आती है तो जिस देश पर इसका सबसे भयंकर प्रभाव पड़ेगा वह निर्विवाद रूप से चीन ही होगा। दूसरे नंबर पर भारत का नाम आता है। और अगर अमेरिकी वित्तीय पूँजी बाज़ार में संकट आता है तो उसका प्रभाव दुनिया के हर देश पर पड़ेगा। कारण यह है कि भारत और चीन जैसी तथाकथित "उभरती अर्थव्यवस्थाओं" में जो विदेशी संस्थागत निवेश हो रहा है जिसके कारण यहाँ के शेयर बाज़ार आसमान छूते हैं, उसका एक विशाल हिस्सा हेज फण्ड्स द्वारा किया जाने वाला निवेश है। हेज फण्ड्स पूँजी बाज़ार में होने वाले किसी भी संकट का आसानी से शिकार हो जाते हैं। मिसाल के तौर पर, सबप्राइम संकट ने भी हेज फण्ड्स को ही सर्वाधिक हानि पहुँचाई है। ऐसे संकट की सूरत में हेज फण्ड्स निवेश को रोकना शुरू कर देते हैं और शेयर बाज़ार से अपनी पूँजी निकालना शुरू कर देते हैं। भारत के सेंसेक्स में हाल में आयी ज़बर्दस्त अस्थिरता का भी प्रमुख कारण यही था।

एक दूसरे रूप में कनाडा, ब्रिटेन और ऑस्ट्रेलिया की अर्थव्यवस्थाएँ भी अमेरिकी अर्थव्यवस्था से नाभिनालबद्ध हैं। उनपर भी इस संकट का प्रभाव पड़ना लाज़िमी है।

विश्व अर्थव्यवस्था : गहराता साम्राज्यवादी संकट और आने वाले समय के दिशा संकेतक

मार्च 2007 में जब सबप्राइम संकट पूरी तरह खुलकर सामने आ गया तो विशेषज्ञ और आम लोग, दोनों ही इसकी व्यापकता और गहराई को पूरी तरह नहीं समझ पाए थे। वित्तीय जगत में जब नुकसान पर नुकसान हुए जा रहा था तब भी शेयर बाज़ार कुलाँचें भर रहे थे। इसी दौर में भारत में संवेदी सूचकांक ने अपना शीर्ष प्राप्त किया और लगातार तेज़ी का एक दौर बना रहा। हालाँकि अब शेयर बाज़ार तेज़ी से लुढ़क रहा है। लेकिन तब एक अजीबो-ग़रीब किस्म की स्थिति पैदा हो गयी थी। एक तरफ सबप्राइम संकट बढ़ रहा था और दूसरी तरफ शेयर बाज़ार में तेजड़ियों का

विश्व सकल घरेलू उत्पाद की वार्षिक दरें

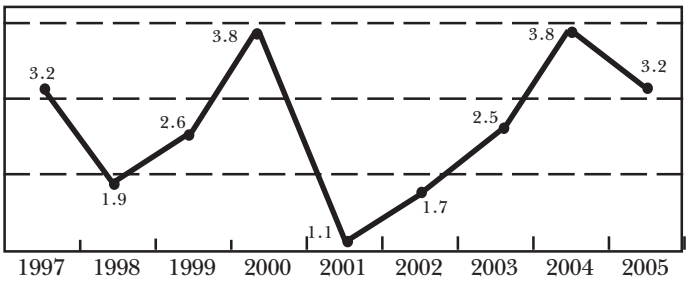

दबदबा कायम हो रहा था। डो जोंस अक्टूबर 1, 2007 को रिकॉर्ड-तोड़ 14,087.55 अंक पर बन्द हुआ। भारत में भी सेंसेक्स 20,000 अंक के आँकड़े को छू गया। लोग हैरान थे कि वित्तीय संकट ने ही एक वित्तीय तेज़ी को जन्म कैसे दे दिया। हालाँकि, यह हैरानी अब दूर हो चुकी है क्योंकि लोग समझ गये हैं कि ऐसी वित्तीय तेज़ी सिर्फ़ पूँजी बाज़ार के बढ़ते आवारा-शराबी चरित्र की ओर ही इशारा करती है। अमेरिका में फेड के हस्तक्षेप के कारण कुछ समय के लिए ऐसा लगा कि सबप्राइम संकट एक सेक्टोरल संकट मात्र है और इसके व्यापक परिणाम पूरी अर्थव्यवस्था को नहीं भुगतने पड़ेंगे। हाल में स्टॉक मार्केट में आई तेज़ी का मुख्य वजह हर जगह सरकार द्वारा हस्तक्षेप करके व्यवस्था में तरलता को 'पम्प इन' करना ही था, जिससे लगा था कि सबप्राइम संकट एक सर्वांगीण आर्थिक मन्दी का रूप नहीं लेगा। जो लोग इन्हीं आधारों पर यह दावा करने लगे थे कि पूँजीवाद अब पहले के मुकाबले संकटों का शिकार कम होता है, उन्हें अपनी पूरी विचार-पद्धति पर ही गौर करने की ज़रूरत है। उनके ऐसा मानने के पीछे जो तर्क काम करता है वह यह है कि वृद्धि में आने वाले ठहराव के दौरान भी ऋण को सहज रूप से प्राप्य बनाकर मन्दी को रोका जा सकता है, क्योंकि पूँजी की प्रचुरता इस बात की इजाज़त देती है कि ऋण से उपभोक्ता सामग्रियों की ख़रीद को बढ़ावा दिया जा सके। ऋणदाता अपने आपको अधिक सुरक्षित महसूस करने लगे हैं क्योंकि सिक्योरिटीज़ (प्रतिभूतियों) के जरिये वे जोखिम का बँटवारा कर सकते हैं। ऐसा बँटवारा किसी एक निवेशक के तबाह होने की स्थिति से बचाने के लिए किया गया था। लेकिन जिस पूँजी तंत्र का निर्माण साम्राज्यवादी विश्व प्रभुओं ने किया है उसे अब वे ही नहीं समझते और वह उनके हाथों से निकल गया है। मकसद था कि किसी एक की तबाही न आए और सभी झटके के अपने हिस्से को सोख लें और कोई तबाह न हो। लेकिन हुआ यह कि पहले तो कोई एक जल्दी तबाह होता, अब देर से सब तबाह होंगे। ऋण द्वारा खरीदारी को वित्तपोषित करने के पीछे का केन्द्रीय तर्क यह था कि आय और खर्च के बीच के अनम्य सम्बन्ध को तोड़ दिया जाय। यानी उपभोक्तओं और निवेशकों के ख़र्च का मूल्यांकन इस बात पर नहीं किया जा सकता है कि उनकी मासिक या वार्षिक आय क्या है। ऋण उन्हें उन सभी संभावनाओं में निवेश करने की क्षमता देता है जिसकी इजाज़त उनकी आय उन्हें नहीं देती। ऐसा लगता है मानो आय का ख़र्च से रिश्ता ख़त्म हो गया। लेकिन विश्लेषण को थोड़ा गहराई में ले जाते ही यह समझा जा सकता है कि ऐसा होता नहीं है। अंततः आय ही भुगतान की किश्तें भरती है। कभी-कभी यह सिलसिला बहुत घूम-फिर कर आय तक पहुँचता है, लेकिन इस सिलसिले के अंतिम छोर पर आय ही होती है। ऋण के इस पूरे खेल को ही 'वित्तीय अनियमन' (फाइनेंशियल डिरेग्यूलेशन) और 'वित्तीय नवोन्मेष' (फाइनेंशियल इनोवेशन) का नाम दिया जाता है, जिसे सुनकर अब निवेशकों की रीढ़ की हड्डी तक में सिहरन दौड़ जानी चाहिए!!

दरअसल, वित्तीय तरलता में बढ़ोत्तरी के कारण और वित्तीय लेन-देन की संख्या में भारी बढ़ोत्तरी के कारण वित्तीय अस्थिरता में ज़बर्दस्त वृद्धि हुई है। यानी, तेज़ी और मन्दी का चक्रीय क्रम छोटा

विश्व के सकल घरेलू उत्पाद के वृद्धि की औसत वार्षिक दरें (चुनी गई अवधियों के लिए)

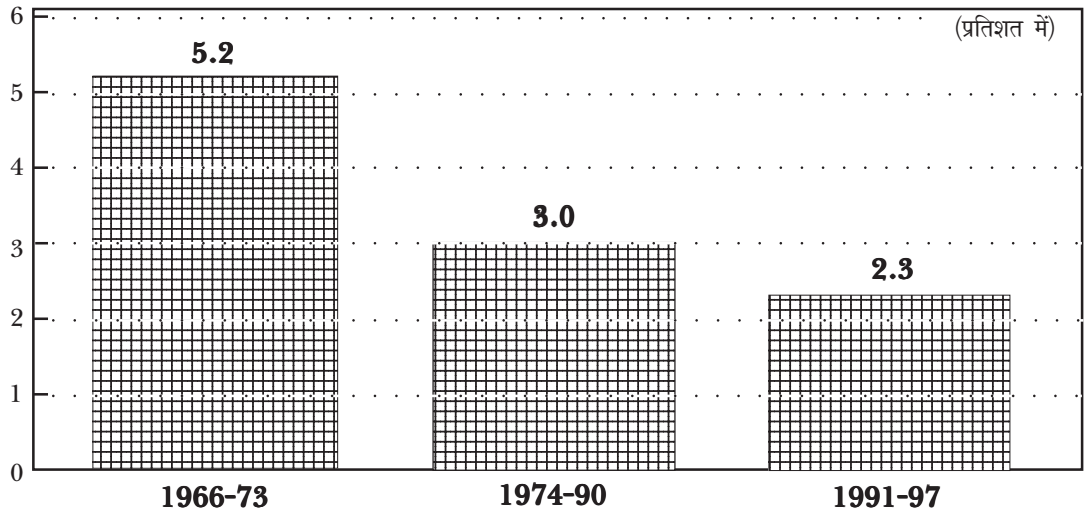

1995 की कीमतों और विनिमय दरों में सकल घरेलू उत्पाद

हो गया है। कहना चाहिए कि अच्छी तरह से तेज़ी जैसी कोई चीज़ तो आती ही नहीं है बस एक मन्द मन्दी की स्थिति बनी रहती है। वित्तीय बाज़ार में पैदा हुई अस्थिरता वास्तविक अर्थव्यवस्था में भी संकट पैदा कर देती है। कहा जा सकता है कि वित्तीय पूँजी की प्रचुरता ने वित्तीय सट्टेबाज़ी को बहुत बढ़ा दिया है जो मूलतः अनुत्पादक पूँजी है। लेकिन यह वास्तविक अर्थव्यवस्था से नाभिनालबद्ध हो गयी है। सट्टेबाज़ी वित्तीय पूँजी बाज़ार में जो उथल-पुथल लाती है उसका 'आफ्टर-इफेक्ट' वास्तविक अर्थव्यवस्था में साफ तौर पर महसूस किया जा सकता है।

जिन तरीकों से वित्तीय पूँजी अर्थव्यवस्था में वृद्धि का भ्रम पैदा करती हैं वह है 'समृद्धि प्रभाव' पैदा करके उपभोग को बढ़ावा देना, जिसके बारे में हम पहले ही बात कर चुके हैं। अमेरिका में जो उपभोग मेला पूरे 1990 के दशक में चला उसका आधार यही 'वेल्थ इफेक्ट' था, वास्तविक आय नहीं। 1990 के दशक की तेज़ी के दो कारण थे। पहला, भूमण्डलीकरण के कारण वित्तीय पूँजी का निर्बाध प्रवाह और पूँजी बाज़ारों का आपस में जुड़ जाना। दूसरा कारण था अमेरिका में उपभोक्ता टिकाऊ व गैर-टिकाऊ सामग्रियों की खरीद में भारी वृद्धि से होने वाली वृद्धि; हम बता चुके हैं कि खरीदारी में यह वृद्धि ऋण-पोषित थी, जो वित्तीय पूँजी के विस्तार के कारण सम्भव हुआ था। मीडिया और सट्टेबाज़ी के जरिये अमेरिकी मध्यम वर्ग में एक 'कंज़म्पशन फेस्ट' की मानसिकता पैदा की गयी। इसके लिए उन्हें यह अहसास कराना ज़रूरी था कि वे समृद्ध हैं। इसके लिए, एक हाउसिंग बूम पैदा किया गया जिसके कारण सभी मकानमालिकों ने अधिक समृद्ध महसूस करना शुरू किया। अधिक समृद्ध महसूस करने वाला मकान मालिक ही, जिसको यह भरोसा दिला दिया जाय कि भविष्य में मकानों की कीमत और बढ़ेगी और वह और अमीर होगा, अपने उपभोग को वित्तपोषित करने के लिए मॉर्टगेज ऋण जैसे उपकरणों का उपयोग कर सकते हैं।

इसके अतिरिक्त, जब कोई भी तेज़ी ऋण द्वारा वित्तपोषित होती है तो वह एक और बुराई को साथ लाती है--अबचत (डिस्सेविंग)। क्रेडिट या ऋण का अर्थ ही होता है शुद्ध अबचत। बैंक जो ऋण देते हैं वह बचत का ही हिस्सा होता है। अगर ऋण का बड़ा हिस्सा उपभोग पर ही ख़र्च हो जाता है तो निश्चित रूप से वह टिकाऊ आर्थिक वृद्धि को बढ़ावा नहीं दे सकता। पहले इसे उपभोक्ता सामग्रियों की ख़रीद में आई तेज़ी को शेयर मार्केट में 1997 से 2001 तक की तेज़ी के जरिये वित्त-पोषित किया गया था। यही डॉट-कॉम बुलबुले के बनने और फूटने का दौर था। शेयर मार्केट में आई तेज़ी से परजीवी अमेरिकी मध्य वर्ग ने जमकर कमाई की और उसे उपभोग में जमकर उड़ाया। कारण यह है कि अमेरिका में शेयर व्यापार करने की प्रवृत्ति बहुत अधिक है। एक सर्वेक्षण के अनुसार 1998 में 35 से 44 वर्ष के अमेरिकी लोगों में से 62.4 प्रतिशत लोग शेयर-होल्डर थे। यही कारण था कि 1997 से 2001 के शेयर बाज़ार बूम ने उपभोग में ख़र्च को जमकर बढ़ाया। 2001 में डॉट-कॉम क्रैश के बाद किस तरह से हाउसिंग बूम पैदा किया गया और उससे उपभोक्ता सामग्रियों पर ख़र्च को कैसे बरकरार रखा गया, यह हम पहले ही दिखला चुके हैं। एक अनुमान के अनुसार 2001 से 2005 के बीच अमेरिका में 40 प्रतिशत रोज़गार वृद्धि आवास उद्योग में वृद्धि के कारण हुई। आवासीय सम्पत्ति के मूल्यों में ज़बर्दस्त वृद्धि के कारण भी उसी किस्म का 'वेल्थ इफेक्ट' पैदा हुआ जैसा शेयरों का दाम बढ़ने के कारण हुआ था। इसने भी उपभोग को बढ़ावा दिया। अब हम देख चुके हैं कि यह 'ईज़ी मनी' किस तरह से तरलता को बेहद बढ़ाकर वित्तीय बाज़ार की अस्थिरता को बढ़ावा देती है और किस तरह से निम्न ब्याज दरों और अन्धाधुन्ध बुरे ऋण देने से सबप्राइम संकट पैदा हुआ जो अब पूरी विश्व अर्थव्यवस्था को प्रभावित कर रहा है। इस संकट ने क्रेडिट क्रंच, असमाधेयता और तरलता में अत्यधिक कमी की समस्या खड़ी कर दी है जिसने पूरी दुनिया की वास्तविक अर्थव्यवस्था को हिलाना शुरू कर दिया है। अमेरिका में शुरू हुई

विश्व के सकल घरेलू उत्पाद के वृद्धि की औसत वार्षिक दरें (दशकीय मूल्य)

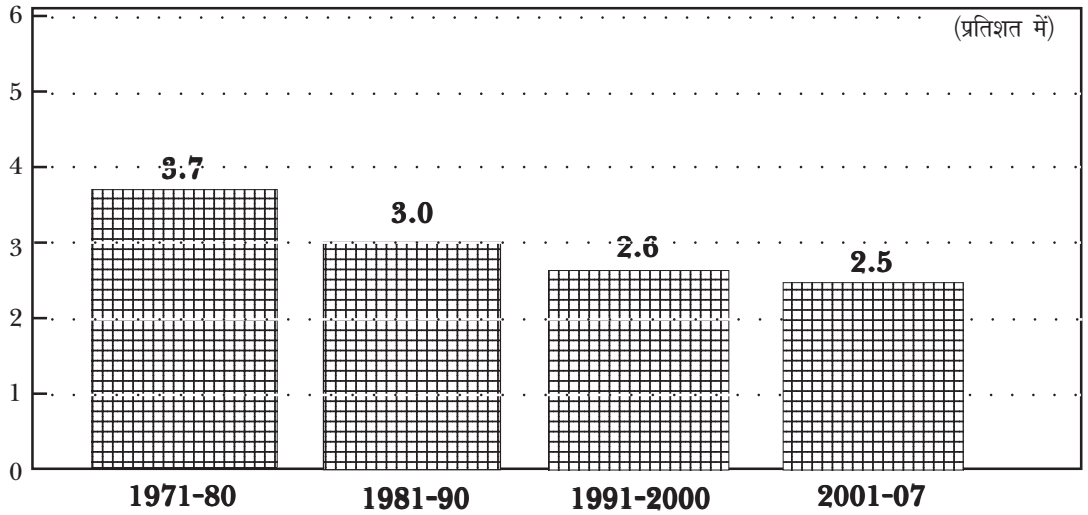

1995 की कीमतों और विनिमय दरों में सकल घरेलू उत्पाद

यह मन्दी इस दशक की तीसरी मन्दी है और सम्भवतः यह इन तीनों में सबसे बड़ी साबित होने जा रही है। इस संकट का तात्कालिक कारण सट्टेबाज़ पूँजी में देखा जा सकता है लेकिन दरअसल यह अति-उत्पादन और पूँजी की प्रचुरता का संकट है, जिसके निवेश के लिए लाभदायक निवेश स्थान ही नहीं बचे हैं। लिहाज़ा, यह पूँजी अनुत्पादक हो चुकी है और शेयर बाज़ार और सट्टेबाज़ी में लगकर पूरी दुनिया की अर्थव्यवस्था (वास्तविक वाली!!) को डावाँडोल कर रही है।

गौर करने लायक बात यह है कि 1970 के दशक के संकट के बाद से, या कहा जाय कि 'स्वर्ण युग' की समाप्ति के बाद से विश्व पूँजीवाद में तेज़ी के दौर अधिक विरल होते गये हैं और मन्दी सर्वव्यापी और निरन्तर बनती गयी है। कहना चाहिए कि विश्व पूँजीवादी तंत्र सतत एक मन्दी का शिकार है, जिसमें कभी-कभी थोड़ी कमी आती है। मन्दी में कभी-कभार आने वाली कमी को ही अब तेज़ी या बूम कह दिया जाता है। इसका साफ़ सबूत यह है कि 1970 बल्कि 1960 के दशक के उत्तरार्द्ध से ही पूरे विश्व का सकल घरेलू उत्पाद लगातार कम होता जा रहा है। उसकी वृद्धि दर में लगातार कमी आती जा रही है। (देखें ग्राफ व चार्ट)

कीन्सियाई नुस्खों के कारगर होने में विश्व पूँजीवाद के चौधरियों का यक़ीन अमेरिका में केनेडी के दौर या 'स्वर्णिम युग' की समाप्ति के साथ ही ख़त्म हो गया था। केनेडी के युग में आई आर्थिक तेज़ी के लिए कई कारक ज़िम्मेदार थे। इसमें एक तो द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद दुनिया भर में पुनर्निर्माण के ठेकों से अमेरिका को हुआ अतिलाभ था, तो दूसरी तरफ तथाकथित 'ऑटोमोबाइल क्रान्ति' थी। उस समय भी अमेरिका में एक किस्म का वेल्थ इफेक्ट पैदा हुआ था जिसके कारण उपभोग में भारी वृद्धि हुई थी। वह अमेरिकी पूँजीवाद का स्वर्णिम दौर था, जिसे केनेडी युग के नाम से भी जाना जाता है। आज भी, ख़ास तौर पर, मन्दी के दौरों में अमेरिकी मध्य वर्ग के बड़े-बुजुर्ग बड़ा नॉस्टैल्जिक होकर उस युग को याद करते हैं। लेकिन 1960 के दशक के उत्तरार्द्ध में यह तेज़ी

सॉवरेन वेल्थ फण्ड क्या हैं?

आज उन्नत पश्चिमी पूँजीवादी देशों को जो भय खाए जा रहा है वह यह है कि तीसरी दुनिया की उभरती अर्थव्यवस्थाओं द्वारा सॉवरेन वेल्थ फण्ड का निर्माण। आखिर इनमें ऐसी क्या बात है कि अमेरिका और इंग्लैण्ड और यहाँ तक कि यूरोपीय संघ तक इनसे इस कदर भयभीत हैं कि वे इन्हें बन्द करने के लिए चीन और भारत जैसे देशों को चेतावनी दे रहे हैं?

अमेरिका के अग्रणी निवेश बैंकों में से एक मॉर्गन स्टैनली ने मई 2007 में एक अध्ययन प्रकाशित किया जिसका शीर्षक था '2015 तक सॉवरेन वेल्थ फण्ड कितने बड़े हो सकते हैं?' इस रिपोर्ट में बताया गया कि आज सॉवरेन वेल्थ फण्ड का कुल आकार 2.5 ट्रिलियन डॉलर है जो 2015 तक बढ़कर 12 ट्रिलियन डॉलर तक पहुँच जाएगा। ये मुद्रा भण्डार चीन और रूस जैसे देशों द्वारा जुटाए जा रहे ऐसे भण्डार है जिनका उपयोग ये देश अमेरिकी और यूरोपीय संघ के बाज़ारों में निवेश के लिए कर रहे हैं। ये भण्डार इतने बड़े हैं कि वे बड़े राष्ट्रपारीय निगमों को ख़रीद सकते हैं। बुर्जुआ आर्थिक समाचार पत्र दि इकोनॉमिस्ट लिखता है कि अगर ये मुद्रा भण्डार इसी तरह बढ़ते रहे तो हम पाएँगे कि "दुनिया अपनी सबसे बड़ी कम्पनियों को ऐसी सरकारों के स्वामित्व के तहत आने के आश्चर्यजनक दृश्य को देखेगा, जिनका पूँजीवाद में विश्वास आंशिक है।" बताने की ज़रूरत नहीं है कि यहाँ यह डर प्रमुख नहीं है कि सबसे बड़ी कम्पनियाँ "समाजवादी" सरकारों के हाथ में चली जाएगी, बल्कि डर यह है कि कहीं विश्व पूँजीवाद की अमेरिकी चौधराहट को कोई शक्तिशाली चुनौती न मिलने लगे। अमेरिकी सरकार सारे ऐसे देशों को धमकियाँ दे रही है जो सॉवरेन वेल्थ फण्ड का निर्माण कर रहे हैं।

इन देशों में ये भण्डार बने किस तरह, यह जानना भी दिलचस्प है। इन देशों में केन्द्रीय बैंकों के पास मुद्रा भण्डार इतना बड़ा हो गया था कि वह तरलता के आवश्यक स्तर से कहीं अधिक ऊपर जा चुका था। इसका एक कारण इन देशों में कुल अबचत (नेट डिस्सेविंग) का कम होना भी है। ऐसे में इस भण्डार को निवेश न करना पूरी अर्थव्यवस्था में अत्यधिक तरलता और कम उपभोक्ता खर्च की सूरत में मुद्रास्फीति पैदा कर सकता है। यही सोचकर इन केन्द्रीय बैंकों ने अपने भण्डार में से एक हिस्सा अलग करके निवेश मुद्रा भण्डार बनाए। इन्हीं भण्डारों को सॉवरेन वेल्थ फण्ड कहा जा रहा है। ये सरकारों द्वारा नियंत्रित हैं। सिंगापुर और पश्चिमी एशिया के तेल उत्पादक देशों ने सबसे पहले यह भण्डार बनाया। बाद में रूस और चीन ने भी सॉवरेन वेल्थ फण्ड खड़े कर लिए। चीन ने तो ज़बर्दस्त आकार का सॉवरेन वेल्थ फण्ड बनाया है जो 200 बिलियन डॉलर का है और जिसका नाम है चाइना इन्वेस्टमेण्ट कॉर्प।

एस.डब्ल्यू.एफ. से डर कई कारणों से है। हाल के संकटों ने दिखला दिया है कि वित्तीय बाज़ार में अमेरिका अपना वर्चस्व खो रहा है। अमेरिका में लम्बे समय से तरलता को वित्त पोषित करने का काम चीन, भारत और रूस जैसे देशों का मुद्रा भण्डार कर रहा है। अमेरिका के वित्तीय बाज़ार में इन देशों ने जमकर पैसा डाला है जिसने उस तरलता को जन्म दिया था जिससे अमेरिका ने उपभोग उन्माद को वित्त पोषित किया। इसके कारण अमेरिकी केन्द्रीय बैंक फेड ब्याज दर कम करने में सक्षम हुआ। अब अगर ये देश अपने पैसे को इन वित्तीय बाज़ारों से निकाल लें या फिर उन्हें दूसरी अर्थव्यवस्थाओं में भी लगाना शुरू कर दें, तो पूरी अमेरिकी अर्थव्यवस्था डावाँडोल हो सकती है।

सॉवरेन वेल्थ फण्ड और कुछ नहीं उभरती पूँजीवादी अर्थव्यवस्थाओं द्वारा अमेरिकी वर्चस्व को चुनौती है और विश्व स्तर पर अधिशेष के विनियोजन में बड़े हिस्से के लिए संघर्ष करना है। और सॉवरेन वेल्थ फण्ड इसमें काफी कारगर साबित हो रहे हैं।

का दौर ख़त्म हो गया और लोगों का धीरे-धीरे इस बात से यकीन भी उठने लगा कि राज्य के सही समय पर उचित हस्तक्षेप से पूँजीवाद को चक्रीय संकट से बचाया जा सकता है और इस तरह पूँजीवाद को अजर-अमर बनाया जा सकता है, जैसा कि हकीम कीन्स के नुस्खे के फटे-चिथड़े कागज पर धुली हुई लिखाई में लिखा था। जल्दी ही दुनिया भर में पूँजीवादी अर्थव्यवस्थाओं ने पूँजी की प्रचुरता के संकट को हल करने के लिए 'कल्याणकारी राज्य' का मुखौटा नोचकर फेंकना शुरू कर दिया जो उनका दम घोंट रहा था। पूँजी को उत्पादक निवेश और सट्टेबाज़ी के लिए बाज़ार और विस्तार चाहिए था। और यह कीन्सियाई नुस्खे के अमल में रहते नहीं हो सकता था। लेकिन यह अपरिहार्य था, और यही किया भी गया।

लेकिन कीन्सियाई नुस्खों के खारिज किए जाने के बाद से पूरे विश्व पूँजीवाद ने एक गिरावट की प्रवृत्ति देखी है। पूँजीवाद के विजयी और अमर होने की सभी उत्तर-आधुनिक घोषणाओं की पोल बस अर्थव्यवस्था पर ही एक निगाह डाल लेने से खुल जाती है, जो एक संकट से लदी, बेरोज़गारी और ठहराव का शिकार अर्थव्यवस्था है। वर्ल्ड बैंक के वैश्विक आर्थिक संभावनाएं नामक वार्षिक विश्लेषण के अनुसार 1960 के दशक और 1973 के बीच में विश्व आर्थिक वृद्धि की दर थी 5.2 प्रतिशत। यानी, पहले तेल संकट से पहले तक। इसेक बाद 1974 से 1990 के बीच यह दर घटकर 3 प्रतिशत रह गयी और 1991 से 1997 के बीच यह और अधिक घटकर 2.3 प्रतिशत रह गयी।

अगर दशकीय वृद्धि दरों की तुलना की जाय तो विश्व अर्थव्यवस्था के संकट की और साफ तस्वीर सामने आ जाती है।

वृद्धि दरों मे यह कमी विश्व के सबसे उन्नत पूँजीवादी देशों की अर्थव्यवस्था की रफ्तार में कमी आने के कारण हुई है। इसके कई कारण हैं। अति-उत्पादन और पूँजी की प्रचुरता के संकट के कारण वित्तीय विस्तार की नीति को अपनाना पूँजीवाद के समक्ष उपलब्ध एकमात्र विकल्प था। वित्तीय विस्तार और वित्तीय पूँजी बाज़ारों के पैदा होने और उनके आपस में जुड़ते जाने, और उत्पादक निवेश की सम्भावनाएँ पूँजीवाद के दायरे के भीतर नगण्य होते जाने के साथ ही, पूँजी का चरित्र अधिक से अधिक अनुत्पादक और जुआरी होते जाने के कारण सरकारों के पास जनकल्याण और अवसंरचनागत क्षेत्र में निवेश के लिए ताकत नहीं रह गयी है। ऐसा पूरी अर्थव्यवस्था के ढह जाने की कीमत पर ही किया जा सकता है। अगर किसी भी देश में सरकार रोज़गार को बढ़ाने के लिए और उत्पादन को बढ़ाने के लिए अपने ख़र्चों को बढ़ाने का विकल्प चुनती है तो यह मुद्रास्फीति को बढ़ावा देगा और इसके कारण व्यापार घाटे में वृद्धि होगी और साथ ही वित्तीय संपत्ति का अवमूल्यन होगा। इसके कारण उस देश की अर्थव्यवस्था में निवेश करने वाले निवेशक, देशी भी और विदेशी भी, अपनी पूँजी का विनिवेश करेंगे और यह पूरी मुद्रा के औंधे मुँह गिर जाने के रूप में परिणामित होगा। इसलिए आज, यानी साम्राज्यवाद के भूमण्डलीकरण के दौर में, जब दुनिया भर में कुल पूँजी निवेश का लगभग 90 फीसदी हिस्सा अनुत्पादक हो चुका है, जब पूँजी अधिकाधिक अनुत्पादक हो चुकी है, जब दुनिया भर के वित्तीय बाज़ार इस हद तक एक-दूसरे से जुड़ चुके हों, किसी भी देश की पूँजीवादी सरकार के लिए यह सम्भव नहीं रह गया है कि वह रोज़गार को बढ़ावा देने के लिए वास्तविक अर्थव्यवस्था में निवेश करे। यह किसी भी पूँजीवादी देश की इच्छा से स्वतंत्र हो चुका है। अगर कोई सरकार चाहे भी तो ऐसा नहीं कर सकती है। यह पूरी अर्थव्यवस्था को ढहा देगा। इसलिए पूँजीवाद एक असमाधेय समस्या का शिकार हो चुका है। वास्तविक अर्थव्यवस्था में निवेश न होने के कारण, रोज़गार अवसरों के पैदा न होने के कारण जनअसन्तोष तीसरी दुनिया के पूँजीवादी देशों में ही नहीं बल्कि उन उन्नत पूँजीवादी देशों में भी बढ़ रहा है जहाँ की सरकारें दुनिया भर में अपनी साम्राज्यवादी लूट की बदौलत अपने देश के मज़दूर वर्ग को रिश्वत देकर उसका मुँह बन्द रखने का काम करती हैं।

इसीलिए अभी दुनिया भर में पूँजीवादी सरकारें द्रविड़ प्राणायाम करके अपने ख़र्चों को कम करने की कोशिश में लगी रहती हैं ताकि अपने बजट घाटे को कम कर सकें जो कीमतों के लगातार लाभ स्तर से नीचे गिरने का कारण बनती है, जिसे हम *डिफ्लेशन* नाम से भी जानते हैं। कीमतों का इस तरह से गिरना धीमे आर्थिक विकास का कारण बनता है। यानी की सरकारी या सार्वजनिक ख़र्चों को घटाना आज विश्व पूँजीवाद के पदसोपान क्रम में किसी भी स्थान पर खड़े देश की सरकार के लिए एक मजबूरी है। सार्वजनिक खर्च जो आर्थिक वृद्धि दे सकता है वह आर्थिक वृद्धि वह दे चुका और अब पूँजीवाद इस सार्वजनिक खर्च को अफोर्ड नहीं कर सकता। इसलिए वृद्धि एक ही स्रोत रह जाता है--निजी खर्चे। निजी खर्च का अर्थ है उपभोक्ता सामग्रियों पर होने वाला ख़र्च। इसी से जो वृद्धि पैदा होती है वह अर्थव्यवस्था के लिए ऑक्सीजन सिलेण्डर का काम करती है। लेकिन इस सिलेण्डर में भी अब ऑक्सीजन ख़त्म होने की तरफ़ तेज़ी से बढ़ रही है और मरीज़ को हिचकियाँ आ रही हैं। कारण हम सबप्राइम संकट के विश्लेषण में देख चुके हैं। वित्तीय पूँजी के अनुत्पादक और सट्टेबाज़ होते जाने के कारण पूँजीवाद बूम-बस्ट के अपने चक्रीय संकट से उबर नहीं पा रहा है, बल्कि इस संकट की बारंबारता बढ़ती जा रही है। यह वास्तविक आय के घटने का कारण बन रहा है जिसके कारण ख़रीद में कमी आ रही है, जो भूमण्डलीकरण के दौर में आर्थिक वृद्धि का एकमात्र स्रोत रह गया है। इसलिए अब ऋण वित्तपोषण से उपभोग को बढ़ावा देने की कोशिशें की गयीं हैं। लेकिन उसके विनाशकारी परिणाम भी हमारे सामने हैं जब विश्व पूँजीवाद का चौधरी अपने पैदा किए गए सबप्राइम संकट की मार से धराशायी होता नज़र आ रहा है। तरलता को बढ़ाकर उपभोग का वित्तपोषण करने की युक्ति मुसीबत बनकर पूरे विश्व वित्तीय पूँजी बाज़ार पर टूट पड़ी है।

हम अपने उपरोक्त विश्लेषण के जरिये समझ सकते हैं कि ऋण द्वारा वित्तपोषित कोई भी उपभोग, निवेश या किसी भी अन्य तरह की आर्थिक तेज़ी न सिर्फ वृद्धि की दर को कम करती जाती है बल्कि पूरे पूँजीवादी अर्थतंत्र को संकटों के सामने और अरक्षित बना देती है। एक ओर पूँजीवाद में अस्थिरता बढ़ती जाती है और दूसरी ओर वृद्धि भी ख़त्म होती जाती है। यानी एक मन्द मन्दी

लगातार बरकरार रहती है जो समय-समय पर किसी बड़ी मन्दी में तब्दील होती रहती है। सबप्राइम संकट में यही बात साबित हो रही है। जिस-जिस बात की आशंका अर्थशास्त्रियों ने अभिव्यक्त की थी, बिल्कुल वही हो रहा है। सबप्राइम संकट के कारण डॉलर का ह्रास हो रहा है जो पूरी विश्व अर्थव्यवस्था को एक लम्बी मन्दी की ओर धकेल रहा है। इससे बचने का कोई तात्कालिक रास्ता तो समझ में नहीं आ रहा है।

●

सबसे पहले यहाँ यह समझ लेना ज़रूरी है कि चाहे 1997-98 का पूर्वी एशियाई संकट हो, 2001 का डॉट-कॉम क्रैश हो, 2005 हाउसिंग बूम का अन्त हो, या फिर 2006 के उत्तरार्द्ध से शुरू हुआ सबप्राइम संकट हो, ये सभी अति-उत्पादन और पूँजी की प्रचुरता का वही पुराना पूँजीवादी संकट है, जो अपने आपको कुछ परिवर्तनों और अलग-अलग भेस के साथ बार-बार नियमित अन्तराल पर प्रकट करता रहता है। मार्क्स ने ही अपने समय में बता दिया था कि सट्टेबाज़ी उत्पादक निवेश के अवसरों में कमी का नतीजा होती है। उद्योग जगत की बेहाली और बदहवासी सट्टेबाज पूँजी द्वारा दिये गये बेतरतीब ऋणों में झलकती है और साथ ही शेयरों के दामों की सट्टेबाज़ी द्वारा वृद्धि भी इसी तथ्य को प्रतिबिम्बित करती है। अति-उत्पादन का संकट दरअसल अपने आपको पूँजी की प्रचुरता के संकट के रूप में अभिव्यक्त करता है जो उत्पादक निवेश के अवसर न मिलने की सूरत में विश्वव्यापी कैसीनो शेयर बाज़ार और सट्टा बाज़ार में लगकर तुरत-फुरत मुनाफ़ा कमाने का प्रयास करती है। मार्क्स ने अतिरिक्त मूल्य की दर में गिरते जाने की अन्तर्निहित प्रवृत्ति को दिखलाया था। इसी आधार पर मार्क्स ने कहा था कि समाज के सतत विकास के लिए लाभ पर टिकी व्यवस्था अतर्कसंगत है और वह एक हद के बाद समाज को आगे ले जाने का काम नहीं कर सकती है। समाजवाद के तहत संचय कोई नकारात्मक परिघटना न होकर एक सकारात्मक चीज़ होती है क्योंकि उसका मकसद निजी मालिकाने की व्यवस्था के अन्तर्गत मालिकों के वर्ग को अधिक से अधिक मुनाफ़ा पहुँचाना और मेहनतकश वर्ग को जीने की खुराक भर देना नहीं होता। बढ़ता संचय समस्त मनुष्यों के जीवन को अधिक से अधिक विविधतापूर्ण बनाने और सुन्दर बनाने के काम आता है। समाज संचय करता जाता है और अपने सदस्यों के जीवन को उन्नत से उन्नत बनाता जाता है। इसका कारण यही होता है कि उत्पादन के साधन पूरे समाज की साझा सम्पत्ति होते हैं। उत्पादन भी सामाजिक होता है और विनियोजन (एप्रोप्रिएशन) भी सामाजिक होता है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के तहत समृद्धि और सम्पदा को संचित करते जाना अमीर और गरीब के बीच की खाई को बढ़ाते जाता है। अमीरों की संख्या में कमी और गरीबों की संख्या में बढ़ोतरी होती जाती है। इसके अतिरिक्त, समृद्धि और सम्पदा को बीच-बीच में नष्ट भी करना पड़ता है, जिसे पूँजीवादी अर्थशास्त्री "मार्केट करेक्शन" कहते हैं, जैसा कि हाउसिंग बूम के बाद हाउसिंग मार्केट के करेक्शन में किया गया था। विशाल मात्र में आवासीय सम्पत्ति मूल्यहीन हो गयी। बड़े पैमाने पर पूँजी का विनाश किया गया। पूँजी के विनाश का एक रास्ता युद्ध भी होता है। साम्राज्यवादी संकट से उबरने के लिए पहले भी पूँजीवाद युद्धों का सहारा लेता रहा है। हालांकि, यह एक जोखिम भरा मामला होता है, जो कई स्थितियों में जनक्रान्तियों को जन्म देता है, लेकिन अन्तिम रास्ते के तौर पर साम्राज्यवादी इस रास्ते का उपयोग करते रहे हैं।

पूरी विश्व साम्राज्यवादी व्यवस्था की हालत पर अगर निगाह डाली जाय तो इस सम्भावना से इंकार नहीं किया जा सकता कि साम्राज्यवादी भेड़िये एक बार फिर दुनिया को किसी साम्राज्यवादी युद्ध की ओर धकेल सकते हैं। पूरा पश्चिमी उन्नत पूँजीवाद अति-उत्पादन और पूँजी की प्रचुरता के संकट में बुरी तरह फँसा हुआ है। सबप्राइम संकट ने इस गहराती समस्या को पूरी तरह खोलकर सामने रख दिया है। इसके संकेत सिर्फ़ इस संकट के ख़त्म होने या न ख़त्म होने की ओर इशारा नहीं करते। यह पूरे भूमण्डलीकृत पूँजीवादी विश्व के असमाधेय संकट की ओर इशारा करते हैं। अगर आज पश्चिमी पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के संकट के बरक्स तथाकथित उभरती अर्थव्यवस्थाओं को रखा जाए तो काफी बातें समझ में आती हैं। चीन के पास आज दुनिया का सबसे बड़ा विदेशी मुद्रा भण्डार है--1.3 ट्रिलियन डॉलर, साथ ही चीन के पास दुनिया का सबसे बड़ा व्यापार मुनाफा भी है। चीन समेत तीसरी दुनिया की सभी ठोस अर्थव्यवस्थाएँ अमेरिका के 'स्लो-डाउन' के कारण अपने विदेशी मुद्रा भण्डार को विविधतापूर्ण बना रहे हैं या बनाने के बारे में सोच रहे हैं ताकि डॉलर पर निर्भरता को ख़त्म किया जा सके। लेकिन इससे भी महत्वपर्ण बात यह है कि चीन और चीन समेत दुनिया के वे देश जिन्हें 'उभरती अर्थव्यवस्थाएँ' कहा जा रहा है, अपना एक विशाल मद बना रहे हैं, जिसे सॉवरेन वेल्थ फण्ड (एस.डब्ल्यू.एफ.) कहा जा रहा है। इस भण्डार का उपयोग ये देश उन्नत देशों, विशेषकर अमेरिका, की अर्थव्यवस्था में निवेश के लिए कर रहे हैं। अमेरिका और ब्रिटेन इस नीति पर संरक्षणवादी होने का आरोप लगा रहे हैं लेकिन इस प्रतिरोध का कोई ख़ास असर नहीं हो रहा है। रूस के पास दुनिया का तीसरा सबसे बड़ा विदेशी मुद्रा भण्डार है। यह ठीक है कि फिलहाल डॉलर की विश्व मुद्रा की स्थिति के कारण अधिकांश देशों के मुद्रा भण्डार अभी भी डॉलर में ही हैं। लेकिन डॉलर के लगातार अवमूल्यन और अमेरिकी आर्थिक वर्चस्व को तोड़ने की इच्छा के कारण अधिकांश देश या तो अपने मुद्रा भण्डार को विविधापूर्ण बनाने की शुरुआत कर चुके हैं या इसके बारे में सोच रहे हैं। अमेरिका का अपनी ही मुद्रा का भण्डार आज भारत, ब्राज़ील और सिंगापुर से कम है। इंग्लैण्ड के पास दुनिया का तीसरा सबसे बड़ा व्यापार घाटा है। अमेरिका के पास दुनिया का सबसे बड़ा व्यापार घाटा है। कर्ज़ के तले बुरी तरह से दबी पश्चिमी पूँजीवादी अर्थव्यवस्था, और विशेषकर अमेरिकी अर्थव्यवस्था अब संकट की दया पर कहीं अधिक है। यहाँ के वित्तीय बाज़ार जब-तब धराशायी होते रहते हैं। इसका मुख्य कारण अत्यधिक तरलता, या मार्क्सवादी शब्दावली में कहें तो पूँजी की प्रचुरता, के कारण पैदा हुई आर्थिक अस्थिरता है। चीन, भारत और रूस अगले वर्ष पूरी विश्व आर्थिक वृद्धि के आधे के

लिए ज़िम्मेदार होंगे। दूसरी तरफ, हेनरी पॉलसन, जो अमेरिकी ट्रेज़री सेक्रेटरी हैं, ने कहा है, अगले वर्ष अमेरिकी की वृद्धि दर मात्र 1 प्रतिशत होगी। यानी अमेरिकी अर्थव्यवस्था एक सर्वांगीण मन्दी का शिकार होगी। आर्थिक शक्तिमत्ता के संतुलन में कुछ महत्वपूर्ण और युग-निर्धारक परिवर्तन हो रहे हैं। ऐसे किसी भी परिवर्तन के परिणाम निरपवाद रूप से किसी साम्राज्यवादी युद्ध या विश्व पूँजीवाद की चौधराहट में बदलाव में सामने आता है। ऐसा भी हो सकता है कि साम्राज्यवादी युद्ध भी हो और उसके परिणामस्वरूप विश्व पूँजीवाद की चौधराहट में बदलाव सामने आता है। साथ ही, ऐसे बदलावों ने अभी तक क्रान्तियों के एक चक्र का श्रीगणेश भी किया है। चाहे वह प्रथम विश्वयुद्ध रहा हो, या द्वितीय विश्वयुद्ध।

पश्चिमी पूँजीवाद का चौधरी अमेरिका अपने लेफ्टिनेण्ट ब्रिटेन के साथ अपना नेतृत्व खोने की स्थिति में आर्थिक संकटों के कारण पहुँचता जा रहा है। दूसरी ओर, विश्व पूँजीवाद के नेतृत्व के लिए कई नये दावेदार उभर आए हैं। आंग्ल-अमेरिकी धुरी को चुनौती देने के रूप में कई अर्थशास्त्री किसी रूसी-चीनी धुरी के उदय की बात कह रहे हैं; लेकिन उत्पादक शक्तियों के विकास के स्तर पर निगाह डाली जाय तो अभी इस बात की सम्भावना कम लगती है कि अमेरिकी वर्चस्व का उत्तराधिकारी रूस और चीन का कोई संघ होगा। अभी भी यूरोपीय संघ इस मामले में अधिक सम्भावना-सम्पन्न है। इसका कारण यह है कि उसकी उत्पादक शक्तियों के विकास का स्तर चीन के मुकाबले काफ़ी ऊँचा है। उसका अवसंरचनात्मक आधार कहीं अधिक व्यापक है जो उसे कहीं अधिक टिकाऊ आर्थिक विकास देने में सक्षम है और उसकी अर्थव्यवस्था को आर्थिक अस्थिरता और वित्तीय उथल-पुथल से फिलहाली तौर पर निपटने के लिए बेहतर शॉक एब्ज़ॉर्बर देता है। फिलहाल, जो समीकरण विश्व राजनीति में दिखलाई दे रहे हैं वे भले ही इस बात की ओर इशारा कर रहे हों कि अमेरिका और यूरोपीय संघ के हित कई मामलों में एक-दूसरे के साथ गुंथे हुए हैं, लेकिन इस बात से कोई इंकार नहीं कर सकता है कि यह मजबूरी की एकता है और यूरोपीय संघ और अमेरिका में गहरे अन्तरविरोध हैं जो मौका पड़ते ही उभरकर उग्र रूप धारण कर सकते हैं। एक ग़ौर करने वाली बात यह भी है कि जापान जो 1990 के दशक के पूर्वार्द्ध से ही एक मन्दी का शिकार रहा है, नये सिरे से उबर सकता है। इसकी एक झलक चीन में बढ़ते जापानी निर्यात और निवेश में सामने आती है और दूसरी ओर जापानी शासक वर्ग की विश्व राजनीति में आक्रामकता के रूप में मिलती है। ऐसी स्थिति में अमेरिकी वर्चस्व को यूरोपीय संघ के बाद अगर किसी शक्ति में चुनौती देने का दम-खम है तो वह जापान है। जापान की उत्पादक शक्तियाँ पर्याप्त विकसित हैं और उसके पास एक व्यापक अवसंरचनागत ढाँचा है। फिलहाल वह डिफ्लेशन का शिकार होने के कारण उठ नहीं पा रहा है। लेकिन वह इस संकट से उबर न सकता हो, ऐसा नहीं है। कुछ अर्थशास्त्री तो उसके उबरने की प्रक्रिया की शुरुआत की बात भी करने लगे हैं। निश्चित रूप में इसके बारे में कोई ठोस भविष्यवाणी नहीं की जा सकती।

लेकिन रूस और चीन की बढ़ती आर्थिक शक्तिमत्ता को भी नज़रअन्दाज़ नहीं किया जा सकता। किसी भी नये विश्व समीकरण में और साम्राज्यवादी लूट के किसी भी नये विन्यास में ये दोनों अधिक हिस्सेदारी के लिए जमकर खींचतान करेंगे। शंघाई सहकार संघ या ब्रिक्स (ब्राज़ील, रूस, भारत और चीन) के विकास को भी इसी रूप में देखा जाना चाहिए। लेकिन अमेरिका विश्व पूँजीवाद पर अपने वर्चस्व को यूँ ही खुशी-खुशी किसी नयी उभरती ताकत को सौंप देगा, इसकी संभावना बेहद कम है क्योंकि ऐसा होने पर दुनिया की साम्राज्यवादी लूट में उसकी और उसके तमाम क्षेत्रिय हवलदारों की स्थिति छोटे साझीदार की हो जाएगी, जो उस अतिलाभ से उन्हें वंचित कर देगी जो अब तक उनकी जीवन-रेखा रही है। इसलिए वह भी अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ेगा। ऐसी सूरत में साम्राज्यवादी युद्धों की एक सम्भावना तो निश्चित रूप से बनी रहेगी। लेकिन यह कह पाना मुश्किल है कि उस युद्ध का स्वरूप और चरित्र कैसा होगा। एक बात विश्वास के साथ कही जा सकती है कि इस बात की गुंजाइश कम है कि फिर विश्वयुद्ध जैसी कोई स्थिति हो जिसमें मौजूदा साम्राज्यवादी धुरियों में प्रत्यक्ष रूप से एक-दूसरे की ज़मीन पर युद्ध हो। इस युद्ध के चरित्र के बारे में किसी नजूमी की तरह कोई भविष्यवाणी नहीं की जा सकती, लेकिन अभी की स्थितियों की ट्रैजेक्टरी नापने पर ऐसा लगता है कि इन साम्राज्यवादी शक्तियों के बीच ज़ोर-आजमाइश की ज़मीन तीसरी दुनिया के देश बन सकते हैं। ऐसा हो सकता है कि अरब विश्व एक बार फिर युद्ध की ज़मीन बने जहाँ साम्राज्यवादी ताक़तें विश्व साम्राज्यवाद की चौधराहट के लिए युद्ध में उलझें। उसी प्रकार दक्षिण-पूर्वी एशिया के देश भी ऐसी युद्ध की ज़मीन बन सकते हैं। इस बात की सम्भावना बहुत कम है कि विश्वयुद्ध की तरह किसी साम्राज्यवादी देश की ज़मीन पर युद्ध हो।

पहले की तरह विश्वयुद्ध होने की सम्भावना के नगण्य होने के दो कारण मुख्य हैं। पहला, नाभिकीय अवरोधक ऐसे किसी भी विश्वयुद्ध की सम्भावना को नगण्य बना देता है। साम्राज्यवादी विश्व में सभी धुरियों, जैसे आंग्ल-अमेरिकी धुरी, यूरोपीय संघ, रूस और चीन और जापान, सभी के पास या तो नाभिकीय अस्त्र हैं, या वे जब चाहें नाभिकीय अस्त्र बना सकते हैं। ऐसे में इन ताक़तों के बीच उनकी ज़मीन पर कोई 'फुल फ्रण्टल' युद्ध होने की स्थिति नाभिकीय युद्ध की तरफ़ जा सकती है। यह सम्भावना ऐसे किसी भी युद्ध की तरफ़ बढ़ने से इन देशों को रोकती है। दूसरा कारण है, आर्थिक अवरोधक। आज राष्ट्रपारीय निगमों के आर्थिक हित देशों की सीमाओं को पार करते हुए एक-दूसरे से इस कदर अंतर्गुंथित हैं कि वे ऐसे किसी भी युद्ध में उतरने से अपने देश की सरकारों को रोकेंगे जो उनके हितों को सवालों के दायरे में खड़ा कर दें। ऐसे युद्ध का समर्थन वे अस्तित्व का प्रश्न खड़ा होने पर ही कर सकते हैं। यह एक अहम आर्थिक कारक है जो इन देशों को ऐसे किसी विनाशकारी युद्ध में उतरने से रोक सकता है। इन दो प्रमुख कारणों के कारण उस किस्म का कोई विश्वयुद्ध होने की सम्भावना कम प्रतीत होती है। ऐसा लगता है कि कई क्षेत्रिय या किसी छोटे महाद्वीपीय युद्ध में ही ज़ोर-आजमाइश के जरिये शक्ति परीक्षण होगा और उसी से विश्व पूँजीवाद के नये नेता का चुनाव होगा;

मोहम्मद युनुस और सूक्ष्म ऋण : यह भी एक किस्म का सबप्राइम ऋण है!!

सबप्राइम ऋण का अर्थ है अधिक और परिवर्तनीय ब्याज दर पर उन लोगों को ऋण देना जिनका ऋण लेने और भुगतान करने का इतिहास उन्हें भरोसेमन्द नहीं बताता है। यानी, ग़रीब और निम्न मध्यमवर्गीय लोग जो ऋण लेने के लिए बाज़ार में पर्याप्त साख नहीं रखते हैं। लेकिन इस "चैरिटी" के लिए इन ग़रीबों की नियमित आय से फीस ली जाती है--अधिक ब्याज दर के रूप में। यह ब्याज दर शुरुआत में कम रहते हुए, जैसे कि 2 प्रतिशत, बाद में काफ़ी बढ़ जाती है, जैसे 30 प्रतिशत तक।

अब हम नोबेल पुरस्कार विजेता मोहम्मद यूनुस के सूक्ष्म ऋण प्रयोग के बारे में कुछ बताएँगे। आप स्वयं उसकी तुलना सबप्राइम ऋण से करें। सूक्ष्म ऋण मोहम्मद यूनुस ने बांग्लादेश में ग्रामीण बैंक द्वारा बांग्लादेश के गाँव के ग़रीबों को देना शुरू किया। यह ऋण ग़रीब किसानों और कारीगरों को बांग्लादेश के गाँवों में रोकने के लिए दिया जाता था जो पूँजी की मार से उजड़कर शहरों की ओर विस्थापित हो रहे थे। शहरों में इस मज़दूर आबादी को सोखने की ताक़त नहीं थी। इसलिए इस प्रवास को रोकना ज़रूरी था क्योंकि शहर में पहुँचने पर यह आबादी पूरी व्यवस्था के लिए घातक हो सकती थी। इसी को गाँव में रोकने के लिए इन ग़रीबों को सूक्ष्म ऋण दिया गया जो हमेशा के लिए तो उन्हें गाँवों में नहीं रोक सकता लेकिन कुछ समय के लिए तो रोक ही सकता है। या उस प्रवास की रफ्तार को धीमा कर सकता है ताकि शहरों को औद्योगिक विकास इस सर्वहाराकृत आबादी को सुगमता से सोख सके और कोई सामाजिक अशान्ति की स्थिति न पैदा हो। इसीलिए तो मोहम्मद यूनुस को शांति का नोबेल दिया गया, अर्थशास्त्र का नहीं!! लेकिन सूक्ष्म ऋण पर लगाया जाने वाली ब्याज दर है 30 प्रतिशत जिसे 52 किश्तों में चुकाना होता है। सूक्ष्म ऋण का काम दोहरा है--एक तो पिछड़ी उत्पादक शक्तियों वाले तीसरी दुनिया के पिछड़े देशों में उथल-पुथल को रोकने के लिए पूँजी निवेश करना, जो कोई कल्याणकारी कार्यक्रमों में नहीं लगती बल्कि लोगों से सूद के रूप में और पूँजी निचोड़कर लाती है! दूसरा काम है, विश्व साम्राज्यवाद की पूँजी की प्रचुरता के संकट को ख़तम करना। सूक्ष्म ऋण का एक बहुत बड़ा काम था साम्राज्यवादी देशों की अतिरिक्त पूँजी का लाभदायक तरीक़े से अपने देश में लगाना। ऊपर से यह एक गरीब-गुरबाँ के लिए उठाया गया कदम लगता है। लेकिन है यह एक ख़तरनाक़ साम्राज्यवादी कदम। बांग्लादेश में भी इक्का-दुक्का "सक्सेस स्टोरीज़" को छोड़ दिया जाय तो अधिकांश ग़रीब किसान सूक्ष्म ऋण की किश्तों को चुकाने में असमर्थ साबित हो रहे हैं और उनके खेत छिन रहे हैं और नतीजतन वे शहरों की ओर पलायन कर रहे हैं। साथ ही, यह पूँजी ब्याज के रूप में पहले ही ग़रीबों से इतना मुनाफ़ा निचोड़ चुकी है जो निवेशित मूलधन से कहीं अधिक है!

सबप्राइम ऋण का काम भी यही है कि वह पूँजी की प्रचुरता के संकट को ख़त्म करे। बस फ़र्क वही है जो अमेरिका और बांग्लादेश में है। एक जगह पेटुओं को और अधिक हॉट-डॉग, बर्गर, माइक्रोवेव, फ्रिज, टीवी, मोटरसाईकिल बेचने के लिए ऋण दिया गया ताकि अतिउत्पादन के संकट को हल किया जा सके, जबकि दूसरी जगह यानी बांग्लादेश में पूँजी की मार से उजड़कर शहर की ओर जाने वाले ग़रीबों को गाँव के निम्न उत्पादन की दरिद्रता में ही उलझाए रखने के लिए ऋण दिया गया। लेकिन दोनों की ब्याज दर तक समान है--करीब 30 से 32 प्रतिशत! लगने वाली पूँजी पूँजी बाज़ार के उन्हीं मगरमच्छों की है जो यह सारा गोरखधन्धा रच रहे हैं। इसलिए हम कह सकते हैं कि सूक्ष्म ऋण भी एक ख़ास किस्म का सबप्राइम ऋण है। बस अमेरिका में इसका मकसद अलग है और बांग्लादेश में अलग। खिलाड़ी वही हैं और मंसूबे वही। अमेरिका में भी नाकाम और बांग्लादेश में भी नाकाम!

ऐसी साम्राज्यवादी खींचातानी की एक झलकी हमें इराक युद्ध में देखने को मिली भी थी और ईरान के मसले पर भी उसका एक पूर्वसंकेतक दिखा था। इन दोनों ही मामलों में आंग्ल-अमेरिकी धुरी के विरोध में यूरोपीय संघ और रूस ने कई कदम पर अपने हितों को 'एसर्ट' किया। लेबनान के मसले पर भी कुछ ऐसा ही देखने को मिला था। ऐसे में कोई विश्वयुद्ध जैसी चीज़ अपवादस्वरूप ही हो सकती है। आज जब अमेरिकी साम्राज्यवाद इराक, अफगानिस्तान और लेबनान जैसे देशों को परास्त नहीं कर पा रहा है तो वह नयी उभरती ताकतों, जैसे रूस या चीन पर हमला करने का पागलपन करेगा, इसकी गुंजाइश फिलहाल कम ही लगती है। अपवाद के तौर पर ही ऐसा कोई पागलपन भरा कदम अमेरिका कालान्तर में उठा सकता है। ऐसे में दुनिया विनाश की ओर भी जा सकती है। और रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग के उस प्रसिद्ध कथन 'समाजवाद या बर्बरता' को आज के परिवर्तनों की रोशनी में थोड़ा रीफ्रेम किया जाय तो कहा जा सकता है कि 'समाजवाद या विनाश'! लेकिन फिर भी ऐसे किसी विनाश की सम्भावना नगण्य है। अधिक सम्भावना ऐसे युद्धों की है जिनका चरित्र क्षेत्रीय होगा और जिनमें साम्राज्यवादी ताक़तें एक-दूसरे के ज़ोर को नापेंगी और इसी के आधार पर कोई नेतृत्व परिवर्तन हो सकता है।

इस बात की भी सम्भावना है कि बिना किसी प्रत्यक्ष सैन्य युद्ध के कोई नया साम्राज्यवादी चौधरी उभरे। लेकिन सम्भावना इस बात की है कि कोई एक देश विश्व पूँजीवाद के चौधरी के रूप में न उभरे और नेतृत्व सम्भालने के लिए किसी संघ का उदय हो। यह संघ कैसा होगा और कौन से देश इसमें शामिल होंगे इसके बारे में कोई ठोस पूर्वानुमान लगाना मुश्किल है। लेकिन अमेरिका ऐसे किसी संघ का हिस्सा होगा, इसकी उम्मीद कम ही है क्योंकि नेतृत्व परिवर्तनों का चरित्र इतिहास में ऐसा रहा नहीं है। आम तौर पर यही होता आया है कि विश्व पूँजीवाद के मुखिया जब

पदच्युत होते हैं तो गौण स्थिति में पहुँच जाते हैं। अमेरिका की मौजूदगी एक साम्राज्यवादी शक्ति के रूप में बनी रह सकती है लेकिन शायद वह शीर्ष पर न रह जाय। इसके बारे में एकदम ठोस तौर पर कुछ कह पाना मुश्किल है। लेकिन ऐसे किसी सिण्डिकेट के विश्व पूँजीवाद के नये मुखिया के रूप में उभरना भी एक सम्भावना है।

तीसरी सम्भावना इस बात की भी है कि इस दौरान उन देशों में क्रान्ति की स्थितियाँ पैदा हो जाए जहाँ साम्राज्यवादी लूट का दबाव सबसे ज़्यादा है और जहाँ की अर्थव्यवस्थाएं विविधतापूर्ण और बहुमुखी हैं। इन देशों में मेक्सिको, अर्जेण्टीना, टर्की, ब्राज़ील, इण्डोनेशिया के साथ भारत का नाम भी शामिल हैं। ये ऐसे देश हैं जहाँ भूमण्डलीकरण और उदारीकरण की नीतियाँ अपना क़हर बरपा कर रही हैं और व्यापक मेहनतक़श आबादी को सड़कों पर धकेल रही हैं। साम्राज्यवादी विश्व का अपना संकट इतना भयंकर है कि इन देशों का पूँजीपति वर्ग, जिसका भाग्य साम्राज्यवादी देशों के साथ नत्थी हो चुका है, इन नीतियों के परिणाम जानते हुए भी ज़्यादा कुछ नहीं कर सकता है। वह बस तनी रस्सी पर लाठी पकड़कर चलने का काम कर रहा है और अब यह रस्सी काफ़ी जर्जर हालत में पहुँच चुकी है। लेनिन की वह बात आज भी लागू होती है कि तीसरी दुनिया के देश अब क्रान्तियों के झंझावात के केन्द्र बनेंगे। आज भी हम साम्राज्यवाद के युग में ही जी रहे हैं। निश्चित रूप से साम्राज्यवाद के चरित्र और कार्य-प्रणाली में काफ़ी गम्भीर बदलाव आए हैं। वित्तीय पूँजी का चरित्र अभूतपूर्व रूप से अनुत्पादक और सट्टेबाज़ हो गया है। इसके बारे में हम 'दायित्वबोध' में पहले भी लिखते रहे हैं। लेकिन लेनिन की वह बात आज भी लागू होती है कि साम्राज्यवाद पूँजीवाद की चरम अवस्था है। आज के दौर में हम यह और कह सकते हैं कि भूमण्डलीकरण साम्राज्यवाद की चरम अवस्था है। इसके आगे पूँजीवाद के पास कोई और रास्ता नहीं है। तीसरी दुनिया के तुलनात्मक रूप से उन्नत उत्पादक शक्तियों वाले देश आज के दौर में सर्वहारा क्रान्तियों के केन्द्र बनेंगे। आज के दौर में एक फर्क यह आ गया है कि लेनिन के ज़माने में तीसरी दुनिया में होने वाली यह क्रान्तियाँ सामन्तवाद-साम्राज्यवाद विरोधी होतीं, जबकि आज तीसरी दुनिया के देशों में पूँजीवाद के विकसित होने और बुर्जुआ वर्ग के सत्ता में आने के बाद यहाँ होने वाली क्रान्तियाँ साम्राज्यवाद-पूँजीवाद विरोधी होंगी। ये क्रान्तियाँ नये किस्म की समाजवादी क्रान्तियाँ होंगी जो निर्णायक तौर पर पूँजीवाद का ख़ात्मा करेंगी। कहने की ज़रूरत नहीं है कि यहाँ हम किसी आसन्न सम्भावना की बात नहीं कर रहे हैं। लेकिन ऐसी कोई सम्भावना सुदूर भविष्य की भी बात नहीं लगती।

साम्राज्यवाद संकट का शिकार है और यह संकट असमाधेय है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि यह अपने आप धराशायी हो जाएगा और समाजवाद का युग शुरू हो जाएगा। इस काम को अंजाम देने के लिए तीसरी दुनिया के देशों में आत्मगत शक्तियों के जिस संगठन की आवश्यकता है आज उसी का अभाव है। विचारधारा और कार्यक्रम की सही समझ के अभाव, पुरानी क्रान्तियों का अनुसरण करने की अनैतिहासिक प्रवृत्ति, एक छोर पर कठमुल्लावाद तो दूसरे छोर पर 'मुक्त चिन्तन', और एक छोर पर "वामपंथी" तो दूसरे छोर पर दक्षिणपंथी अवसरवाद के कारण इनमें से अधिकांश देशों में क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन भटकाव और बिखराव का शिकार है। बदलती विश्व परिस्थितियों में अगर कोई सक्षम नेतृत्व पैदा हो सका जो आसन्न जनउभारों को समाजवादी क्रान्तियों में तब्दील कर सके, तो कुछ युग-प्रवर्तक बदलाव हो सकते हैं। यही तीसरी सम्भावना है जिसे वास्तविकता में तब्दील करने की हमें तैयारी करनी है। कहने की ज़रूरत है कि यह सम्भावनाएँ निकट और तात्कालिक भविष्य की नहीं है। यह दीर्घकालिक सम्भावनाएँ हैं। लेकिन ये सम्भावनाएँ इतनी दीर्घकालिक भी नहीं हैं। साम्राज्यवाद के संकट की मौजूदा स्थिति देखते हुए इतना तो कहा जा सकता है कि यह सदी निर्णायक सर्वहारा क्रान्तियों की सदी बनने जा रही है।

●

अन्त में चन्द बातों के साथ, हम इस लेख को समाप्त करना चाहेंगे। यह लेख पूरे साम्राज्यवादी अर्थतन्त्र का सम्पूर्ण विश्लेषण नहीं था। यह सबप्राइम संकट के विश्लेषण द्वारा विश्व साम्राज्यवादी संकट को समझने का प्रयास था। साथ ही साथ, यह इस बात को स्पष्ट करने का प्रयास था कि मौजूदा सबप्राइम संकट कोई नायाब चीज़ नहीं बल्कि विश्व साम्राज्यवाद की उसी पुरानी बीमारी की एक नयी अधिक गम्भीर अभिव्यक्ति है, जो चक्रीय क्रम में उसे तंग करती रही है और जो उसके ख़ात्मे के साथ ही ख़त्म हो सकती है--यानी, अति-उत्पादन और पूँजी की प्रचुरता का साम्राज्यवादी संकट। तीसरी बात, यह लेख इस संकट को व्यापक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में अवस्थित करने का प्रयास था ताकि इसकी पूरी वंशावली समझी जा सके और इसे एक साम्राज्यवादी संकट के रूप में समझा जा सके। चौथी बात, इस संकट की ट्रैजेक्टरी को नापने का प्रयास करते हुए कुछ सम्भावनाएँ अभिव्यक्त की गयी हैं जिनकी ओर संभवतः यह दुनिया बढ़ रही है। और अन्त में, इस बात पर हमने ज़ोर दिया है कि हमें किस सम्भावना को सचेतन प्रयासों से हकीकत में बदलने के प्रयास में जुटना चाहिए।

मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का

आह्वान

एक प्रति : 10 रुपये
वार्षिक : 48 रुपये
(डाकव्यय सहित)

सम्पादकीय कार्यालय :
बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर, दिल्ली

शेयर बाज़ार की सबसे बड़ी एकदिनी गिरावट, करोड़ों स्वाहा, लाखों लोग तबाह

'जुआघर' अर्थव्यवस्था के निराले तोहफ़े

● अभिनव

21 जनवरी 2008 भारतीय शेयर बाज़ार के इतिहास में अभूतपूर्व काले दिन के रूप में आया। यह सोमवार का दिन था। शेयर बाज़ार 1408.35 अंक, और 7.41 प्रतिशत गिरकर 17605. 35 अंक पर बन्द हुआ। यह भारतीय शेयर बाज़ार के पूरे इतिहास की सबसे बड़ी गिरावट थी। दलाल स्ट्रीट पर उस दिन नज़ारा देखने लायक था। चेहरे पर लुटा-पिटा भाव लिए भारी संख्या में लोग बदहवास घूम रहे थे। एक पत्रकार ने, जो उस दिन दलाल स्ट्रीट पर मौजूद निवेशकों का साक्षात्कार ले रहा था, बताया कि तमाम छोटे निवेशक बोल रहे थे कि वे अब बाज़ार में पैसा नहीं लगाएँगे। सारा मीडिया शेयर बाज़ार में 'खून-ख़राबे' की ख़बरों से पटा हुआ था। गुजरात में आत्महत्या प्वाइंटों पर पुलिस की भारी तैनाती कर दी गई थी कि कहीं शेयर बाज़ार में नुकसान के बाद खाए-अघाए गुजराती व्यापारी आत्महत्या करने न पहुँच जाएँ! वित्तमन्त्री चिदम्बरम ने, जो विश्व आर्थिक मंच की दावोस बैठक के लिए निकलने वाले थे, बताया कि मौजूदा गिरावट से ज़्यादा घबराने की बात नहीं है क्योंकि भारतीय अर्थव्यवस्था का आधार ठोस है और हम ऐसी गिरावट के झटके को सोख सकते हैं।

अभी निवेशक 'काले सोमवार' के सदमे से उबरे भी नहीं थे कि उन्हें एक 'काले मंगलवार' का मुँह देखना पड़ा। अगले दिन शेयर बाज़ार खुलने के साथ ही पिछले दिन से भी भारी गिरावट (2029.05 अंक) कुछ ही देर में हो गयी। शेयर मार्केट अपनी सर्किट सीमा से 10 प्रतिशत नीचे गिर गया और व्यापार को कुछ समय तक बन्द करना पड़ा। बाद में बाज़ार उस दिन 875.41 अंक गिरकर 5 प्रतिशत की गिरावट के साथ 16729.94 अंक पर बन्द हुआ। इस बार चिदम्बरम महोदय का कहना था कि छोटे निवेशक घबराएँ नहीं, 'शान्त रहें' क्योंकि मुद्रा तरलता की कोई कमी नहीं होने दी जाएगी। लेकिन अब इस तरह के आश्वासनों से छोटे निवेशकों को विश्वास उठता नज़र आ रहा था। पिछले छः दिन से ही शेयर बाज़ार में गिरावट का दौर जारी था और छः दिनों में 11 लाख करोड़ रुपये डूब चुके थे। शेयर बाज़ार के इतिहास की दो सबसे बड़ी गिरावटें दो दिनों मे ही हो गयी थीं। हालाँकि अभी ज़्यादा वक्त नहीं बीता था जब शेयर बाज़ार ने 21,000 का आँकड़ा छुआ था। प्रत्यक्षतः, सट्टा बाज़ार में अस्थिरता पिछले दो वर्षों में अभूतपूर्व रूप से बढ़ी है। पहले भी शेयर बाज़ार में उतार-चढ़ाव होते थे लेकिन पिछले दो वर्षों से जो हो रहा है वह कुछ अर्थों में गुणात्मक रूप से भिन्न है।

यह समझना बेहद ज़रूरी है कि इस बढ़ती अस्थिरता और अनिश्चितता के मूल कारण क्या हैं? यह किन रूपों मे पहले से अलग है? इसके वैश्विक कारक क्या हैं? निश्चित रूप से यह विश्व साम्राज्यवाद का अति-उत्पादन और अति-संचय का संकट है

चार्ट 1 : 2007 के दौरान सेंसेक्स की क्लोजिंग वैल्यू

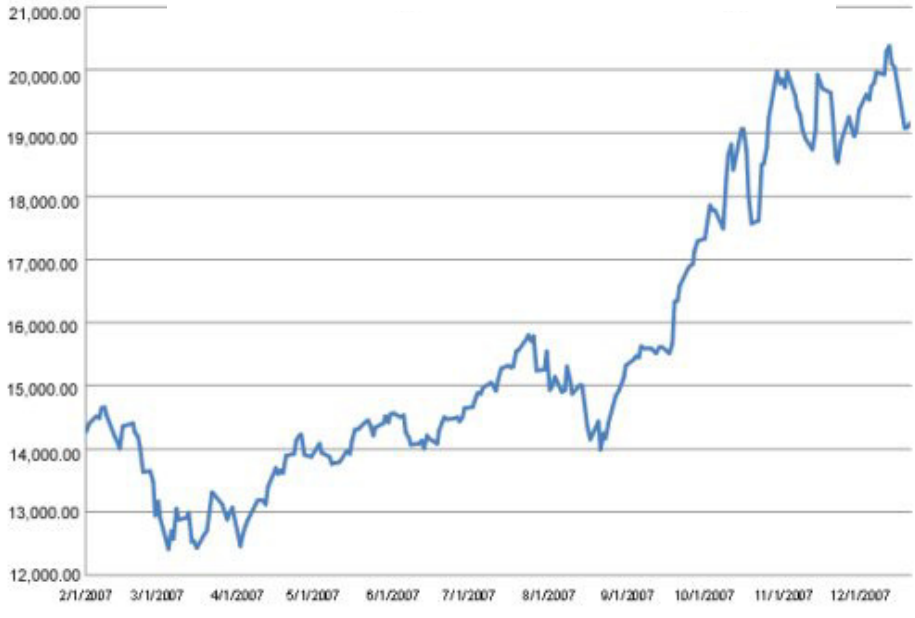

जो भारत समेत सारी दुनिया के बाज़ारों को आतंकित कर रहा है। इससे पहले कि हम इस संकट के तकनीकी विस्तार में जाएँ, यह समझ लेना ज़रूरी है कि इस पूरे संकट के पीछे वित्त पूँजी का बढ़ता जुआरी और सटोरिया चरित्र है और यह अब इस हद तक बढ़ चुका है कि ऐसा एक भी सटोरिया जिसके पास पर्याप्त मुद्रा तरलता है, पूरे विश्व की अर्थव्यवस्था में खलबली मचा सकता है। पूँजी के निवेश के उत्पादक और मुनाफ़ा देने वाले अवसर अर्थव्यवस्था में पहले ही संतृप्त हो चुके हैं। नतीजतन, तुरत-फुरत मुनाफा कमाने के लिए बाज़ार के सभी बड़े खिलाड़ी सट्टेबाज़ी में पैसा लगाते हैं। धीरे-धीरे यह प्रवृत्ति इस हद तक बढ़ जाती है कि पूरी अर्थव्यवस्था ही एक 'जुआघर अर्थव्यवस्था' में तब्दील हो जाती है और उत्पादक पूँजी निवेश पूरी तरह सट्टा पूँजी के अधीन हो जाता है। और सट्टा बाज़ार की गतिकी कुछ ऐसी होती है कि वह अस्थिर और अनिश्चित के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता। इस बुनियादी तर्क को समझकर अगर हम मौजूदा समस्या के विश्लेषण की ओर आगे बढ़ेंगे तो अधिक स्पष्टता होगी।

भारतीय स्टॉक मार्केट 'बूम' और 'बस्ट' की अंतर्कथा

तमाम अखबारों ने भी अपने कॉलमों में लिखा कि हाल में भारतीय शेयर बाज़ार में जो तेज़ी आई थी उसकी वजह विदेशी प्रत्यक्ष संस्थागत निवेशक थे। कई टिप्पणीकारों का कहना था कि भारत की सरकार बुनियादी आर्थिक तर्क की कीमत पर अन्तरराष्ट्रीय सट्टेबाज़ी के दानवों को प्राथमिकता दे रही है। विदेशी संस्थागत निवेशक पार्टिसिपेटरी नोट का इस्तेमाल करके भारी पैमाने पर भारतीय बाज़ार में घुसते हैं। अक्टूबर में शेयर बाज़ार की अभूतपूर्व तेज़ी का कारण यही विदेशी प्रत्यक्ष संस्थागत निवेशक थे। इस भारी निवेश से पूरे तंत्र में अत्यधिक तरलता आ जा रही थी जिसे रोकने के लिए अक्टूबर में ही रिज़र्व बैंक ने 18 महीने के समय में पार्टिसिपेटरी नोट्स को क्रमशः ख़त्म करने का प्रस्ताव रखा। लेकिन रिज़र्व बैंक के इस बयान भर से शेयर बाज़ार में एक भारी गिरावट आई। इस पर चिदम्बरम को बोलना पड़ा कि सरकार का पी.एन. पर पाबन्दी लगाने का कोई इरादा नहीं है। रिज़र्व बैंक बार-बार बोल रहा था कि विदेशी संस्थागत निवेशकों के निवेश के कारण निवेश की एक बाढ़-सी आ गई है और इसके कारण बाज़ार में तरलता अप्रत्याशित रूप से बढ़ रही है। दूसरी बात यह कि ये विदेशी निवेशक कोई व्यापक आर्थिक ज़िम्मेदारी नहीं लेते। ये तुरत-फुरत मुनाफ़ा कमाने के लिए सिर्फ़ सट्टेबाज़ी का इस्तेमाल करते हैं। इससे व्यवस्था में एक अनिश्चित तरलता बनी रहती है, जो वित्त मन्त्रालय चाहता भी है। लेकिन यह तरलता बेहद अनिश्चित होती है और कभी भी उड़नछू हो सकती है। और इसके उड़न-छू होते ही शेयर बाज़ार धड़ाम से गिर पड़ता है। इस 21 जनवरी को यही हुआ भी। इन विदेशी निवेशकों में से अधिकांश हेज फण्ड्स (इसी अंक में अमेरिकी संकट पर केन्द्रित लेख में बॉक्स में हेज फण्ड के बारे में पढ़ें) हैं। रिज़र्व बैंक ने कहा कि पी.एन. के जरिये हेज फण्ड द्वारा होने वाला निवेश रिज़र्व बैंक की मुद्रा नीति को अप्रभावी बना देता है। लेकिन इन सारी चेतावनियों के बावजूद सरकार ने पी.एन. पर कोई रोक नहीं लगाई। नतीजतन, तंत्र में तरलता बढ़ती गई। सिक्योरिटीज़ एण्ड एक्सचेंज बोर्ड ऑफ इण्डिया (सेबी) ने भी चेतावनी दी कि पी.एन. के कारण होने वाला निवेश पूरे तन्त्र को अस्थिर बना रहा है। लेकिन एक ही बार शेयर बाज़ार में हुई गिरावट ने वित्त मन्त्रालय, रिज़र्व बैंक और सेबी तीनों के होश ठिकाने लगा दिये। इसके बाद रिज़र्व बैंक ने भी कहा कि पी.एन. पर पाबन्दी नहीं लगाई जाएगी। वित्त मन्त्रालय ने भी यही कहा। सेबी ने कहा कि पी.एन. के पुनर्नवीकरण पर कोई रोक नहीं है। जुलाई 2007 से अक्टूबर 2007 तक शेयर बाज़ार में 33 प्रतिशत की बढ़ोत्तरी हुई। आवास उद्योग भी, जिसे सबसे ज़्यादा लाभ देने वाला माना जाता है, इस दर पर लाभ नहीं दे रहा था। यानी शेयर बाज़ार में निवेश सबसे लाभप्रद निवेश बन गया।

इसके बाद ज़बर्दस्त पैमाने पर निवेश जारी रहा और इसके कारण तरलता में जो बढ़ोत्तरी हुई उसके कारण एक बार फिर सेबी को कहना पड़ा कि पी.एन. पर पाबन्दी तो नहीं लगाई जाएगी लेकिन उसके जरिये हो रहे निवेश को कम करने के लिए कुछ कदम उठाए जाएँगे। लेकिन इसके साथ ही सेबी ने कहा कि विदेशी निवेशकों को जिन क्षेत्रों में निवेश की आज़ादी दी गयी है उन क्षेत्रों की संख्या बढ़ा दी जाएगी और उन्हें ऐसे कई क्षेत्रों में निवेश करने की इजाज़त दी जाएगी जिसमें वे अब तक निवेश नहीं कर सकते थे। इसके बाद सेबी ने विदेशी संस्थागत निवेशकों पर नियंत्रण रखने वाले नियमों में भारी छूट दे दी। मिसाल के तौर पर सेबी ने उन विदेशी संस्थागत निवेशकों को भी बाज़ार में घुसने की छूट दे दी जो अपने देशों में भी विनियमित नहीं हैं। सेबी ने विदेशी हेज फण्ड्स को भारत के इक्विटी बाज़ार में निवेश के लिए आमन्त्रण दिया। कुछ विदेशी संस्थागत निवेशकों ने अब पी.एन. को हटाने के सरकार के इरादे का समर्थन किया क्योंकि अब सरकार ने उन्हें कई ऐसे क्षेत्रों में निवेश की आज़ादी दे दी थी जिनमें निवेश के लिए उन्हें पी.एन. का सहारा लेना पड़ता था।

हेज फण्ड द्वारा हो रहे निवेश के कारण भारत का विदेशी मुद्रा प्रवाह अभूतपूर्व रूप से बढ़ा है। यह निरंतरता के साथ और तेज़ी के साथ बढ़ रहा है। इसके कारण जो हो रहा है वह यह है कि रुपये का मूल्य तेज़ी से बढ़ रहा है। और रुपये का मूल्य बढ़ने के कारण निर्यात क्षेत्र को भारी घाटा उठाना पड़ रहा है। रुपये के मूल्य बढ़ने को रोकने के लिए रिज़र्व बैंक डॉलर खरीद रहा है। लेकिन इससे भी तरलता में वृद्धि हो रही है जो पूरे बाज़ार को बढ़ती सट्टेबाज़ी के समक्ष अरक्षित बना रही है। दूसरी बात यह है कि यह तरलता ऐसी है जिसका इस्तेमाल करना असम्भव है और न ही इसे निष्प्रभावी बनाया जा सकता है। इसके कारण मुद्रास्फीति में तेज़ी से वृद्धि हो सकती है। इन भारी पूँजी प्रवाहों के कारण रिज़र्व बैंक की विनियमन क्षमता पर बेहद प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा है। यानी, पूँजीवाद ने जो बाज़ार सट्टेबाज़ी के द्वारा अनुत्पादक पूँजी के आनन-फानन में मुनाफे के लिए खड़ा किया था, वह पहले तो पूरी वास्तविक अर्थव्यवस्था पर हावी हो गया और अब उसके

नियंत्रण से पूरी तरह बाहर निकल रहा है।

एक विकल्प जो पूँजीवाद के पास कुछ समय पहले तक मौजूद था जब देश की अर्थव्यवस्था वैश्विक अर्थव्यवस्था के साथ इस कदर नहीं जुड़ी थी, वह यह था कि देश में आ रहे भारी पूँजी प्रवाह को सार्वजनिक ख़र्चों में इस्तेमाल किया जाय। लेकिन सरकार ऐसा अब नहीं कर सकती। इस कदम को 'डेफिसिट फाइनेंसिंग' कहा जाता है। इस पर फिस्कल रिस्पांसिबिलिटी एण्ड बजटिंग मैनेजमेण्ट एक्ट (एफआरबीएम) सख्त हिदायत देता है और इस कदम का उपयोग न करने के लिए कहता है।

हम पहले भी बता चुके हैं कि पी.एन. का उपयोग करके भारतीय बाज़ारों में निवेश करने वाले मुख्य निवेशक हेज फण्ड हैं। ये विशालकाय फण्ड होते हैं जो आनन-फानन में मुनाफा कमा लेने के अवसरों की तलाश में पूरी दुनिया के बाज़ारों में घूमते रहते हैं। वे कई तिकड़मों का इस्तेमाल करके शेयर बाज़ार में मुनाफ़ा कमाते हैं। मिसाल के तौर पर, वे "दोतरफा सट्टा" लगाते हैं। यानी कि बाज़ार किसी भी दिशा में घूमे हेज फण्ड्स को लाभ ही होता है। हेज फण्ड तो मुद्रा की गति की दिशा पर भी सट्टा लगाते हैं। यानी रुपये के मूल्य के बढ़ने या घटने पर वे दोतरफा सट्टा लगाते हैं। नतीजतन, रुपये का मूल्य चाहे बढ़े या घटे हेज फण्ड को लाभ ही होता है। मुद्रा पर सट्टा लगाने को 'करेंसी आर्बिट्रेज' कहते हैं। इस गोरखधन्धे को इक्विटी में निवेश के नाम पर किया जाता है। हेज फण्ड बेहद विशाल आकारहीन और आकृतिहीन फण्ड होते हैं। जहाँ तक विदेशी मुद्रा प्रवाह का सवाल है, हेज फण्ड उस पर सीधे सट्टा नहीं लगा सकते लेकिन वे अपनी पूँजी इक्विटी बाज़ार में निवेश करते हैं और जैसे ही मुनाफ़ा उनके लक्षित स्तर तक पहुँचता है वैसे ही वे अपने फण्ड को तोड़ देते हैं। मुनाफे का यह स्तर फोरेक्स बाज़ार के स्तरों से तय होता है।

अब चिदम्बरम महोदय के सामने भारी दुविधा यह है कि किया क्या जाय? दिक्कत यह है कि पूँजी के प्रवाह पर वह कोई ठण्डा रुख़ अख्तियार नहीं कर सकते हैं। लेकिन पूँजी के अनियंत्रित प्रवाह से तरलता जिस तेज़ी से बढ़ रही है उसके कारण पूरा बाज़ार भयंकर रूप से अस्थिर हो गया है। अब उनके सामने जो सवाल है वह यह है कि नियंत्रणकारी कदम उठाए जाएँ या फिर वित्तीय "नवोन्मेष" के कदमों को जारी रखा जाय।

हाल ही में अमेरिकी सबप्राइम संकट ने भारतीय बाज़ार का संकट और अधिक बढ़ा दिया है। सबप्राइम संकट के कारण अमेरिकी बाज़ारों में उपभोग में आ रही कमी के कारण पूरी अर्थव्यवस्था के मन्दी में जाने का ख़तरा पैदा हो गया है। मेरिल लिंच और मॉर्गन स्टैनले जैसे निवेश बैंकों ने तो यह कह भी दिया है कि अमेरिकी अर्थव्यवस्था मन्दी में प्रवेश कर चुकी है। अब इस मन्दी से निपटने के लिए एक बार फिर ऋण वित्त पोषित उपभोग मेला शुरू करने के लिए अमेरिकी केन्द्रीय बैंक ने ब्याज दरों को बेहद गिरा दिया है और गिराता जा रहा है। इसके कारण उभरती अर्थव्यवस्थाओं में निवेश तेज़ी से बढ़ रहा है और भारत इस मामले में भगोड़ी पूँजी का प्रिय स्थान है। भारतीय बाज़ारों में विदेशी संस्थागत निवेशकों का हिस्सा बीस प्रतिशत है। और विदेशी संस्थागत निवेश में पी. एन. के जरिये होने वाले निवेश का प्रतिशत 50 प्रतिशत है!

पार्टिसिपेटरी नोट्स क्या हैं और हेज फण्ड जैसे विदेशी संस्थागत निवेशक उनका क्यों इस्तेमाल करते हैं, इसे समझ लेना भी ज़रूरी है।

पी.नोट्स : पार्टिसिपेटरी नोट्स या प्लण्डरिंग नोट्स

पार्टिसिपेटरी नोट्स एक ख़ास उपकरण होते हैं जिनका उपयोग वे फण्ड करते हैं जिनपर भारतीय बाज़ार में सीधे निवेश करने पर पाबन्दी होती है, यानी जिनके निवेश पर सेबी की पाबन्दी होती है। इस उपकरण के माध्यम से विदेशी निवेशक अनजान रहते हुए, यानी अपनी पहचान को बाज़ार नियामक के सामने खोले बग़ैर बाज़ार में निवेश कर सकते हैं। होता यह है कि वे दलाल एजेंसियाँ जो विदेशी संस्थागत निवेशकों से जुड़ी होती हैं, वे भारत में स्थित सिक्योरिटी को ख़रीदती हैं और फिर अपने दाता विदेशी संस्थागत निवेशकों को पार्टिसिपेटरी नोट जारी कर देती हैं। हालाँकि पी.एन. जिनके पास होता है वे प्रत्यक्ष रूप से शेयरों के मालिक नहीं होते हैं, लेकिन इन शेयरों पर होने वाले लाभ के हक़दार वे होते हैं। दूसरी बात यह है कि पी.एन. विश्व बाज़ार में भी बेचे और ख़रीदे जा सकते हैं। इसके कारण दो बातें होती हैं। एक तो यह कि इनके जरिये इस उपकरण के संचरण की गति कई गुना बढ़ जाती है। दूसरी बात यह कि इसके विश्व बाज़ार में बेचे-खरीदे जा सकने के कारण कई बार पी.एन. के मालिक की पहचान मुश्किल हो जाती है क्योंकि दलाल जिस निवेशक को पी.एन. जारी करते हैं वे निवेशक अक्सर अच्छा मुनाफा मिलने पर वह पी. एन. किसी और निवेशक को बेच चुके होते हैं। एक और परिघटना इसके कारण घटित होती है। पूरा का पूरा देशी पूँजी बाज़ार वैश्विक पूँजी बाज़ार से बुरी तरह से नत्थी हो जाता है। यह एक डेरिवेटिव उपकरण है। यानी इसका मूल्य इसके तहत आने वाले शेयर से आता है या 'डेराइव' होता है। मुख्यतः हेज फण्ड पी.एन. जारी करते हैं। भारत में पी.एन. जारी करने वाले मुख्य हेज फण्ड्स में मेरिल लिंच, मॉर्गन स्टैनले, सिटीग्रुप और गोल्डमैन साक्स प्रमुख हैं। सेबी के अनुसार मार्च 2004 से अगस्त 2007 के बीच जारी होने वाले पी.एन. का मूल्य दस गुना बढ़ गया है। पहले यह 31,875 करोड़ रुपये था जो बढ़कर 3,53,484 करोड़ हो गया। पी.एन. का फायदा यह होता है कि कोई भी नियामक एजेंसी इस पर कोई नियंत्रण स्थापित नहीं कर सकती। इनके पीछे खड़े निवेशक कभी इन एजेंसियों के नियंत्रण में नहीं लाए जा सकते। दूसरी बात यह है कि वे वित्तीय बाज़ार में अस्थिरता को बेहद बढ़ा देते हैं। पी.एन. के कारण बढ़ने वाली अस्थिरता पर रिज़र्व बैंक लगातार आगाह करता रहा है। लेकिन दिक्कत यह है कि पी.एन. पर पाबन्दी विदेशी निवेशकों को हतोत्साहित कर देगी। वित्त मन्त्रालय किसी भी कीमत पर विदेशी निवेशकों को आकर्षित करना चाहता है और पी.एन. गैर-पंजीकृत विदेशी निवेशकों को भारतीय बाज़ारों

में निवेश का मौका देते हैं। यही कारण है कि पी.एन. के कारण बढ़ने वाली अस्थिरता की कीमत चुकाने के बावजूद वित्त मन्त्रालय इस पर रोक लगाने के पक्ष में नहीं है। विदेशी मुद्रा प्रवाह को अनियंत्रित रूप से बढ़ाने के अलावा पी.एन. और भी कई जोखिमों को जन्म देता है। मिसाल के तौर पर, भारतीय कम्पनियों ने बाहर मौजूद फण्डों का उपयोग विदेशी देशों में कम्पनियों को ख़रीदने में करने के लिए पी.एन. का जमकर इस्तेमाल किया। सरकारी एजेंसियों ने यह भय जताया है कि भारतीय इजारेदार कम्पनियाँ विशालकाय राशियों को बाहर भेजने के लिए पी.एन. का उपयोग कर सकते हैं। इसके लिए वे हवाला के रास्ते का उपयोग कर सकते हैं। इसके बाद वे देश में पी.एन. धारक के रूप में वापस आ सकते हैं। इस तरह पी.एन. पूरे आर्थिक तंत्र को ही सरकार के नियंत्रण से बाहर कर देते हैं। फिर भी सरकार इस पर रोक नहीं लगा सकती। यानी इस पूरे भँवर में अन्दर जाने का रास्ता तो था, लेकिन बाहर निकलने का कोई रास्ता नहीं है।

बढ़ता विदेशी मुद्रा प्रवाह : न उगलते बने, न निगलते

भारत को एक उभरती अर्थव्यवस्था के रूप में प्रोजेक्ट करने के पीछे जो तर्क काम कर रहा है वह यही है कि भारत विदेशी निवेशकों की एक पसन्दीदा जगह बनता जा रहा है। हम देख चुके हैं कि भारत विदेशी निवेशकों का तीर्थ स्थल पी.एन. जैसे उपकरणों के कारण बन रहा है जो उन्हें किसी भी किस्म के विनियमन से मुक्त कर देते हैं। पिछले एक साल में भारत की यह पहचान और भी ज़्यादा सुदृढ़ हुई और भारत वैश्विक अर्थव्यवस्था से पूँजी बाज़ारों के अभूतपूर्व एकीकरण के कारण और जुड़ गया है।

विदेशी मुद्रा प्रवाह की अद्वितीय गति के कारण भारत का विदेशी मुद्रा भण्डार गुब्बारे की तरह फूल गया है। इसके कारण भारत के विश्व अर्थव्यवस्था के साथ सम्बन्ध में भी एक गुणात्मक बदलाव आया है। 1990 के दशक के अन्त तक, भारत के लिए पूँजी प्रवाह का इस्तेमाल बिल्कुल अलग था। इसका काम पहले चालू लेन-देन का वित्त पोषण करना था। यानी कि देश में होने वाले आयात, ब्याज़ और डिविडेण्ड का भुगतान करने के लिए विदेशी मुद्रा प्रवाह का उपयोग किया जाता था। लेकिन अब जो मुद्रा प्रवाह हो रहा है उसे खपाने के लिए भारत को पूँजी का निर्यात करना पड़ रहा है। इससे यह नतीजा कतई नहीं निकाला जाना चाहिए कि भारत एक साम्राज्यवादी देश में तब्दील हो गया है। ऐसा हम क्यों कह रहे हैं, यह इस लेख में आगे स्पष्ट किया जाएगा। पूँजी का निर्यात करने का कारण यह है कि अतिरिक्त पूँजी को खपाने के लिए अब और कोई रास्ता नहीं है।

विदेशी मुद्रा भण्डार में होने वाली वृद्धि के आँकड़ों पर निगाह डालते ही स्थिति साफ हो जाती है। 2007-08 के वित्तीय वर्ष के पहले हिस्से में भारतीय विदेशी मुद्रा भण्डाल में 40.4 अरब डॉलर की वृद्धि हुई। पिछले वित्तीय वर्ष में इसी दौरान हुई वृद्धि मात्र 8. 6 अरब डॉलर थी। भारत का विदेशी मुद्रा भण्डार सितम्बर 2007 तक 248 अरब डॉलर था। सारे आयातों के लिए भुगतान करने के बाद भी यह राशि ज़रूरत से कहीं ज़्यादा थी। इससे निपटने का एक रास्ता यह था कि विदेशी मुद्रा प्रवाह को रोका जाय। यह सम्भव नहीं था। दूसरा रास्ता यह था कि देशी कम्पनियों द्वारा इसके निवेश को बढ़ावा दिया जाय। और अब जबकि भारत के पास इतना विशालकाय विदेशी मुद्रा भण्डार था तो सरकार ने विदेशी मुद्रा भण्डार के उपयोग पर सारे नियंत्रण हटा दिये। नतीजतन, भारतीय कम्पनियों ने इस भण्डार का इस्तेमाल "आक्रमण मुद्रा" के रूप में किया। हाल ही में भारतीय कम्पनियों ने जो विदेशी ख़रीदें की हैं उसके पीछे यही कारण है।

अब हम उस सवाल पर आते हैं कि पूँजी का निर्यात करने के बावजूद भारत को साम्राज्यवादी देशों में नहीं गिना जा सकता है। वजह यह है कि अगर हम सिर्फ़ विदेशी मुद्रा प्रवाह के पहलू का देखते हैं तो आप अजीबो-ग़रीब नतीजों पर पहुँच जाएँगे। हमें यह भी देखना होगा कि भारत की देनदारियाँ कितनी हैं। भारत का अधिकांश मुद्रा भण्डार विदेशी पोर्टफोलियो निवेश (उड़न-छू पूँजी निवेश), कर्ज़ और प्रत्यक्ष विदेशी संस्थागत निवेशकों द्वारा होने वाले निवेश से आता है। उसकी आय का स्रोत विश्व बाज़ार में

चार्ट 2 : शुद्ध प्रत्यक्ष विदेशी मुद्रा प्रवाह (अरब डालर)

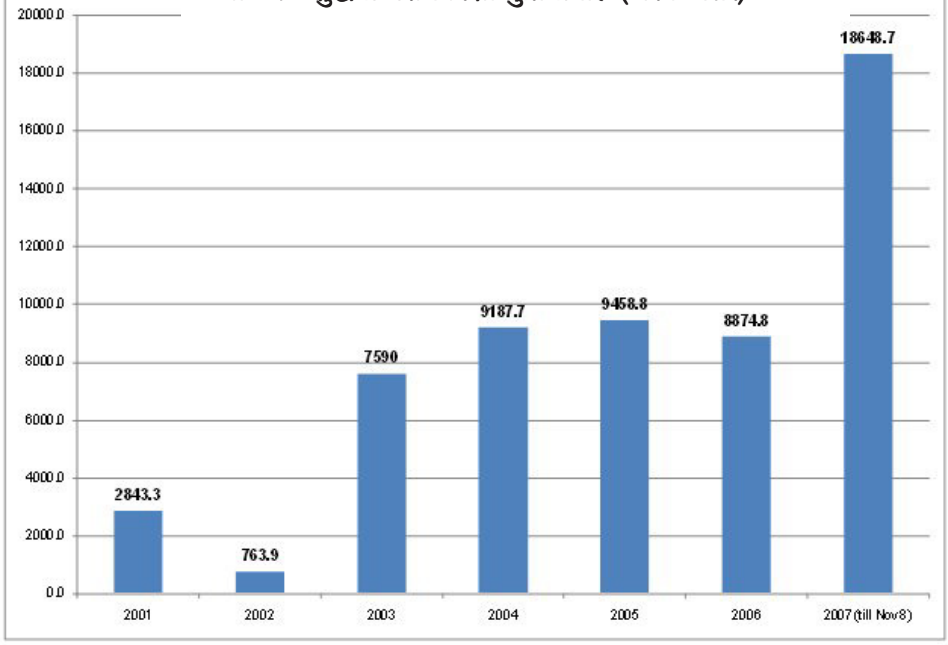

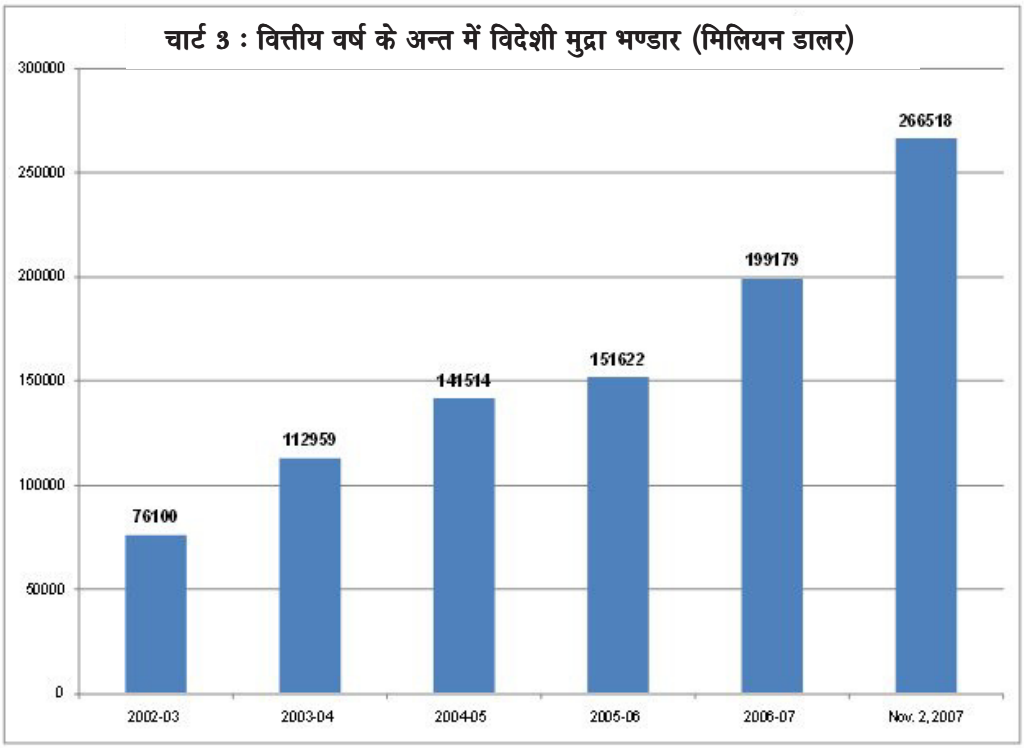

अपने मालों की बिक्री, यानी निर्यात से आने वाला राजस्व नहीं है। चीन के पास भी विशाल मुद्रा भण्डार है, लेकिन उसकी अधिकांश आय निर्यात से होती है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि चीन आर्थिक रूप से बहुत शक्तिशाली है। निर्यात पर अतिनिर्भरता की अपनी दिक्कतें हैं। चीन के साथ एक अतिरिक्त मसला यह भी है कि चीन के निर्यात का प्रमुख ख़रीदार अमेरिका है और इस रूप में चीन की अर्थव्यवस्था अमेरिकी अर्थव्यवस्था से नत्थी हो जाती है। चीन के पास फिलहाल व्यापार और चालू खाता लाभ ज़बर्दस्त है250 अरब डॉलर प्रति वर्ष। दूसरी ओर भारत के पास करीब 65 अरब डॉलर का व्यापार घाटा है। इसके अतिरिक्त भारत का चालू खाता घाटा 10 अरब डॉलर है। इसके विशालकाय मुद्रा भण्डार इसी घाटे से निपटने में खप जाता है। हम यह भी कह सकते हैं कि भारत का विदेशी मुद्रा भण्डार कमाया हुआ नहीं है और देनदारियों से निपटने में ही खप जाता है इसलिए कुल मिलाकर यह स्वयं एक देनदारी है। अपने घाटों को भरने के लिए पूँजी को आकर्षित करना पड़ता है। लेकिन एक बार जब पूँजी आती है तो वह सरकार के नियमों में बँधकर नहीं आती। यही सरकार की दिक्कत का मूल है। एक और दिक्कत यह है कि जो विदेशी निवेश इस समय भारतीय बाज़ार में हो रहा है उसका अधिकांश पोर्टफोलियो निवेश है, जो कभी भी उड़न-छू हो सकता है और उस सूरत में एक भारी संकट पैदा हो सकता है। समस्याएँ यहीं ख़त्म नहीं होतीं। विदेश में कम ब्याज़ पर ऋण मिलने के कारण भारत का कारपोरेट जगत ने बाहर से ऋण लेना बढ़ा दिया है। अगर पोर्टफोलियो निवेश को हटा दिया जाय तो प्रत्यक्ष विदेशी निवेश मात्र 3.89 अरब डॉलर रह जाता है। दूसरी ओर विदेशी बैंकों से भारी पैमाने से कर्ज़ लेने के कारण विदेशी मुद्रा भण्डार का प्रमुख हिस्सा इसके भुगतान में ही खत्म हो जाता है। बल्कि कई मायनों में तो यह भारत को कर्ज़दार बना देता है।

बढ़ते मुद्रा भण्डार से जो एक और समस्या पैदा होती है, वह है रुपये का मूल्य बढ़ना, जिस पर हम पहले ही विचार कर चुके हैं। रुपये के मूल्य में वृद्धि के कारण निर्यात से आने वाला राजस्व भी घटता जा रहा है। सेवाओं के निर्यात से जो राजस्व आता है वह भी कम हो रहा है। 2006 के अप्रैल से सितम्बर के बीच वस्तुओं का निर्यात 22.9 प्रतिशत बढ़ा था। सेवाओं में निर्यात में वृद्धि 38.3 प्रतिशत थी। और 2007 में इसी अवधि के दौरान वस्तुओं के निर्यात में हुई वृद्धि मात्र 19.9 प्रतिशत थी जबकि सेवाओं के निर्यात में मात्र 4.6 प्रतिशत की वृद्धि दर्ज की गयी।

विदेशी मुद्रा प्रवाह में तेज़ बढ़ोत्तरी के कारण सरकार इस भण्डार के देशी कम्पनियों द्वारा इस्तेमाल को प्रोत्साहित कर रही है। विदेशों में भारतीय कम्पनियों द्वारा हुई ख़रीद को इसी रोशनी में देखा जाना चाहिए। लेकिन इसके वास्तविक लाभ या हानि का पता तो बाद में चलेगा। 1980 के दशक में पूँजी के आयात को गैर-ज़रूरी आयातों का भुगतान करने के लिए आमन्त्रित किया गया था। इस न्यौते का नतीजा 1991 के विदेशी मुद्रा भण्डार संकट में सामने आया था। इस बार ध्वंस किस रूप में होगा, यह तो समय ही बताएगा।

दलाली के गोरखधन्धे

शेयर बाज़ार में आई अस्थिरता के लिए एक और कारक ज़िम्मेदार है। बड़ी इजारेदारियाँ बेहद ऊँचे मूल्यों पर उन शेयरों को बेचने लगती हैं जो उनके होते ही नहीं हैं!! होता यह है कि शेयर बाज़ार में शेयरों को उधार लेने और उधार देने की सुविधा होती है, ताकि शॉर्ट सेलिंग सम्भव हो सके। 1997 में सिक्योरिटीज़ लेण्डिंग स्कीम आई। इसके तहत शेयरों को ब्याज पर दूसरों को उधार में दिये जा सकते थे। विदेशी संस्थागत निवेशकों के पास बड़ी मात्रा में शेयर मौजूदा होते हैं। जिन दलालों के पास इस बात की जानकारी होती है कि किन कम्पनियों के पास किसी विशेष शेयर की विशाल

मात्रा है, वे इन शेयरों को खरीदने का सौदा करते हैं। इसके कारण शॉर्ट सेलिंग आसान हो जाती है, यानी, उन शेयरों को बेच डालना जो आपके हैं ही नहीं। ऐसा तब होता है जब शेयरों की कीमत नीचे जा रही होती है। उस समय इन शेयरों को बेच दिया जाता है ताकि कुछ समय बाद उन्हें कहीं कम दाम पर खरीदा जा सके। मार्च 2001 में जब शेयर बाज़ार औंधे मुँह गिर पड़ा तो सेबी ने शॉर्ट सेलिंग पर रोक लगा दी। शॉर्ट सेलिंग से बाज़ार कई रूप में अस्थिर हो जाता है। कारण यह है कि एक बार में कुछ ही कम्पनियों के शेयर खरीदने के लिए उपलब्ध होते हैं और इन शेयरों का भी एक छोटा-सा हिस्सा ही व्यापार के लिए उपलब्ध होता है। बाकी शेयर दलालों और वित्तीय संस्थाओं के पास होते हैं। यानी, शेयरों की भी जमाखोरी होती है। इसके जरिये ये दलाल अर्थव्यवस्था पर एक किस्म का नियंत्रण स्थापित करने लगते हैं। वे एक त्यौरी चढ़ा या गिराकर शेयर बाज़ार को चढ़ा-गिरा सकने की स्थिति में पहुँच जाते हैं। इसकी एक मिसाल महादलाल जॉर्ज सोरेस है। केतन पारेख घोटाला भी इसी का एक उदाहरण था। कुल मिलाकर प्रभाव यह होता है कि पूरा शेयर बाज़ार बेहद अस्थिर और सट्टेबाज़ी और अफवाहों का गुलाम हो जाता है। इन सारी समस्याओं को समझकर सेबी ने 2001 में शॉर्ट सेलिंग पर पाबन्दी लगाई थी। लेकिन हाल ही में ये पाबन्दियाँ उठा ली गईं हैं। इसके पीछे क्या तर्क है यह तो सेबी ही बता सकती है। कारण यह बताया जाता है कि इनके कारण बाज़ार में तरलता बढ़ती है और इससे शेयरों के फूले हुए मूल्य सामान्य हो जाते हैं। लेकिन यह तो एकदम उल्टा तर्क है हाल ही में जब शेयरों के दाम आसमान छू रहे थे, तो उसका कारण विदेशी संस्थागत निवेशकों द्वारा किया जाने वाला भारी निवेश था जिसने तरलता को बेहद बढ़ा दिया था। तार्किक कदम तो यह था कि शॉर्ट सेलिंग को रोका जाय, पी.एन. पर पाबन्दी लगाई जाय और विदेशी मुद्रा प्रवाह के रास्ते में स्पीड ब्रेकर बनाए जाएँ, जो कम-से-कम कुछ समय के लिए राहत देते। लेकिन ऐसा करने की बजाय विदेशी संस्थागत निवेशकों पर बचे-खुचे नियमों को भी ढीला कर दिया गया। इससे सट्टेबाज़ी और तेज़ रफ्तार से बढ़ी है और इसने बाज़ार को और अनिश्चित बना दिया है। जनवरी में हुई तो प्रमुख गिरावटों का यही कारण था। जिस बात का डर था वही हुआ था। अमेरिकी संकट की छाया पड़ते ही सारी उड़न-छू पूँजी उड़न-छू हो गयी और बाज़ार औंधे मुँह गिर पड़ा।

2001 में शेयर बाज़ार की गिरावट के पीछे जो कारक काम कर रहे थे, इस बार कारक उससे भी अधिक बड़े और शक्तिशाली थे। पिछली बार तो शेयर बाज़ार के लुढ़कने के पीछे केतन पारेख जैसे टुटपुँजिया दलाल द्वारा गैर-कानूनी रूप से निवेश के लिए प्राप्त की गई पूँजी थी। इस बार गिरावट के पीछे ऐसे विशालकाय फण्ड थे जो विशाल मुनाफे की तलाश में थे। उनमें से कुछ शॉर्ट सेलिंग का उपयोग करके तुरत-फुरत भारी मुनाफ़ा कमाने के चक्कर में थे और इसके लिए वे शेयर बाज़ार को तेज़ी से नीचे ले जाना चाहते थे। इस कारक की मौजूदगी से इंकार नहीं किया जा सकता। इसमें विशाल निवेश पूँजी वाले विदेशी संस्थागत निवेशक खटा-खट लाभ कमाकर या घाटा कम करके नौ दो ग्यारह हो जाते हैं। नतीजा होता है बाज़ार का गिरना और फिर एक चौतरफा वित्तीय संकट।

वित्त मन्त्री महोदय को यह बात बहुत बाद में समझ में आई कि अनियंत्रित पूँजी प्रवाह कीमतों के स्तर को बुरी तरह प्रभावित कर सकता है! नतीजतन, कुछ समय पहले संसद में उन्हें टाल-मटोल करते हुए स्वीकार करना पड़ा कि यह एक चिन्ता का विषय है। लेकिन इस समझ के विकसित होने के बाद भी वित्त मन्त्री महोदय ने विदेशी पूँजी के प्रवाह पर रोक लगाने के लिए कोई कदम नहीं उठाया। उल्टे उन्होंने सिक्योरिटीज़ लेन-देन से होने वाले पूँजी लाभ को करमुक्त कर दिया। जब विदेशी संस्थागत निवेशकों की भीड़ भारतीय बाज़ार में निवेश के लिए उमड़ पड़ी तो उन्होंने कहा कि ऐसा इसलिए हो रहा है कि उनके नेतृत्व में भारतीय अर्थव्यवस्था प्रगति कर रही है। जब रिज़र्व बैंक ने कहा कि ये पूँजी प्रवाह चिन्ता का विषय हैं और पी.एन. जैसे सट्टेबाज़ी के उपकरणों पर रोक लगाकर इन्हें नियंत्रित किया जाय, तो उन्होंने इंकार कर दिया और हाल ही में उन्होंने एक तरह से डाँटकर रिज़र्व बैंक को चुप करा दिया और डाँट का असर इतना ज़बर्दस्त था कि रिज़र्व बैंक भी अब उन्हीं की भाषा बोलने लगा।

अब सवाल यह उठता है कि चाहकर भी पूँजीवादी अर्थतंत्र पूँजी के अनियंत्रित महाप्रवाह को रोक क्यों नहीं सकता? विदेशी मुद्रा प्रवाह की एक ख़ासियत यह होती है कि आपके पास वह जितना आता है उतना ही आपकी 'ना' कहने की ताक़त ख़त्म होती जाती है। क्योंकि 'नहीं' कहने, यानी, अधिक मुद्रा प्रवाह पर रोक लगाने से न सिर्फ़ आने वाला भावी मुद्रा प्रवाह रुक जाता है, बल्कि जो पूँजी पहले ही बाज़ार में आ चुकी होती है, वह भी बाज़ार छोड़कर भागने लगती है। इससे भारी नुकसान होता है। पहले जितनी अधिक पूँजी आ चुकी होती है, उससे नुकसान उतना ही ज़्यादा होता है। यानी आप 'ना' नहीं कह सकते। मतलब यह कि विदेशी पूँजी तब तक भारतीय बाज़ार में आती रहेगी जब तक कि विदेशी निवेशक स्वयं ऐसा करना, किसी भी वजह से, बन्द नहीं कर देते। और ऐसा वे जब भी करेंगे, तो नतीजा भयानक होगा।

सामाजिक निहितार्थ और राजनीतिक दुविधा

चिदम्बरम ने हाल ही में बयान दिया था कि संकट यह है कि हमारे पास अतिरिक्त पूँजी को खपाने के लिए पर्याप्त अवसर नहीं हैं, अगर विदेशी मुद्रा प्रवाह को सोखने लायक पर्याप्त अवसर हमारे पास होते तो विदेशी मुद्रा प्रवाह कोई समस्या नहीं है। लेकिन चिदम्बरम महोदय, पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के तहत जितने अवसर आपको मुहैया हो सकते थे, वे हो चुके हैं। यानी, पूँजी की प्रचुरता का संकट पैदा होगा ही होगा। इससे बचने का कोई रास्ता नहीं है। इसके कारण रुपये के मूल्य बढ़ने और निर्यात सेक्टर को होने वाले घाटे का हम पहले ही ज़िक्र कर चुके हैं। भारत में निर्यात सेक्टर का आकार अच्छा-ख़ासा है। अगर इसमें घाटा होता है तो चिन्ता का विषय केवल यही नहीं होगा कि निर्यात सेक्टर के पूँजीपतियों को घाटा होगा, एक जुड़ा हुआ जोखिम यह है कि इस

सेक्टर में छँटनी और तालाबन्दी होगी जो सामाजिक अशान्ति को पैदा कर सकती है और यह वाकई एक चिन्ता का विषय साबित हो सकता है। हम इस पर भी चर्चा कर चुके हैं कि मुद्रा के मूल्य को बढ़ने से रोकने के लिए जो कदम सरकार उठा रही है उसके अपने 'साइड-इफेक्ट्स' हैंयानी रिज़र्व बैंक द्वारा डॉलर ख़रीदना। इसका नतीजा यह होता है कि रिज़र्व बैंक को अतिरिक्त रुपये छापकर तंत्र में डालने पड़ते हैं। इस अतिरिक्त रुपये को खपाने के लिए सरकारी बॉण्ड जारी किये जाते हैं। इन बॉण्डों पर जो ब्याज सरकार को देना पड़ता है उसका बोझ भी बजट पर आ गिरता है। 2007-08 के बजट में इसके भुगतान के लिए 3700 करोड़ रुपये रखे गये थे, लेकिन अभी वित्तीय वर्ष का आधा ही बीता था कि सरकार को इसके लिए 4500 करोड़ रुपये और निकालने पड़े! यह अतिरिक्त खर्च अर्थव्यवस्था पर, जो पूरी तरह सट्टेबाज़ी के चंगुल में फँस चुकी है, सरकार के नियंत्रण को और कमज़ोर कर देता है।

इसके बहुत से सामाजिक परिणाम भी सरकार को झेलने पड़ते हैं। मिसाल के तौर पर जब बजट पर इस तरह के दबाव पड़ते हैं तो खाद, पेट्रोलियम और खाद्यान्नों की बढ़ती कीमतों को कवर करने के लिए सब्सिडी देने की उसकी क्षमता घटती जाती है। यह संकट और गम्भीर इसलिए बन जाता है कि भारत अपनी ऊर्जा आवश्यकताओं के लिए पेट्रोलियम पर कई अन्य देशों से ज़्यादा निर्भर है। अब सरकार के सामने संकट यह होता है कि वह इन सब्सिडियों को काट नहीं सकती क्योंकि हमेशा आस-पास कोई न कोई चुनाव होता है!! इसके अतिरिक्त, अगर वह सब्सिडी नहीं देती है तो कीमतें बढ़ती हैं, जिसे सही ठहराने का सरकार के पास कोई कानूनी तर्क नहीं है।

कुल मिलाकर सरकार के ख़र्चों पर एक भारी पाबन्दी लग जाती है। यह कई आवश्यक सरकारी ख़र्चों में कटौती करने के लिए सरकार को मजबूर करता है। इसके अतिरिक्त, वित्त की कमी होने पर सरकार निर्यातकों को होने वाली हानि पर भी सब्सिडी नहीं दे पाएगी, जो रुपये के मूल्य में वृद्धि के कारण बढ़ती जा रही है।

अमेरिकी सबप्राइम संकट का असर

एक अन्य महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि अमेरिकी सबप्राइम संकट का भारत में शेयर बाज़ार के लुढ़कने से क्या रिश्ता था? अधिकांश अर्थशास्त्रियों मान रहे हैं कि अमेरिकी सबप्राइम संकट भारतीय बाज़ार के गिरने का प्रमुख कारण थे। भारतीय बाज़ार के गिरने के पीछे जो सबसे बड़ी वजह थी वह विदेशी संस्थागत निवेशकों और हेज फण्ड द्वारा बिकवाली और फिर तरलता का सूखना था। अगर यह समझ लिया जाय कि अमेरिकी सबप्राइम संकट में (सबप्राइम संकट के बारे में इसी अंक के अमेरिकी सबप्राइम संकट पर केन्द्रित लेख को पढ़ें) हुआ क्या था तो भारतीय बाज़ार के लुढ़कने से उसका रिश्ता आसानी से समझा जा सकता है। सबप्राइम संकट के कारण पूरे अमेरिकी पूँजी बाज़ार में ऋण की कमी पैदा हो गयी है, या सीधे कहें तो मुद्रा की कमी हो गई है। इसके कारण सबसे बड़े निवेश बैंक जैसे यूबीएस, मेरिल लिंच, मॉर्गन स्टैनले भारी घाटे का शिकार हो गये। 29 जनवरी को यूबीएस ने अपने अभूतपूर्व घाटे का एलान किया। सबप्राइम संकट में पहले ही 133 अरब डॉलर स्वाहा हो चुके हैं। कई विशेषज्ञ पहले ही कह चुके हैं कि अमेरिकी में एक भारी मन्दी की शुरुआत हो चुकी है। पिछले वर्ष अमेरिकी अर्थव्यवस्था की वृद्धि दर मात्र 3 प्रतिशत के आस-पास रही, जिसे ख़राब माना जाएगा। इस पूरे घटनाक्रम से दो चीज़ें सामने आईं। एक तो पूरे बाज़ार में अफवाहों के पंछी उड़ने लगे, जिसने घबराहट को बढ़ाया और पूँजी बाज़ार से भागने लगी। इसके अतिरिक्त, जो बैक सबप्राइम संकट में सबसे ज़्यादा पिसे, वे ही बैंक उन हेज फण्ड्स के मालिक थे, जिन्होंने भारतीय बाज़ार में पी.एन. के जरिये भारी निवेश कर रखा है। सबप्राइम संकट में घाटे के साथ ही उन्होंने अपनी पूँजी निकालनी शुरू कर दी और बिना फायदे के नहीं, क्योंकि शॉर्ट सेलिंग का औज़ार भी उनके पास था और सारे नियमों को ढीला कर दिया गया था। अब सबप्राइम संकट से निपटने के लिए बुश प्रशासन ने दो कदम उठाए हैं। एक तो फेडरल रिज़र्व ने, जो कि अमेरिका का केन्द्रीय बैंक है, अपनी ब्याज़ दरें फिर से गिरा दी हैं। और दूसरे, सरकारी कोष सचिव हेनरी पॉलसन ने 150 अरब डॉलर का एक 'बेल-आउट' पैकेज घोषित किया है, जिससे कि बाज़ार में तरलता को बढ़ाया जा सके। ज्ञात हो कि यह तरलता सबप्राइम संकट के कारण काफी सूख चुकी थी। लेकिन बुश और पॉलसन भी जानते हैं कि इससे यह संकट सिर्फ़ कुछ दिनों के लिए टल सकता है। और वे यह भी जानते हैं कि इसके बाद जब संकट फिर से सिर उठाएगा तो वह और भयंकर होगा (इसके कारण को जानने के लिए इसी अंक में सबप्राइम संकट पर केन्द्रित लेख पढ़ें)। अभी तो अर्थव्यवस्था को साँस लेने की जगह की ज़रूरत है। इसलिए जो भी फौरी कदम उठाया जा सकता है वह उठाया जा रहा है, हालाँकि ये फौरी कदम स्टीरॉयड के इंजेक्शन के समान हैं, जो दूरगामी तौर पर व्यवस्था की उम्र को कम कर रहे हैं।

अमेरिकी सबप्राइम संकट ने अमेरिकी शेयर बाज़ारों में एक मन्दी की स्थिति पैदा कर दी है। इस मन्दी ने वैश्विक वित्तीय पूँजी बाज़ार के बुरी तरह जुड़े होने के कारण एक चेन रिएक्शन पैदा कर दिया है। नतीजतन, सारी दुनिया में ही शेयर बाज़ारों का औंधे मुँह गिरना शुरू हो गया है। भारत में शेयर बाज़ार की ऐतिहासिक गिरावट इसी चेन रिएक्शन में एक कड़ी मात्र था।

●

एक बात जो ध्यान में रखी जानी चाहिए, वह यह है कि इन सारी तकनीकी बारीकियों में इस संकट का मूल कारण और तर्क नहीं भूला जाना चाहिए। यह पूँजीवाद का वही पुराना रोग है जो अपने आपको नित-नये रूपों में प्रस्तुत करता रहा हैयानी, अति-उत्पादन और पूँजी की प्रचुरता का संकट। अब तक हमारी चर्चा से स्पष्ट है कि विश्व पूँजीवाद के पास उत्पादक निवेश करने के लिए अवसर नहीं हैं। यह सच है कि उत्पादक निवेश की

सम्भावनाएँ या कहें कि वास्तविक अर्थव्यवस्था में निवेश की सम्भावनाएँ पूँजीवादी दायरे के भीतर तो बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में ही समाप्त होने लगी थीं और वित्तीय पूँजी औद्योगिक पूँजी को चालक की सीट से हटा कर खलासी की सीट पर पहुँचा चुकी थी। लेकिन द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद से, और विशेषकर 1970 के दशक से प्रत्यक्षतः वित्त पूँजी का सटोरिया चरित्र अद्‌भुत गति से बढ़ा है। और आज तो यह इतना अधिक बढ़ चुका है कि कहा जा सकता है कि विश्व के कुल निवेश में से लगभग 90 प्रतिशत निवेश अनुत्पादक निवेश है जो सट्टा बाज़ार और तमाम अन्य अनुत्पादक गतिविधियों में हो रहा है। पहले वित्त पूँजी नियंत्रक की स्थिति में आने के बावजूद उत्पादन की लाइन से पूर्णतः नहीं कटी थी। लेकिन आज वित्त पूँजी की अपनी एक स्वतन्त्र गति हो गयी है। इसके कारण पूरा का पूरा वैश्विक अर्थतंत्र बेहद अनिश्चित और अस्थिर हो गया है। इससे निजात का कोई रास्ता साम्राज्यवाद के पास नहीं है, सिवाय इसके कि युद्ध के जरिये बड़े पैमाने पर विनाश करके उत्पादक निवेश की सम्भावनाएँ पैदा की जाएँ और पूँजी की प्रचुरता के संकट से कम-से-कम कुछ समय के लिए निपटा जाय। लेकिन ऐसी स्थिति हमेशा किसी क्रान्तिकारी परिस्थिति को जन्म दे सकती है और इसलिए यह साम्राज्यवादी महाप्रभुओं के लिए एक बेहद जोखिम भरा कदम साबित हो सकता है। इसलिए वह आखिरी उपाय के रूप में ही इस्तेमाल किया जाएगा।

ऐसे में निकट भविष्य में विश्व अर्थव्यवस्था को एक दीर्घकालिक मन्दी में जाने से रोकना मुश्किल नज़र आ रहा है। पूँजी की प्रचुरता और अति-उत्पादन की समस्या से निपटने के सारे शॉक एब्ज़ॉर्बर अब चुकते जा रहे हैं। भारत और चीन की तथाकथित 'उभरती अर्थव्यवस्थाओं' के वैश्विक वित्तीय संकट से अप्रभावित और 'इम्यून' होने सम्बन्धी सभी मिथक अमेरिकी सबप्राइम संकट के बाद पूरे विश्व बाज़ार में आई गिरावट के बाद ध्वस्त हो चुके हैं। यहाँ तक कि इन देशों की सरकारों के प्रतिनिधियों को भी यह बात स्वीकारनी पड़ रही है कि उभरती अर्थव्यवस्थाएँ इतना भी नहीं उभर रही हैं कि वैश्विक संकट से कटी रह सकें। कारण यह है कि सभी बाज़ार इस कदर अंतर्गुंथित हो चुके हैं कि ऐसा हो ही नहीं सकता कि एक बाज़ार में होने वाली गिरावट का दूसरे बाज़ारों पर प्रभाव न पड़े। भूमण्डलीकरण के युग में यही हो सकता था। 1980 के दशक के मध्य में जब भूमण्डलीकरण की नीतियों को बड़े पैमाने पर श्रीगणेश हुआ था, तो साम्राज्यवाद के लिए यह एक 'सर्वाइवल स्ट्रैटेजी' थी, क्योंकि इसके बिना साम्राज्यवाद टिक नहीं सकता था। उसे पूँजी के पूरी दुनिया में निर्बाध आवागमन की सख़्त ज़रूरत थी क्योंकि पूरी दुनिया पर फैले बग़ैर वह उस समय अपने अति-उत्पादन के संकट से निपट नहीं सकता था। अब पूरी दुनिया में फैल चुकने के बाद जब उसके सामने पूँजी की प्रचुरता का संकट और अधिक विकराल, अभूतपूर्व और अद्वितीय रूप में उपस्थित हो रहा है तो यह देखना दिलचस्प होगा कि साम्राज्यवाद अब अपनी पूँजी को कहाँ विस्तारित करता है। कहा जा सकता है कि साम्राज्यवाद पूँजीवाद की चरम अवस्था था, तो भूमण्डलीकरण साम्राज्यवाद की अंतिम मंज़िल है। इसकी तार्किक परिणति अब समाप्ति है और वह अपनी मरण-शैय्या पर पड़ा है।

भारतीय पूँजीवाद भी इससे बुरी तरह नत्थी है। साम्राज्यवादी संकट के विकराल रूप धारण करने पर भारत और उस जैसे अन्य पिछड़े पूँजीवादी देशों के पूँजीपति वर्ग के लिए समस्याएँ अधिक गम्भीर होंगी, जैसा कि हम पहले भी दिखला चुके हैं। तीसरी दुनिया के देशों के आंतरिक अन्तरविरोधों में बहुत से महत्वपूर्ण परिवर्तन आ चुके हैं और क्रान्ति की मंज़िल में भी गुणात्मक बदलाव आ चुका है, लेकिन क्रान्ति के झंझा केन्द्र आज भी यही देश हैं; लेनिन का यह कहना आज भी उतना ही सही है कि तीसरी दुनिया के देश साम्राज्यवाद की कमज़ोर कड़ियाँ हैं। साम्राज्यवादी वित्तीय संकट के झटकों का सामना करने में अमेरिकी और यूरोपीय देशों की अर्थव्यवस्था में ताक़त है, लेकिन तीसरी दुनिया के भारत, इण्डोनेशिया, फिलीप्पींस, तुर्की, और मेक्सिको, ब्राज़ील आदि में वह ताक़त नहीं है कि वे इतने बड़े आकार के वित्तीय संकटों को लगातार झेलते रहें और टिके रहें। ऐसे में, कहा जा सकता है, कि आने वाले बीस-तीस वर्ष ज़बर्दस्त उथल-पुथल से भरे होंगे जो पूरी दुनिया के इतिहास में कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन लाने वाले हैं।

• • •

"ग्रूच, तुम एक पुराने सेंधमार हो। सेंधमारी तुम्हारा पेशा है। मैं ऐसा कहने के बारे में नहीं सोचूँगा कि तुम्हारा पेशा अपने आप में पुराना पड़ गया है। यह कुछ ज़्यादा हो जाएगा। ग्रूच, केवल यह अपने रूप में समय से पीछे रह गया है। तुम एक कारीगर हो, एक साधारण कमेरे, और इसके लिए बस यही सबकुछ है। वह दर्जा घट रहा हैतुम इससे इंकार नहीं कर सकते। एक तालातोड़ की ब्याज वाले शेयर के सामने क्या बिसात? बैंक की सेंधमारी, एक बैंक को खड़ा करने के सामने क्या है? मेरे प्यारे ग्रूच, एक आदमी की हत्या एक आदमी को रोज़गार देने की तुलना में क्या है? एक मिसाल देखो। कुछ साल पहले हमने लकड़ी के रोड़ों से बनी एक पूरी सड़क ही चुरा ली; हमने खोद-खोद कर रोड़ों को बाहर निकाला, उसके एक ठेले पर चढ़ाया और उसे ले गये। हमने सोचा कि हमने कोई शानदार काम किया है। असल में, हमने सिर्फ एक फालतू काम किया था, और एक फालतू ख़तरा उठाया था। कुछ समय बाद ही मैंने सुना कि आपको खुद ठेकों का इंतज़ाम करने के लिए सिर्फ शहर का सभासद बनना होता है। फिर आपको फलाँ-फलाँ सड़क का ठेका मिल जाता है और कई सालों तक बिना कोई ख़तरा उठाए पक्के तौर पर मुनाफ़ा भी।"

'तीन टके का उपन्यास' (बेर्टोल्ट ब्रेष्ट) स

सर्वहारा अधिनायकत्व के बारे में

(चुने हुए उद्धरण)

• वी.आई. लेनिन

जो लोग **केवल** वर्ग संघर्ष को मानते हैं, वे अभी मार्क्सवादी नहीं है, वे सम्भवतः अभी बुर्जुआ चिन्तन और बुर्जुआ राजनीतिक के दायरे में ही चक्कर काट रहे हैं। मार्क्सवाद को वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त तक ही सीमित करने के मानी हैं मार्क्सवाद की काट-छाँट करना, उसको तोड़ना-मरोड़ना, उसे एक ऐसी चीज़ बना देना, जो बुर्जुआ वर्ग को मान्य हो। मार्क्सवादी केवल वही है, जो वर्ग संघर्ष की मान्यता को **सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व** की मान्यता तक **ले जाता है।** मार्क्सवादी और एक साधारण छोटे (और बड़े) बुर्जुआ के बीच सबसे गम्भीर अन्तर यही है। यही वह कसौटी है जिस पर मार्क्सवाद की **वास्तविक** समझ और मान्यता की परीक्षा की जानी चाहिए।

राज्य और क्रान्ति, (अगस्त-सितम्बर, 1917)

सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व एक अत्यन्त निःस्वार्थ और निर्मम युद्ध है, जो एक नया वर्ग अपने से **अधिक शक्तिशाली** शत्रु, बुर्जुआ वर्ग के खिलाफ चलाता है, जिसकी पराजय से (भले ही वह केवल एक देश में पराजित हुआ हो) उसका प्रतिरोध **दस गुना** बढ़ जाता है और जिसकी शक्ति न केवल अनतरराष्ट्रीय पूँजी की शक्ति में, बुर्जुआ वर्ग के अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धों की ताकत और मजबूती में, बल्कि **आदत की ताकत में, छोटे पैमाने के उत्पादन** की शक्ति में भी निहित है। कारण कि दुर्भाग्य से, छोटे पैमाने का उत्पादन अब भी दुनिया में बहुत, बहुत बचा हुआ है और यह छोटे पैमाने का उत्पादन लगातार हर दिन, हर घण्टे, अपनेआप और बड़े पैमाने पर पूँजीवाद और बुर्जुआ वर्ग को पैदा करता रहता है। इन सभी कारणों से, सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व अत्यन्त आवश्यक है, और एक लम्बा, कठोर, और निर्मम युद्ध चलाये बिना जीवन और मरण की लड़ाई लड़े बिना, एक ऐसी लड़ाई लड़े बिना, जिसमें धैर्य, अनुशासन, अदम्य साहस और इच्छा की एकता की आवश्यकता होती है, बुर्जुआ वर्ग पर विजय पाना असम्भव है।

" वामपन्थी" कम्युनिज्म, एक बचकाना मर्ज़, (अप्रैल-मई, 1920)

...पूँजीवाद से समाजवाद में हर संक्रमण के दौरान दो मुख्य कारणों से, या दो मुख्य रास्तों से अधिनायकत्व जरूरी होता है। पहला, पूँजीवाद को तब तक हटाया और मिटाया नहीं जा सकता जब तक उन शोषकों के प्रतिरोध का निर्ममतापूर्वक दमन न किया जाये, जिन्हें एकाएक उनकी सम्पत्ति से, संगठन और ज्ञान के उनके लाभों से वंचित नहीं किया जा सकता, और फलतः जो काफी लम्बे समय तक अपरिहार्यतः गरीबों के घृणित राज को उखाड़ फेंकने की कोशिश करते रहेंगे। दूसरे, यदि बाह्य युद्ध न भी तो भी, किसी भी महान क्रान्ति, खासकर समाजवादी क्रान्ति की कल्पना आन्तरिक युद्ध, यानी गृहयुद्ध के बिना नहीं की जा सकती, जो बाह्य युद्ध से भी ज़्यादा विनाशकारी होता है, और जिसमें ढुलमुलपन और एक पक्ष को छोड़कर दूसरे पक्ष में चले जाने के दसियों लाख मामले होते हैं, तथा अत्यधिक अनिश्चितता, सन्तुलन का अभाव और अराजकता अन्तर्निहित होते हैं। और बेशक, पुराने समाज के विघटन से निकले सभी तत्व, जो अपरिहार्यतः असंख्य होते हैं और मुख्यतः निम्न-बुर्जुआ से जुड़े होते हैं (क्योंकि हर युद्ध और हर संकट सबसे पहले निम्न बुर्जुआ को तबाह-बर्बाद करता है) ऐसी किसी व्यापक क्रान्ति के दौरान "मजे. लूटे" बिना नहीं रह सके। और विघटन के ये तत्व अपराध, गुण्डागर्दी, भ्रष्टाचार, मुनाफाखोरी और हर किस्म की बदमाशियों के बना "मज़ा" नहीं "लूट" सकते। और उन्हें दबाने में समय लगता है और इसके लिए **लोहे के हाथों की जरूरत होती है**।

दुनिया में एक भी ऐसी महान क्रान्ति नहीं हुई है जिसमें लोगों ने सहज प्रेरणा से इस बात को जान न लिया हो, और चोरों को फौरन गोली से उड़ाकर शानदार दृढ़ता का परिचय न दिया हो। पिछली क्रान्तियों का यह दुर्भाग्य था कि जनसाधारण का क्रान्तिकारी उत्साह, जो उन्हें तनाव की स्थिति में बनाये रखता था और उन्हें विघटन के तत्वों का निर्ममतापूर्वक दमन करने की शक्ति प्रदान करता था, ज्यादा दिनों तक टिका नहीं रहता था। जनसाधारण के क्रान्तिकारी उत्साह की इस अस्थिरता का सामाजिक, यानी वर्गीय कारण था सर्वहारा वर्ग की कमजोरी, क्योंकि केवल वही (यदि वह पर्याप्त संख्या में, वर्ग सचेत और अनुशासित हो) मेहनतकश तथा शोषित जनता की बहुसंख्या को (और सीधे-सरल तथा लोकप्रिय ढंग से कहें, तो गरीबों की बहुसंख्या को) अपनी ओर खींच सकता है तथा सत्ता को इतने समय तक कायम रख सकता है जो सभी शोषकों तथा विघटन के सभी तत्वों को पूरी तरह दबाने के लिए पर्याप्त हो।

सभी क्रान्तियों के इसी ऐतिहासिक अनुभव, इसी विश्व-ऐतिहासिक-आर्थिक एवं राजनीतिक सबक का समाहार करते

हुए मार्क्स ने अपना संक्षिप्त, तीक्ष्ण, और अभिव्यंजनापूर्ण सूत्र दिया : सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व।

सोवियत सरकार के तात्कालिक कार्यभार (मार्च-अप्रैल 1918)

शोषकों, जमींदारों और पूंजीपतियों का वर्ग सर्वहारा अधिनायकत्व के अन्तर्गत न तो लुप्त हुआ है और न तत्काल लुप्त हो सकता है। शोषकों को चकनाचूर तो कर दिया गया है, परन्तु उनका उन्मूलन नहीं हुआ है। उनके पास अन्तर्राष्ट्रीय आधार बचा हुआ है, यह है अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी, जिसकी वे एक शाखा हैं। उनके पास उत्पादन के कुछ साधनों का एक भाग बचा हुआ है, उनके पास धन बचा हुआ है, उनके पास विशाल मात्रा में सामाजिक संबंध हैं। ठीक उनकी पराजय के कारण उनके प्रतिरोध की स्फूर्ति सौगुनी, हजारगुनी बढ़ी है। राजकीय, सैनिक, आर्थिक प्रशासन की ''कला'' उनका पलड़ा बहुत ज्यादा भारी बनाती है, जिसकी वजह से उनका महत्व आबादी की आम संख्या में उनके हिस्से से अतुलनीय रूप से अधिक है। शोषितों के विजयी हरावल के विरुद्ध, याने सर्वहारा वर्ग के विरुद्ध शोषकों का, जिनका तख्ता उलटा जा चुका है, वर्ग संघर्ष अपरिमित रूप से अधिक कटु बन गया है। अन्यथा हो भी नहीं सकता, बशर्ते क्रांति की अवधारणा के स्थान पर (जैसा कि दूसरे इंटरनेशनल के सारे सूरमा करते हैं) सुधारवादी भ्रम न रख दिये जायें।

सर्वहारा अधिनायकत्व के युग में अर्थनीति और राजनीति, (अक्टूबर, 1919)

...सत्ता पर सर्वहारा का अधिकार होने **के बाद** भी वर्ग अभी बाक़ी हैं और **बरसों** सर्वत्र बाक़ी रहेंगे। हो सकता है कि इंगलैण्ड में, जहाँ किसान नहीं है (लेकिन फिर भी छोटी मिल्की तो हैं ही!), यह अवधि न्यूनतर हो। वर्गों का उन्मूलन करने का मतलब सिर्फ़ भूस्वामियों और पूँजीपतियों को निकालना ही नहीं है, यह तो हमने अपेक्षाकृत आसानी से कर लिया है, इसका मतलब **लघु पण्य-उत्पादकों का उन्मूलन** भी है और उन्हें **निकाल बाहर नहीं किया जा सकता,** उन्हें कुचला नहीं जा सकता, उनके साथ **मिल-जुलकर रहना होगा,** उन्हें सिर्फ़ बहुत दीर्घकालिक, बहुत मंथर और बहुत सावधानीपूर्ण संगठनात्मक कार्य द्वारा ही फिर से ढाला और पुनःशिक्षित किया जा सकता है (और यिका जाना चाहिये)। वे सर्वहारा को सभी ओर से निम्नबुर्जुआ परिवेश में घेरे हैं, उसे उससे सराबोर करते हैं, उसे भ्रष्ट करते हैं, सर्वहारा में निरंतर निम्नबुर्जुआ ढुलमुलयक़ीनी, फूट, व्यक्तिवादिता, बारी-बारी से हर्षोतिरेक से घोर निराशा के दौरों का आवर्तन लाते हैं। इसके लिए सर्वहारा की राजनीतिक पार्टी के भीतर कठोरतम केन्द्रीयता और अनुशासन की आवश्यकता है कि इसका मुक़ाबला किया जा सके, कि सर्वहारा की **संगठनात्मक** भूमिका (और यही उसकी **मुख्य** भूमिका है) को सही तरीके से, सफलतापूर्वक और विजय के साथ निबाहा जा सके। सर्वहारा अधिनायकत्व पुराने समाज की शक्तियों और परम्पराओं के विरुद्ध अनवरत रक्तमय और रक्तहीन, हिंसापूर्ण और शांतिमय, सैनिक और आर्थिक, शैक्षिक और प्रशासनिक संघर्ष है। लाखों और करोड़ों इन्सानों की आदत एक दुर्दम्य शक्ति है। संघर्ष में तपी एक फौलादी पार्टी के बग़ैर, ऐसी पार्टी के बग़ैर कि जिसे उस वर्ग के सभी ईमानदार लोगों का विश्वास प्राप्त हो, ऐसी पार्टी के बग़ैर कि जिसमें जनसाधारण की भावनाओं को समझने और उन पर प्रभाव डालने की क्षमता हो, इस संघर्ष को सफलतापूर्वक चलाना सम्भव नहीं है। करोड़ों छोटे मिल्कियों को "हराने" की बनिस्पत केंद्रीकृत बड़े बुर्जुआज़ी को हराना हज़ार गुना आसान है, लेकिन ये छोटे मिल्की अपने रोज़मर्रा के साधारण, अदृश्य, अननुभूत, हतोत्साहकारी कार्यकलाप से **वे ही** परिणाम पैदा करते हैं, जिनकी बुर्जुआज़ी को आवश्यकता है, जो बुर्जुआज़ी की **पुनःस्थापना** करते हैं। जो कोई भी सर्वहारा पार्टी के लौह अनुशासन को ज़रा भी कमज़ोर करता है (ख़ासकर उसके अधिनायकत्व के समय), वह वास्तव में सर्वहारा के विरुद्ध बुर्जुआज़ी की सहायता करता है।...

"वामपन्थी" कम्युनिज्म, एक बचकाना मर्ज़, (अप्रैल-मई, 1920)

हाँ, मज़दूर वर्ग को पुराने पूँजीवादी समाज से अलग करने वाली कोई चीन की दीवार नहीं है। और जब कोई क्रान्ति होती है, तो वह इस तरह नहीं होती जैसे कोई व्यक्ति मर जाता है, जब मृत व्यक्ति को सीधे उठा ले जाया जाता है। जब पुराना समाज मरता है, तो आप उसके मृत शरीर को ताबूत में बन्द करके कब्र में दफ्न नहीं कर सकते। वह हमारे बीच ही विघटित होता है मृत शरीर सड़ता है और हमारे बीच ज़हर फैलता है।

अकाल का मुकाबला करने पर रिपोर्ट मज़दूरों, किसानों और लाल सेना के प्रतिनिधियों तथा ट्रेड यूनियनों की मास्कों सोवियत की अखिल रूसी केन्द्रीय कार्यकारिणी के संयुक्त अधिवेशन में प्रस्तुत (4 जून, 1918)

इस प्रकार कम्युनिस्ट समाज की प्रथम अवस्था में (जिसे आम तौर से समाजवाद कहा जाता है) पूर्ण "बुर्जुआ अधिकार" का **नहीं**, बल्कि उसके केवल एक भाग का, तब तक हो चुकनेवाली आर्थिक क्रान्ति के अनुपात में ही, अर्थात उत्पादन के साधनों के सम्बन्ध में ही, उन्मूलन होता है। "बुर्जुआ अधिकार" उन्हें अलग-अलग व्यक्तियों की निजी सम्पत्ति मानता है। समाजवाद उन्हें **सब की** सम्पत्ति बना देता है। **उस हद तक** और केवल उसी हर तक"बुर्जुआ अधिकार" लुप्त होता है।

लेकिन जहाँ तक उसके दूसरे भाग का सम्बन्ध है, वह अब भी मौजूद रहता है, वह समाज के समदस्यों के बीच उत्पादित चीज़ों के वितरण और श्रम के विनियोजन में एक नियामक (निर्धारक शक्ति) की हैसियत में मौजूद रहता है। यह समाजवादी उसूल कि "जो काम नहीं करता, वह खायेगा भी नहीं" अमल में **आ चुका है;** दूसरा समाजवादी उसूल भी कि "श्रम की बराबर मात्रा के लिए उत्पादित चीजों की बराबर मात्रा", अमल में **आ चुका है।** लेकिन अभी यह कम्युनिज़्म नहीं होता और यह उस "बुर्जुआ अधिकार" का, जो असमान व्यक्तियों को मेहनत की असमान (वास्तव में

असमान) मात्रा के बदले में उत्पादित चीज़ों की समान मात्रा देता है, अभी ख़ात्मा नहीं करता।

राज्य और क्रान्ति, (अगस्त-सितम्बर, 1917)

मार्क्स न केवल मनुष्यों की अनिवार्य असमानता का ही अधिकतम अचूक ध्यान रखते हैं, बल्कि वह इस बात का भी ध्यान रखते हैं कि केवल उत्पादन के साधनों को सम्पूर्ण समाज की सम्पत्ति बना देने से ही (जिसे आम तौर से "समाजवाद" कहा जाता है) बँटवारे की बुराइयाँ और "बुर्जुआ अधिकार" की असमानता **दूर नहीं हो जातीं,** जो उस हद तक **निरन्तर हावी रहता है,** जिस हद तक उपजों का बँटवारा मेहनत की मात्रा के अनुसार" होता रहता है।

राज्य और क्रान्ति, (अगस्त-सितम्बर, 1917)

...निस्संदेह **उपभोग** की चीज़ों के वितरण के सम्बन्ध में बुर्जुआ अधिकार की पूर्वकल्पना अनिवार्य रूप से इस बात में निहित है कि **बुर्जुआ राज्य** अब भी मौजूद है, क्योंकि अधिकार के मानकों को **मनवाने** के उपकरण के बिना अधिकार कोई माने नहीं रखता।

इसलिए कम्युनिज़्म के अन्तर्गत न केवल बुर्जुआ अधिकार, बल्कि बुर्जुआ राज्य भी बुर्जुआ वर्ग के बिना कुछ समय तक बना रहता है!

राज्य और क्रान्ति, (अगस्त-सितम्बर, 1917)

कारोबार (टर्नओवर) की स्वतंत्रता का मतलब है व्यापार की स्वतंत्रता को मतलब है पूँजीवाद में वापसी। कारोबार की स्वतंत्रता और व्यापार की स्वतंत्रता का मतलब है व्यक्तियों यानी छोटे मालिकों के बीच माल विनिमय। हम सब जिन्होंने मार्क्सवाद का क ख ग भी सीखा है, यह जानते हैं कि यह कारोबार और व्यापार की स्वतंत्र अपरिहार्यतः माल उत्पादकों के पूँजी के मालिकों और उजरती मजदूरों के बीच विभाजन तक ले जाते हैं यानी पूँजीवादी उजरती गुलामी की बदहाली की ओर ले जाते हैं, जो आसमान से नहीं टपक पड़ती है, बल्कि पूरी दुनिया में माल-उत्पादन करने वाली कृषि से ही पैदा होती है। हम इस बात को अच्छी तरह जानते हैं, सिद्धान्त रूप में, और रूस में जिसने भी छोटे किसान के जीवन और आर्थिक दशाओं को देखा है वह इस पर ध्यान दिये बिना नहीं रह सकता।

वी.आई.लेनिन, रिपोर्ट ऑन दि सबस्टीट्यूशन ऑफ ए टैक्स इन काइण्ड फॉर दि सरप्लस ग्रेन एप्रोप्रिएशन सिस्टम, रूसी कम्युनिस्ट पार्टी (बोल्शेविक) की दसवीं कांग्रेस में प्रस्तुत (15 मार्च, 1925)

...बुर्जुआ वर्ग माल उत्पादन से पैदा होता है और माल उत्पादन की इन दशाओं में जिस किसान के पास सैकड़ों पूड अनाज है जिसकी उसे अपने परिवार को खिलाने के लिए जरूरत नहीं है और वह उसे भूखे मजदूरों की मदद के लिए मजदूरों के राज को उधार नहीं होता वह क्या है? क्या वह एक बुर्जुआ नहीं है? क्या बुर्जुआ इसी ढंग से नहीं पैदा होता है?

वी.आई.लेनिन, अखिल रूसी केन्द्रीय समिति और जन कमिसार परिषद की रिपोर्ट पर समापन भाषण, सोवियत की सातवीं अखिल रूसी कांग्रेस में प्रस्तुत (दिसम्बर, 1919)

हाँ, भूस्वामियों और पूँजीपतियों को उखाड़ फेंककर हमने रास्ता साफ कर लिया लेकिन हमने समाजवाद के ढाँचे निर्माण नहीं किया। एक बुर्जुआ पीढ़ी से साफ की गयी ज़मीन पर अपरिहार्यतः नयी पीढ़ियाँ इतिहास में हमेशा पैदा होती रही हैं, जब तक कि उन्हें पैदा करने वाली जमीन रहेगी, और यह जमीन वास्तव में अनगिनत संख्याओं में बुर्जुआओं को पैदा करती है। जहाँ तक उन लोगों का सवाल है जो पूँजीपतियों पर जीत को छोटे मालिकों की नजर से देखते हैं "वे लूटते थे, अब हमें मौका, मिलना चाहिए" बिलाशक, उनमें से हरेक बुर्जुआओं की एक नयी पीढ़ी का स्रोत है।

सोवियत सरकार के तात्कालिक कर्मभारों पर रिपोर्ट, अखिल रूसी के कार्यकारणी की बैठक वे प्रस्तुत (29 अप्रैल, 1918)

...कामरेड राइकोव, जो आर्थिक दायरे के तथ्यों को बहुत अच्छी तरह जानते हैं, ने हमारे देश में मौजूद नये बुर्जुआ के बारे में हमें बताया। यह सच है। यह सिर्फ हमारी सोवियत सरकार के कर्मचारियों के बीच से ही नहीं पैदा हो रहा है बहुत कम महत्वपूर्ण स्तर तक यह उनके बीच से भी पैदा हो सकता है यह किसानों और दस्तकारों के बीच से पैदा हो रहा है जो पूँजीवादी बैंकों के जुवे से मुक्त हो गये है और जो अब रेले परिवहन से कट गये है। यह एक तथ्य है। आप इस तथ्य की अनदेखी कैसे कर सकते हैं। आप महज अपने भ्रमों की पुष्टि कर रहे हैं, या खराब ढंग से रचाये-पचाये गये किताबी ज्ञान को यथार्थ में घुसाने की कोशिश कर रहे हैं जो कि कहीं अधिक जटिल है। यह दिखाता है कि हर पूँजीवादी समाज की तरह, रूस में भी पूँजीवादी माल उत्पादन जीवित है, सक्रिय है, विकसित हो रहा है और एक नये बुर्जुआ को पैदा कर रहा है।

पार्टी कार्यक्रम पर रिपोर्ट पर समाम्पन भाषण। रूसी कम्युनिस्ट पार्टी (बोल्शेविक) की सातवीं कांग्रेस में प्रस्तुत (19 मार्च 1919)

सोवियत इंजीनियरों में, सोवियत अध्यापकों में और सोवियत कारख़ानों में विशेष सुविधाएँ प्राप्त, यानी सबसे अधिक कार्य-निपुण और सबसे अच्छी स्थिति में बैठे **मजदूरों** में हम बिल्कुल उन **सभी** अवगुणों को लगातार पैदा होते देखते हैं, जो बुर्जुआ संसदवाद की विशेषता हैं, और इस बुराई पर हम केवल सर्वहारा संगठन तथा अनुशासन के अथक, अनवरत, दृढ़ और दीर्घ संघर्ष के जरिए धीमी गति से क़ाबू पा रहे हैं।

"वामपन्थी" कम्युनिज्म, एक बचकाना मर्ज़, (अप्रैल-मई, 1920)

(शेष अगले अंक में)

दर्शन के प्रश्नों पर वार्ता

माओ त्से-तुङ

18 अगस्त, 1964

यह चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के अपने कुछ वरिष्ठ कामरेडों के साथ माओ त्से-तुङ की एक अनौपचारिक वातचीत का पाठ है जिसमें उन्होंने चीन में समाजवादी निर्माण की समस्याओं और समाजवादी समाज में जारी वर्ग संघर्ष से जोड़ते हुए कुछ दार्शनिक प्रश्नों पर, ख़ासकर द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के बारे में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विचार व्यक्त किये हैं। बातचीत का ढंग अनौपचारिक है और वार्ता में अनेक विषयों को छुआ गया है लेकिन यहाँ की गयी बातें बेहद गम्भीर और विचारोत्तेजक हैं। सं.

जब वर्ग संघर्ष हो तभी दर्शन भी सम्भव हो सकता है। व्यवहार से अलग ज्ञानमीमांसा की चर्चा करना समय की बर्बादी है। दर्शन का अध्ययन करने वाले कामरेडों को देहात में जाना चाहिए। उन्हें इन सर्दियों में या अगले वसन्त में वहाँ जाकर वर्ग संघर्ष में हिस्सा लेना चाहिए। जिनका स्वास्थ्य अच्छा नहीं है उन्हें भी जाना चाहिए। वहाँ जाने से लोग मर नहीं जायेंगे। बस इतना होगा कि उन्हें सर्दी लग जायेगी, और अगर वे कुछ अतिरिक्त कपड़े पहन लेंगे तो कोई दिक्कत नहीं होगी।

फिलहाल विश्वविद्यालयों में वे जिस तरह से इसका अध्ययन करते हैं किताब से किताब तक, एक अवधारणा से दूसरी अवधारणा तक जाते हुए, वह किसी काम का नहीं है। दर्शन किताबों से कैसे आ सकता है? मार्क्सवाद के तीन बुनियादी संघटक हैं वैज्ञानिक समाजवाद, दर्शन और राजनीतिक अर्थशास्त्र।[1] इसका आधार है समाज विज्ञान, वर्ग संघर्ष। सर्वहारा वर्ग और बुर्जुआ वर्ग के बीच संघर्ष है। मार्क्स और दूसरे लोगों ने इसे देखा था। यूटोपियाई समाजवादी हमेशा बुर्जुआ वर्ग को उदार होने के लिए राज़ी करने की कोशिश करते है। यह नहीं चलेगा, सर्वहारा के वर्ग संघर्ष पर भरोसा करना ज़रूरी है। उस समय, कई हड़तालें हो चुकी थीं। इंग्लैण्ड की संसदीय जाँच ने पाया कि बारह घण्टे काम का दिन पूँजीपतियों के हित के लिए आठ घण्टे काम के दिन के मुकाबले कम अनुकूल है। इसी दृष्टिकोण से आरम्भ करके मार्क्सवाद सामने आया। बुनियाद तो वर्ग संघर्ष है। दर्शनशास्त्र का अध्ययन इसके बाद ही हो सकता है। किसका दर्शन? बुर्जुआ वर्ग का दर्शन, या सर्वहारा वर्ग का दर्शन? सर्वहारा वर्ग का दर्शन मार्क्सवादी दर्शन है। सर्वहारा वर्ग का अर्थशास्त्र भी है, जिसने क्लासिकीय अर्थशास्त्र को बदल डाला है। जो लोग दर्शनशास्त्र से जुड़े हैं, वे मानते हैं कि दर्शन का स्थान पहले है। उत्पीड़क उत्पीड़ितों का उत्पीड़न करते हैं, जबकि उत्पीड़ितों को दर्शन की तलाश शुरू करने से पहले उत्पीड़न के विरुद्ध लड़ने और उससे निकलने का रास्ता तलाश करना पड़ता है। जब लोगों ने इसे अपना प्रस्थान बिन्दु बनाया तभी मार्क्सवाद-लेनिनवाद सामने आया और तभी उन्हें दर्शन का पता चला। हम सब इससे होकर गुज़रे हैं। दूसरे लोग मुझे मारना चाहते थे; च्याङ काई-शेक मुझे मारना चाहता था। इस तरह हम वर्ग संघर्ष में शामिल हुए, हमने दार्शनिक ढंग से सोचना शुरू किया।

विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों को इन सर्दियों में (देहात मेंअनु.) जाना शुरू कर देना चाहिएमैं समाज विज्ञानों की बात कर रहा हूँ। प्राकृतिक विज्ञान के विद्यार्थियों को अभी नहीं भेजना चाहिए, हालाँकि हम एक-दो बार उन्हें भेज सकते हैं। समाज विज्ञानोंइतिहास, राजनीतिक अर्थशास्त्र, साहित्य, कानूनका अध्ययन करने वाले सभी लोगों को, हरेक को जाना चाहिए। प्रोफेसरों, असिस्टेण्ट प्रोफेसरों, प्रशासनिक कर्मचारियों और विद्यार्थियों सभी को, पाँच महीने की सीमित अवधि के लिए जाना चाहिए। अगर वे पाँच महीने के लिए कारखानों में जायेंगे, तो वे कुछ बोधात्मक ज्ञान हासिल करेंगे। घोड़े, गायें, भेड़ें, मुर्गियाँ कुत्ते, सुअर, धान, ज्वार, सेम, गेहूँ, बाजरे की किस्में, इन सब चीजों को वे देख सकेंगे। यदि वे सर्दियों में जायेंगे, तो फसल नहीं देख पायेंगे, पर कम से कम वे जमीन और लोगों को देख सकेंगे। वर्ग संघर्ष का अनुभव हासिल करनामैं इसे ही विश्वविद्यालय कहता हूँ। लोग बहस करते हैं कि कौन-सा विश्वविद्यालय बेहतर हॅ, पीकिङ विश्वविद्यालय या 'जन विश्वविद्यालय'।[2] जहाँ तक मेरी बात है, मैं तो खुले मैदानों के विश्वविद्यालय का स्नातक हूँ, मैंने वहीं थोड़ा-बहुत सीखा है। अतीत में मैंने कनफ़्यूशियस का अध्ययन किया और चार पुस्तकों तथा पाँच शास्त्रों पर छह वर्ष खर्च किये।[3] मैंने उन्हें रट लिया, पर मैंने उन्हें समझा नहीं। उस समय, मुझे कनफ़्यूशियस में गहरा विश्वास था, और मैंने लेख भी लिखे

(उसके विचारों को स्पष्ट करते हुए) बाद में मैं सात वर्ष तक एक बुर्जुआ स्कूल में गया। सात धन छह बराबर तेरह वर्ष होते हैं। मैंने आम तौर पर पढ़ाई जानेवाली सारी बुर्जुआ चीजों का अध्ययन कियाप्राकृतिक विज्ञान और सामाजिक विज्ञानों को। थोड़ा शिक्षाशास्त्र भी सिखाते थे। इसमें पाँच वर्ष नार्मल स्कूल में दो वर्ष मिडिल स्कूल में और साथ ही पुस्तकालय में बिताया गया मेरा समय शामिल है।[4] उस समय मैं काण्ट के द्वैतवाद, खासकर उसके प्रत्ययवाद में विश्वास करता था। मूलतः मैं एक सामन्तवादी और बुर्जुआ लोकतन्त्र का समर्थक था। समाज ने मुझे क्रान्ति में भाग लेने की ओर धकेला। मैंने प्राथमिक स्कूल के शिक्षक और एक चार-वर्षीय स्कूल के प्रिंसिपल के रूप में कुछ वर्ष बिताये। मैंने एक छह-वर्षीय स्कूल में इतिहास और चीनी भाषा भी पढ़ाई। मैंने थोड़े समय तक एक मिडिल स्कूल में भी पढ़ाया, पर मैंने कुछ भी समझता नहीं था। जब मैं कम्युनिस्ट पार्टी में शामिल हुआ, तो मैं जानता था कि हमें क्रान्ति करनी है, पर किसके खिलाफ? और हम ऐसा करेंगे कैसे? बेशक हमें साम्राज्यवाद ओर पुराने समाज के खिलाफ क्रान्ति करनी थी। मुझे ठीक से यही नहीं पता था कि साम्राज्यवाद किस किस्म की चीज है, और इस बात की तो और भी कम समझ थी कि हम इसके खिलाफ क्रान्ति कैसे करेंगे। मैने तेरह वर्षों में जो कुछ भी सीखा था, उसमें से कुछ भी क्रान्ति करने के लिए किसी काम का नहीं था। मैंने एकमात्र औज़ारभाषाका इस्तेमाल किया।

लेख लिखना एक औज़ार है। जहाँ तक मेरे अध्ययनों का सवाल है, मैंने उसका बिल्कुल भी प्रयोग नहीं किया। कनफ़्यूशियस कहता था : सदाशयता मानवजाति का अभिलाक्षणिक गुण है। सदाशयी व्यक्ति दूसरों से प्रेम करता है।[5] वह किससे प्रेम करता था? सभी मनुष्यों से? ऐसा कतई नहीं था। क्या वह शोषकों से प्रेम करता था? बिल्कुल ऐसा भी नहीं था। वह शोषकों के सिर्फ एक हिस्से से प्रेम करता था। वरना, कनफ़्यूशियस कोई ऊँचा अधिकारी क्यों न बन सका? लोग उसे नहीं चाहते थे। वह उन्हें प्रेम करता था और चाहता था कि वे एकजुट हो जायें। लेकिन जब भुखमरी की, और (इस उक्ति) 'श्रेष्ठ व्यक्ति ग़रीबी को झेल सकता है' की बात आयी, तो वह मरते-मरते बचा। कुआङ के लोग उसे मार डालना चाहते थे।[6] ऐसे लोग भी थे जो चिन की पश्चिम की यात्रा पर साथ न जाने के लिए उसकी आलोचना करते थे। वास्तव में, 'गीति-काव्यों की पुस्तक' (*बुक ऑफ ओड्स*) में शामिल कविता 'सातवें माह में अग्नि तारा भूमध्य रेखा को पार करता है' में शेन्सी की घटनाओं का उल्ख है। 'पीला पक्षी' कविता में उस घटना की चर्चा है जब चिन के युवराज मू के तीन उच्च अधिकारियों को मारकर उसी के साथ दफना दिया गया था।[7] सू-मा चिरोन[8] की 'गीति-काव्यों की पुस्तक' के बारे में बहुत अच्छी राय थी। वह कहता था कि इसकी 300 कविताएँ प्राचीन काल के ऋषि-मुनियों ने जागृत अवस्था में लिखी थीं। 'गीति-काव्यों की पुस्तक' की कविताओं का एक बड़ा हिस्सा राज्यों की शैली में लिखा गया है, वे आम लोगों के लोकगीत है, ऋषि-मुनि और कोई नहीं बल्कि आम लोग ही है। 'जागृत अवस्था में लिखी थीं' का मतलब यह है कि जब किसी व्यक्ति का हृदय क्रोध से भर उठता था तब वह कविता लिखता था!

तुम न बोते हो न काटते हो;
फिर तुम्हारे तीन सौ कोठार धान से कैसे भरे रहते है?
तुम शिकार में कभी दौड़ते नहीं हो;
फिर तुम्हारे अहाते में तीतर लटकते कैसे दिखते हैं?
ओ श्रेष्ठ मनुष्य!
वह अपनी अकर्मण्यता की रोटी नहीं खाता![9]

'काम के न काज के, दुश्मन अनाज के' कहावत यहीं से पैदा हुई। यह कविता देवताओं को दोषी ठहराती है और शासकों का विरोध करती है। कनफ़्यूशियस थोड़ा जनवादी भी था। उसने ('गीति-काव्यों की पुस्तक' में) स्त्री-पुरुष के प्रेम के बारे में कविताओं को भी शामिल किया है। अपनी टिप्पणियों में, चू सि ने उन्हें गुप्त प्रेम सम्बन्धों के रूप में वर्णित किया है।[10] वास्तव में, कुछ ऐसे हैं और और कुछ नहीं हैं, जो ऐसे नहीं हैं। उनमें राजकुमार और प्रजा के सम्बन्धों के बारे में लिखने के लिए पुरुष और स्त्री के बिम्बों का प्रयोग किया गया है। पाँच राजवंशों और दस काउण्टियों के काल में शू (आज का शेच्वान) में 'चिन की पत्नी सर्दियों का रोना रोती है' शीर्षक ऐवेई चुआङ की एक कविता थी।[11] उसने अपनी युवावस्था में इसे लिखा था और यह अपने राजकुमार के लिए उसकी विरह वेदना के बारे में है।

देहात में जाने के मामले पर लौटते है। लोगों को इन सर्दियों और वसन्त से शुरू करके, समूहों में और बारी-बारी से, वर्ग संघर्ष में भाग लेने के लिए जाना चाहिए। सिर्फ इसी ढंग से वे कुछ सीख सकते है, क्रान्ति के बारे में सीख सकते है। आप बुद्धिजीवी लोग सारा दिन अपने सरकारी दफ्तरों में बैठते हैं, अच्छा खाते हैं, अच्छा पहनते हैं, पैदल तक नहीं चलते हैं। इसीलिए आप बीमार पड़ते हैं। कपड़े, भोजन, मकान और व्यायाम की कमी बीमारी पैदा करने वाले चार बड़े कारण हैं। अगर अच्छी जीवन स्थितियों का भोग करने की हालत में तब्दीली लाकर, आप कुछ बुरी स्थितियों में जाते हैं, अगर आप वर्ग संघर्ष में हिस्सा लेने के लिए जाते हैं, अगर आप 'चार सफाई अभियानों' और 'पाँच विरोध अभियानों'[12] के बीच जाते हैं और कठोर बनने के एक दौर से गुजरते हैं, तो आप बुद्धिजीवी लोग एक नये रूप में नजर आयेंगे।

अगर आप वर्ग संघर्ष में नहीं लगे हैं, तो आप भला किस दर्शन को लेकर चल रहे हैं?

क्यों न वहाँ जाकर इसे आज़मायें? अगर आपकी बीमारी ज्यादा गम्भीर हो जाये तो आप वापस आ जाइयेगाआपको मरने की हालत में पहुँच जाने को निर्धारक रेखा बनाना चाहिए। जब आप इतने बीमार हो जाये कि मरने वाले हों तो आपको वापस आ जाना चाहिए। जैसे ही आप वहाँ जायेंगे, आपमें कुछ जोश आ जायेगा। (काङ शेङ बीच में बोलते हैं : *'दर्शन और समाज विज्ञान विभागों के शोध संस्थानों और विज्ञान अकादमी को भी जाना चाहिए। फिलहाल, वे प्राचीन वस्तुओं के अध्ययन हेतु संस्थानों में तब्दील हो जाने, धूप-लोहबान के चढ़ावों*

से पोषण पाने वाले परीलोक में तब्दील हो जाने के कगार पर हैं। दर्शनशास्त्र संस्थान का कोई भी व्यक्ति कुआङ-मिङ जि-पाओ नहीं पढ़ता।') मैं सिर्फ *कुआङ-मिङ जि-पाओ* और *वेन-हुई पाओ*[13] ही पढ़ता हूँ, मैं *पीपुल्स डेली* नहीं पढ़ता, क्योंकि *पीपुल्स* डेली में सैद्धान्तिक लेख नहीं छपते; जब हम कोई प्रस्ताव पारित करते है, तब वे उसी प्रकाशित करते है। *लिबरेशन आर्मी डेली* जीवन्त है, यह पठनीय है। (कामरेड काङ शेङः *'साहित्य संस्थान चाउ कुचेङ*[14] *पर कोई ध्यान नहीं देता, और अर्थशास्त्र संस्थान सुन येह-फाङ*[15] *और लिबरमैनिज़्म की ओर उसके झुकाव, पूँजीवाद की ओर उसके झुकाव पर ध्यान नहीं देता।')*

उन्हें पूँजीवाद की ओर जाने दीजिये। समाज बहुत जटिल है। अगर हर कोई सिर्फ समाजवाद की ओर जाये, और पूँजीवाद की ओर न जाये, तो क्या यह ज्यादा ही सरल नहीं होगा? तब क्या हमारे यहाँ विरोधों की एकता खत्म नहीं हो जायेगी, और सिर्फ एकांगिकता ही नहीं रह जायेगी? उन्हें ऐसा करने दीजिये। उन्हें हम पर पागलपनभरे हमले करने दीजिये, सड़कों पर प्रदर्शन करने दीजिये, हथियार उठाकर बगावत करने दीजियेमैं इन सब चीजों का समर्थन करता हूँ। समाज बहुत जटिल है, एक भी ऐसा कम्यून, एक भी *सिएन*, केन्द्रीय कमेटी का एक भी ऐसा विभाग नहीं है, जहाँ हम एक को दो में नहीं बाँट सकते। जरा देखिये क्या ग्रामीण कार्य विभाग को भंग नहीं कर दिया गया है?[16] यह पूरी तरह व्यक्तिगत गृहणियों के आधार पर लेखा-जोखा करने और 'चार महान स्वतंत्रताओंधन उधार देने, व्यापार करने, श्रम भाड़े पर लेने और जमीन की खरीद-फरोख्त करने की स्वतंत्रताका प्रचार करने में जुटा हुआ था। अतीत में, उन्होंने (इस आशय की) एक घोषणा जारी की थी। तेङ त्जू-हुई का मुझसे विवाद हुआ था। केन्द्रीय कमेटी की एक बैठक में उन्होंने चार महान स्वतंत्रताओं को लागू करने का विचार प्रस्तुत किया था[17]

नव जनवाद को सुदृढ़ करना, और इसे निरन्तर सुदृढ़ करते जाना, पूँजीवाद पर अमल करना है।[18] नव जनवाद सर्वहारा के नेतृत्व में एक बुर्जुआ-जनवादी क्रान्ति है। यह सिर्फ भूस्वामियों और दलाल पूँजीपतियों को छूती है, राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग को तो यह हाथ भी नहीं लगाती। जमीन का बँटवारा करना और उसे किसानों को दे देना सामन्ती भूस्वामियों की सम्पत्ति को किसानों की व्यक्तिगत सम्पत्ति में तब्दील करना है, और यह बुर्जुआ क्रान्ति के दायरे में ही आता है। जमीन का बँटवारा कोई बड़ी बात नहीं हैमैकआर्थर ने जापान में ऐसा किया । नेपोलियन ने भी जमीन का बँटवारा किया था। भूमि सुधारों से पूँजीवाद का खात्मा नहीं हो सकता। न ही इससे समाजवाद आ सकता है।

अभी हम जिस अवस्था में हैं उसमें एक तिहाई सत्ता दुश्मन या दुश्मन के हमदर्दों के हाथों में है। हम लोग पन्द्रह वर्षों से लगे हुए हैं औ अब दो-तिहाई शासन-सूत्र हमारे नियंत्रण में हैं। आज की स्थिति मे, आप एक (पार्टी) ब्रांच सेक्रेटरी को सिगरेट के चन्द पैकेटों से ख़रीद सकते हैं, अपनी बेटी का उससे ब्याह कर देने पर तो खैर कहना ही क्या। कुछ ऐसे इलाके हैं जहाँ भूमि सुधार शान्तिपूर्ण ढंग से पूरा किया गया, और भूमि सुधार टोलियाँ बहत कमजोर थीं; अब आप देख सकते हैं कि वहाँ ढेरों समस्याएँ उठ खड़ी हुई हैं।

मुझे दर्शन के बारे में सामग्रियाँ मिल गयी हैं। (*यहाँ अन्तरविरोधों की समस्या पर सामग्रियों का ज़िक्र हैस्टेनोग्राफ़र की टिप्पणी।*) मैंने रूपरेखा पर एक नजर डाली है। (*यहाँ 'दो को एक में मिलाओ' की आलोचना करते हुए एक लेख की रूपरेखा का जिक्र हैस्टेनोग्राफर की टिप्पणी।*)[19] मैं शेष को नहीं पढ़ पाया हूँ। मैंने विश्लेषण और संश्लेषण के बारे में सामग्रियों को भी देखा है। विपरीत तत्वों की एकता के नियम, बुर्जुआ वर्ग इसके बारे में क्या कहता है, मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन और स्तालिन इसके बारे में क्या कहते है, संशोधनवादी इसके बारे में क्या कहते हैं, उन पर इस तरह की सामग्री इकट्ठा करना अच्छी बात है। जहाँ तक बुर्जुआ वर्ग की बात है, याङ सिएन-चेन इसकी बात करता है, और पहले हीगेल इसकी बात करते थे। ऐसे लोग पुराने जमाने में होते थे। अब तो वे और भी बुरे हैं। बोग्दोनोव और लुनाचार्स्की भी थे, जो देववाद (Deism) की बात करते थे। मैंने बोग्दानोव का अर्थशास्त्र पढ़ा है कि आदिम संचय वाले हिस्से को उन्होंने ठीक माना था। (काङ शेङ : *'बोग्दानोव के आर्थिक सिद्धान्त शायद आधुनिक संशोधनवाद के आर्थिक सिद्धान्तों से कुछ ज़्यादा प्रबुद्ध थे। काउत्स्की के आर्थिक सिद्धान्त ख्रुश्चेव के आर्थिक सिद्धान्तों के आर्थिक सिद्धान्त से कुछ ज़्यादा प्रबुद्ध थे, और युगोस्लाविया भी सोवियत संघ से कुछ ज्यादा प्रबुद्ध हैं आखिरकार, जिलास ने स्तालिन के बारे में कुछ अच्छी बातें कहीं थी, उसने कहा था कि चीनी समस्याओं पर स्तालिन ने आत्मालोचना की थी।')*

स्तालिन ने महसूस किया था कि चीनी समस्याओं के सम्बन्ध में उनसे गलतियाँ हुईं, और वे कोई छोटी गलतियाँ नहीं थीं। हम करोड़ों लोगों की आबादी वाला विशाल देश हैं, और उन्होंने हमारी क्रान्ति का, और सत्ता पर हमारे कब्जा करने का विरोध किया। हमने पूरे देश में सत्ता पर कब्जा करने के लिए बरसों तक तैयारी की, समूचा जापान-विरोधी युद्ध एक तैयारी थी। अगर आप उस दौर के केन्द्रीय कमेटी के दस्तावेजों को देखें, 'नव जनवाद के बारे में' सहित, तो यह बात एकदम साफ हो जायेगी। कहने का मतलब कि आप बुर्जुआ वर्ग का अधिनायक्तव कायम नहीं कर सकते, आप सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में नव जनवाद ही कायम कर सकते हैं, आप सर्वहारा के नेतृत्व में लोक जनवादी अधिनाकत्व ही कायम कर सकते है। हमारे देश में, अस्सी वर्ष तक, बुर्जुआ वर्ग के नेतृत्व में की गयी सभी जनवादी क्रान्तियाँ असफल रहीं। हमारे नेतृत्व में जनवादी क्रान्ति निश्चित ही विजयी होगी। एकमात्र रास्ता यही है, और कोई रास्ता नहीं है। यह पहला कदम है। दूसरा कदम समाजवाद के निर्माण का होगा। इस तरह, 'नव जनवाद के बारे में' एक सम्पूर्ण कार्यक्रम है। इसमें राजनीतिक, अर्थशास्त्र और संस्कृति की भी चर्चा की गयी है। सिर्फ सैन्य मामलों की इसमें चर्चा नहीं की गयी। (काङ शेङ : *'नव जनवाद के बारे में विश्व कम्युनिस्ट आन्दोलन के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। मैंने स्पेनी कामरेडों से पूछा, और उन्होंने कहा कि उनके लिए समस्या नव जनवाद की*

स्थापना नहीं, बल्कि बुर्जुआ जनवाद की स्थापना करना था। उन्होंने अपने देश में तीन बिन्दुओंसेना, देहात, राजनीतिक सत्तापर ध्यान नहीं दिया। वे पूरी तरह सोवियत विदेश नीति के मातहत हो गये, और कुछ भी हासिल नहीं कर पाये।')

ये चेन तू-सिड की नीतियाँ हैं! (कामरेड काङ शेङ : *'वे कहते हैं कि कम्युनिस्ट पार्टी ने सेना संगठित की और, फिर उसे दूसरों को सौंप दिया।')* ये बेकार की बात है।

(कामरेड काङ शेङ : *'वे राजनीतिक सत्ता भी नहीं चाहते थे, न ही उन्होंने किसानों को गोलबन्द किया। उस समय पर, सोवियत संघ ने उसे कहा कि यदि वे सर्वहारा का नेतृत्व थोपेंगे, तो इंग्लैण्ड और फ्रांस इसका विरोध करेंगे, और यह सोवियत संघ के हित में नहीं होगा।')*

क्यूबा के बारे में क्या खयाल है? क्यूबा में उन्होंने राजनीतिक सत्ता और सेना गठित करने पर ही ध्यान दिया, और किसानों को भी गोलबन्द किया, जैसा (हमने) अतीत में किया था; इसीलिए वे कामयाब हुए।

(कामरेड काङ शेङ *'साथ ही, जब वे (स्पेनी) लड़े, तो उन्होंने सामान्य ढंग से युद्ध किया, बुर्जुआ वर्ग के तरीके से, वे आखिर तक मैड्रिड की रक्षा करते रहे।[20] हर चीज़ में, उन्होंने खुद को सोवियत विदेश नीति के मातहत कर लिया था।')*

तीसरे इंण्टरनेशनल को भंग किये जाने के पहले भी, हमने तीसरे इंण्टरनेशनल के आदेशों को नहीं माना। तसुन्यी सम्मेलन में हमने आदेश नहीं माने, और उसके बाद दस वर्ष के अरसे तक, शुद्धीकरण अभियान सहत सातवीं कांग्रेस तक, जब अन्ततः हमने एक प्रस्ताव पारित किया ('हमारी पार्टी के इतिहास के कुछ प्रश्नों के बारे में प्रस्ताव')[21] और वामवाद (की ग़लतियों) को ठीक कर लिया, हमने उनके आदेशों का बिल्कुल पालन नहीं किया। वे कठमुल्लावादी चीन की विशेषताओं का अध्ययन करने में पूरी तरह असफल रहे; जब वे देहात में गये, उसके दस वर्ष बाद भी, वे देहात में भूमि सम्पत्ति और वर्ग सम्बन्धों को समझने में पूरी तरह असफल रहे। आप महज़ देहात में जाने से देहात को नहीं समझ सकते, आपको देहात के सभी वर्गों और तबकों के बीच के सम्बन्धों का अध्ययन करना चाहिए। मैंने इन समस्याओं पर दस वर्ष से अधिक खर्च किये तब जाकर आखिरकार वे मेरे सामने स्पष्ट हुईं। आपको हर क़िस्म के लोगों से सम्पर्क करना पड़ेगा, चायखानों से लेकर जुआघरों तक, और उनकी जाँच-पड़ताल करनी होगी। 1925 में, मैं किसान आन्दोलन प्रशिक्षण संस्थान[22] में सक्रिय था, और ग्रामीण क्षेत्रों में सर्वेक्षण करता था। अपने पैतृक गाँव में, मैं ग़रीब किसानों की जाँच पड़ताल करने के लिए उनके मिलता था। उनकी हालत दयनीय थी, उनके पास खाने को कुछ नहीं था। एक किसान था जिसके साथ मैंने गोटियों का खेल खेला (स्वर्ग, धरती, इन्सान, मेलजोल, मेई चिएन, चाङ साङ और बेंच के साथ खेला जाने वाला) और उसके बाद उसे अपने साथ खाना खाने के लिए आमंत्रित किया। खाने के पहले, बाद में और खाना खाते हुए, मैंने उससे बातें की और मेरी समझ में आया कि देहात में वर्ग संघर्ष इतना तीखा क्यों है। वह मुझे बात करने को इसलिए तैयार था क्योंकि : सबसे पहले तो मैंने उससे इन्सान के तौर पर बरताव किया; और तीसरे, वह थोड़े पैसे बनाने में सफल रहा था। मैं जानबूझकर हार रहा था; मैं एक या दो डालर हार गया, और नतीजतन वह काफी सन्तुष्ट था। एक दोस्त है जो अब भी दो बार मुझसे मिलने आया! मुक्ति के बाद। एक बार, उन दिनों में, वह काफी बुरी हालत में था, और वह एक डालर उधार लेने के लिए मुझे ढूँढ़ते हुए आया। मैंने उसे तीन डालर दिये, ऐसी मदद के तौर पर जिसे लौटाना नहीं था। उन दिनों में, ऐसी न लौटाने वाली मदद मिलना मुश्किल होता था। मेरे पिता का सोचना था कि अगर कोई आदमी अपना ख्याल नहीं रखता, उसे लोक-परलोक दोनों जगह सजा मिलेगी। मेरी माँ उनका विरोध करती थीं। जब मेरे पिता की मृत्यु हुई, तो बहुत थोड़े-से लोग शवयात्रा में शामिल हुए। जब मेरी माँ की मृत्यु हुई तो बहुत से लोग उनकी शवयात्रा में गये। एक बार को लाओ हुई ने हमारे घर को लूट लिया। मैंने कहा कि उन्होंने ठीक ही किया, क्योंकि लोगों के पास कुछ भी नहीं है। मेरी माँ भी इस बात को स्वीकार नहीं कर सकी।

एक बार चाङशा में चावल के लिए दंगे भड़क उठे जिनमें प्रान्तीय गवर्नर की पिटाई हो गयी। सियाङ-सियाङ से कुछ फेरी वाले अपनी सेम बेचकर घर लौट रहे थे। मैंने उन्हें रोककर हालात के बारे में पूदा। देहात में लाल और हरे गिरोह भी सभाएँ करते थे और बड़े परिवारों को तबाह कर देते थे। इसकी ख़बरें शंघाई के अख़बारों में छपती थीं, और गड़बड़ियाँ तभी दबायी जा सकीं जब चाङशा से सैनिक भेजे गये। उनमें अनुशासन नहीं था, वे मध्यम किसानों का चावल छीन लेते थे, और इसलिए वे अलग-थलग पड़ गये। उनका एक नेता इधर-उधर भागता रहा, और आखिर पहाड़ियों में जाकर छिपा, लेकिन उसे वहाँ पकड़ लिया गया और मार दिया गया। बाद में, देहात के गणमान्य लोगों ने बैठक की, और कुछ और ग़रीब किसानों को मार डाला। उस समय तक कोई कम्युनिस्ट पार्टी नहीं थी। ये स्वतःस्फूर्त वर्ग संघर्ष थे।

समाज ने हमें धकेलकर राजनीतिक मंच पर ला खड़ा किया। पहले मार्क्सवाद से कोई वास्ता रखने के बारे में कौन सोचता था? मैंने तो इसका नाम भी नहीं सुना था। मैंने जिन लोगों के बारे में सुन,ा और पढ़ा था वे थे कनफ़्यूशियस, नेपोलियन, वाशिंगटन, पीटर महान, मेईजी पुनर्स्थापना, तीन विख्यात इतालवी (देशभक्त) यूँ कहें कि सब पूँजीवाद के (नायक) थे। मैंने फ्रैंकलिन की एक आत्मकथा भी पढ़ी थी। वह एक ग़रीब परिवार से आये थे; बार में वह लेखक बने, और बिजली के बारे में प्रयोग भी किये। (चेन पो-ता : *'सबसे पहले फ्रैंकलिन ने ही यह प्रस्थापना दी थी कि मनुष्य औज़ार बनाने वाला प्राणी है।')*

उन्होंने मनुष्य के औज़ार बनाने वाला प्राणी होने की बात कही। पहले वे कहते थे कि मनुष्य सोचने वाला प्राणी है, 'हृदय सोच सकता है।'[23] वे कहते थे कि मनुष्य समस्त सृष्टि की आत्मा है। किसने सभा बुलाकर उसे चुना (इस पदवी के लिए)? उसने स्वयं को यह गौरव प्रदान किया। यह प्रस्थापना सामन्ती युग में मौजूद थी। बाद में, मार्क्स ने यह विचार रखा कि मनुष्य औज़ार-निर्माता है, और मनुष्य एक सामाजिक

प्राणी है। सच तो यह है कि (क्रमिक विकास के) दस लाख वर्ष से गुजरने के बाद ही मनुष्य का बड़ा मस्तिष्क और एक जोड़ी हाथ विकसित हुए। भविष्य में, जानवर विकसित होते रहेंगे। मैं नहीं मानता कि सिर्फ मनुष्य के ही दो हाथ हो सकते हैं। क्या घोड़ों, गायों, भेड़ों का क्रमिक विकास नहीं हो सकता है? क्या सिर्फ बन्दरों का क्रमिक विकास हो सकता है? और इससे भी बढ़कर क्या यह हो सकता है कि बन्दरों की सिर्फ एक प्रजाति क्रमिक विकास करे, तथा अन्य सभी क्रमिक विकास करने में असमर्थ हैं? क्या दस लाख वर्ष बाद, एक करोड़ वर्ष बाद, घोड़े, गायें और भेड़ें वैसे ही रहेंगी जैसी वे आज हैं? मैं सोचता हूँ कि उनमें बदलाव होता रहेगा। घोड़े, गायें, भेड़ें, कीड़े सब बदल जायेंगे। प्राणियों का विकास वनस्पतियों से हुआ है, वे समुद्री शैवालों से विकसित हुए हैं। चाङ ताई-येन यह सब जानता था। जिस किताब में वह काङ यु-वेइ से क्रान्ति के बारे में बहस करता है, उसमें उसने इन सिद्धान्तों को स्पष्ट किया है।[24] मूल रूप में पृथ्वी मृत थी, न कोई वनस्पतियाँ थीं, न पानी, न हवा। मुझे पता नहीं कितने करोड़ वर्ष बाद जाकर पानी बना; हाइड्रोजन और ऑक्सीजन तुरन्त किसी पुराने तरीके से पानी में तब्दील नहीं हो गयी।

पानी का भी अपना इतिहास है। इससे भी पहले, हाइड्रोजन और ऑक्सीजन भी मौजूद नहीं थे। हाइड्रोजन और ऑक्सीजन के पैदा होने के बाद ही यह सम्भावना बनी कि इन दो तत्वों के मिलने से पानी बनेगा।

हमे प्राकृतिक विज्ञानों के इतिहास का अध्ययन करना चाहिए, इस विषय की अनदेखी करने से काम नहीं चलगा। हमे कुछ किताबें जरूर पढ़नी चाहिए। हमारे वर्तमान संघर्षों की जरूरतों के कारण पढ़ने और निरुद्देश्य पढ़ने के बीच बहुत अन्तर है। फू यिङ[25] कहता है कि हाइड्रोजन और ऑक्सीजन के लाखों बार साथ आने के बाद कहीं पानी बनता है; यह दो चीजों के मिलकर एक बन जाने का सीधा मामला नहीं है। वह इस बारे में ठीक ही कहता है। मैं उससे मिलना और बात करना चाहता हूँ। (लू पिङ[26] से) आप लोगों को फू यिङ की हरेक बात का विरोध नहीं करना चाहिए।

अब तक, विश्लेषण और संश्लेषण को स्पष्ट ढंग से परिभाषित नहीं किया गया है। विश्लेषण अधिक स्पष्ट है लेकिन संश्लेषण के बारे में ज्यादा कुछ नहीं कहा गया है। मैंने आई सू-चि[27] से बात की। उसका कहना है कि आजकल सिर्फ अवधारणात्मक संश्लेषण और विश्लेषण की बात की जाती है, और वस्तुगत प्रयोगात्मक संलेषण तथा विश्लेषण की बात नहीं की जाती। हम कम्युनिस्ट पार्टी और क्वोमिन्ताङ, सर्वहारा और बुर्जुआ, भूस्वामियों और किसानों, चीनी जनता और साम्राज्यवादियों का विश्लेषण और संश्लेषण कैसे करेंगे? उदाहरण के लिए, कम्युनिस्ट पार्टी और क्वोमिन्ताङ के मामले में हम ऐसा कैसे करेंगे। विश्लेषण तो बस यह प्रश्न है कि हम कितने मज़बूत हैं, हमारे पास कितना इलाका है, हमारे कितने सदस्य है, कितने सैनिक हैं, हमारी कमजोरियाँ क्या हैं? हमारे हाथ में कोई बड़ा शहर नहीं है, हमारी सेना की संख्या सिर्फ 1,200,000 है, हमारे पास कोई विदेशी सहायता नहीं है, जबकि क्वोमिन्ताङ को भारी विदेशी सहायता मिलती है। अगर आप येनान की तुलना शंघाई से करें, तो येनान की आबादी सिर्फ 7,000 है, इसमें (पार्टी और सरकार के) संगठनों के लोगों तथा सैनिकों (येनान में तैनात) को जोड़ दें, तो कुल योग 20,000 होता है। वहाँ सिर्फ दस्तकारी और खेती होती है। किसी बड़े शहर से इसकी तुलना कैसे की जा सकती है? हमारा मज़बूत पक्ष है कि हमारे साथ जनता का समर्थन है जबकि क्वोमिन्ताङ जनता से कटी हुई है। आपके पास ज्यादा इलाका है, लेकिन आपके सैनिक दबाव डालकर भरती किये गये है, और अफसरों तथा सिपाहियों के बीच टकराव है। स्वाभाविक है, उनकी सेना के एक खासे बड़े हिस्से के पास लड़ने की काफी क्षमता है, और ऐसा कतई नहीं है कि वे एक ही प्रहार से ढेर हो जायेंगे। उनका कमज़ोर पक्ष इस बात में है, उसकी कुंजी यह है कि वे आम जनता से कटे हुए हैं। हम आम जनता के साथ एकजुट हैं; वे आम जनता से कटे हैं।

वे अपने प्रचार में कहते है कि कम्युनिस्ट पार्टी सम्पत्ति को और पत्नियों को सर्वोपभोग्य बना देगी और वे इन बातों को प्राथमिक स्कूलों तक के स्तर पर प्रचारित करते हैं। उन्होंने एक गीत बनाया थाः 'जब चू तेह और माओ त्से-तुङ आयेंगे, मारते-काटते और तबाही मचाते हुए, तो तुम क्या करोगे?' उन्होंने प्राइमरी स्कूल के विद्यार्थियों को यह गीत सिखा दिया, और जैसे ही विद्यार्थियों ने इसे गाया, सारे बच्चों ने घर जाकर अपने माता-पिता भाई-बहनों से इसके बारे में पूछा, और इस तरह हमारे लिए इस प्रचार का उलटा ही असर हुआ। एक छोटे बच्चे ने (गीत) सुनकर अपने पिता से पूछा। उसके पिता ने जवाब दिया : 'तुम्हें पूछना नहीं चाहिए; जब तम बड़े हो जाओगे तो खुद देखकर समझ जाओंगे।' वह मध्यमार्गी था। फिर बच्चे ने अपने चाचा से भी पूछा। चाचा ने उसे डाँट लगायी, और जवाब दिया : 'ये सब मारने-काटने का क्या मामला है? अगर मुझसे फिर पूछा तो मार खाओगे।' उसका चाचा पहले कम्युनिस्ट युवा लीग का सदस्य था। सभी अख़बार और रेडियो स्टेशन हम पर हमला करते थे। ढेर सारे अख़बार थे, हर शहर में कई दर्जन, हर धड़े का अपना अखबार था, और वे सब के सब, निरपवाद रूप से, कम्युनिस्ट विरोधी थे। क्या सारे सामान्य लोगों ने उनकी बात सुनी? कतई नहीं! हमें चीन के मामलों का कुछ अनुभव हुआ है, चीन एक 'गौरैया' है।[28] विदेशों में भी, अमीर-गरीब, प्रतिक्रान्ति और क्रान्ति, मार्क्सवाद-लेनिनवाद और संशोधनवाद के सिवा कुछ नहीं है। आपको यह बिल्कुल नहीं मानना चाहिए कि हर कोई कम्युनिस्ट-विरोधी प्रचार को मान लेगा और कम्युनिज्म का विरोध करने में शामिल हो जायेगा। क्या हम उस समय अखबार नहीं पढ़ते थे? फिर भी हम उनसे प्रभावित नहीं थे।

मैंने 'लाल महल का सपना' पाँच बार पढ़ी है, और इससे प्रभावित नहीं हुआ हूँ। मैं इसे इतिहास के तौर पढ़ता हूँ। पहले मैंने इसे कहानी के तौर पर पढ़ा, और फिर इतिहास के तौर पर। जब लोग 'लाल महल का सपना' पढ़ते हैं, तो वे चौथे अध्याय को ध्यान से नहीं पढ़ते , लेकिन दरअसल इसी अध्याय में इस किताब का सार है। इसमें लेङ लू-सिङ है जो जुङ-कुओ का वर्णन

करता है, और गीत तथा टिप्पणियाँ रचता है। चौथे अध्याय 'लौकी वाला भिक्षु लौकी का मामला तय करता है' में 'अफसरों के लिए ताबीज' की चर्चा की गयी है। यह चार बड़े खानदानों का परिचय कराता है :

नानकिङ चिया के लिए
कहो हिप हिप हुर्रा!
वे जार भर-भरकर
तौलते हैं अपना सोना।
आह-पाङ महल
छूता है आसमान,
लेकिन इसमें समा नहीं पाता
नानकिङ शिह खानदान।
समन्दर के राजा को
जब कम पड़ते हैं। सोने के पलंग
तो पहुँचता है वह नानकिङ वाङ।
नानकिङ सुएह हैं इतने अमीर
कि उनके पैसे गिनने में
लग जायेगा सारा दिन....[29]

'लाल महल का सपना' में चारों बड़े खानदानों का वर्णन किया गया हैं यह एक भीषण वर्ग संघर्ष के बारे में है, जिससे दर्जनों लोगों का भविष्य जुड़ा है, हालाँकि इनमें से बीस-तीस लोग ही शासक वर्ग में हैं। (गणना की गयी है कि (इस श्रेणी में) तैंतीस लोग हैं।) अन्य सभी, तीन सौ से ज्यादा लोग, दास हैं, जैसे युएह याङ, सू-चि, दूसरी बहन यु, तीसरी बहन यु, आदि। इतिहास पढ़ते समय, यदि आप वर्ग संघर्ष को अपना प्रस्थान-बिन्दु न बनायें, तो आप भ्रम में पड़ जायेंगे। वर्ग विश्लेषण से ही चीजों का स्पष्ट विश्लेषण किया जा सकता है। 'लाल महल का सपना' और आज तक, इस किताब पर हुए शोध से मुद्दे स्पष्ट नहीं हो सके हैं; इससे हम समझ सकते हैं कि समस्या कितनी कठिन है। यु पिङ-पो और वाङ कुन-लुन दोनों इसके विशेषज्ञ हैं।[30] हो चि फाङ[32] नामक एक सज्जन भी प्रकट हुए हैं। ये सब तो 'लाल महल का सपना' पर हाल में हुए शोध से सम्बन्धित हैं, पुराने अध्ययनों को तो मैं गिनाउँगा ही नहीं। 'लाल महल का सपना' कि बारे में त्साई युवान-पेई का दृष्टिकोण गलत था; हू-शिह का दृष्टि कुछ अधिक सही था।[23]

संश्लेषण क्या है? कि किस तरह दो विपरीत तत्व, क्वोमिन्ताङ और कम्युनिस्ट पार्टी मुख्य भूमि (चीनअनु.) पर संश्लेषित हो गये। संश्लेषण इस तरह घटित हुआः उनकी सेनाएँ आयीं, और हम उन्हें हज़म कर गये, हम एक-एक कौर करके उन्हें खा गये। यह याङ सिएन-चेन द्वारा बताये गये ढंग से दो को एक में मिलाने का मामला नहीं था, यह शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व में मौजूद दो विपरीत तत्वों का संश्लेषण नहीं था। वे शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व में नहीं रहना चाहते, वे आपको हजम कर जाना चाहते हैं वरना, वे येनान पर हमला क्यों करते? उनकी सेना तीनों सीमाओं पर तीन *सिएन* को छोड़कर उत्तरी शेन्सी मे हर जगह घुस चुकी थीं। आपके पास अपनी आज़ादी है, और हमारे पास अपनी आज़दी हैं आप 250,000 हैं, और हम 25,000 लोग।[34] चन्द ब्रिगेड, 20,000 आदमियों से कुछ ज्यादा। विश्लेषण कर लेने के बाद, अब हम संश्लेषण कैसे करें? अगर आप कहीं जाना चाहते हैं, तो सीधे आगे जाइये; हम फिर भी एक-एक कौर करके आपकी सेना को निगल जायेंगे। अगर हम जीतने के लिए लड़ सकते थे, तो हम लड़ते थे, अगर नहीं जीत सकते थे, तो हम पीछे हट जाते थे। मार्च 1947 से मार्च 1948 तक, (दुश्मन की) एक पूरी सेना हवा में ग़ायब हो गयी, क्योंकि हमने उनके दसियों दजार सैनिकों को खत्म कर दिया। जब हमने ई-चुझान का घेरा डाला, और ल्यू कान शहर को मुक्त कराने आया, तो मुख्य कमाण्डर ल्यू कान मारा गया, उसके तीन डिवीज़नल कमाण्डरों में से दो मारे गये और तीसरा बन्दी बना लिया गया, और पूरी सेना का अस्तित्व ही समाप्त हो गया। यह संश्लेषण था। उनकी तमाम बन्दूकें और तोपखाना हमारे पक्ष में संश्लेषित हो गया और सैनिक भी संश्लेषित हो गये। जो हमारे साथ रहना चाहते थे वे रह सकते थे और जो नहीं रहना चाहते थे उन्हें हमने जाने का खर्चा दे दिया। जब हमने ल्यू-कान को खत्म कर दिया तो ई-चुआन में तैनात ब्रिगेड ने बिना लड़े हथियार डाला दिये। तीन बड़े अभियानोंल्याओ-शेव, हुआई-हाई और पीकिङ-त्येनत्सिनमें संश्लेषण का हमारा तरीका क्या था? फू त्सो-ह 400,000 आदमियों की अपनी सेना सहित, बिना लड़े, हमारे पक्ष में संश्लेषित हो गया और उन्होंने अपनी सारी रायफलें सौंप दीं।[35] एक चीज का दूसरे को खा जाना, बड़ी मछली का छोटी मछली को खा जाना, यह संश्लेषण है। इसे इस तरह से किताबों में कभी प्रस्तुत नहीं किया गया है। मैंने भी कभी अपनी किताबों में इसे इस ढंग से नहीं प्रस्तुत किया है। याङ सिएन-चिन मानते हैं कि दो मिलकर एक हो जाते हैं और संश्लेषण दो विपरीत तत्वों के बीच का अटूट बन्धन हैं। इस दुनिया में कौन से बन्धन अटूट हैं? चीजें एक-दूसरे से जुड़ी हो सकती है, लेकिन अन्ततः उन्हें टूटना होता है। कुछ भी ऐसा नहीं है जिसे अलग नहीं किया जा सकता। हमारे संघर्ष के करीब बीस वर्षों में, हममें से भी बहुत से लोगों को दुश्मन हजम कर गया। जब 300,000 आदमियों की लाल सेना शेन-कान-निङ क्षेत्र में पहुँची, तो सिर्फ 20,000 लोग बचे थे। बाकी में से, कुछ हजम कर लिये गये थे, कुछ बिखर गये थे, कुछ मारे गये या घायल हुए थे।

हमें विपरीत तत्वों की एकता पर चर्चा करने के लिए अपने जीवन को प्रस्थान बिन्दु बनाना चाहिए। (कामरेड काङ शेङ : *'सिर्फ अवधारणाओं की बात करने से काम नहीं चलेगा।'*)

जब विश्लेषण चल रहा होता है, तो संश्लेषण भी होता है, और जब संश्लेषण हो रहा होता है, तो विश्लेषण भी होता है।

जब लोग जानवरों और पौधों को खाते हैं, तो वे भी विश्लेषण से शुरू करते हैं। हम बालू क्यों नहीं खाते? अगर चावल में बालू हो तो वह खाने लायक नहीं होता। हम घोड़े, गाय या भेड़ की तरह घास क्यों नहीं खाते, सिर्फ बन्दगोभी जैसी चीजें क्यों खाते हैं? हमें हर चीज का विश्लेषण करना चाहिए। शेन वुङ ने सौ जड़ी-बूटियों को चखा,[36] और दवाओं के लिए उनके इस्तेमाल की शुरुआत की। दसियों हजार साल बाद, विश्लेषण ने स्पष्ट रूप से यह उजागर किया कि क्या खाया जा सकता है और क्या नहीं। टिड्डे, साँप और कछुए खाये जा सकते हैं। केकड़े, कुत्ते और जलीय जन्तु खाये जा सकते हैं। कुछ विदेशी उन्हें नहीं खाते। उत्तरी शेन्सी में लोग जलीय जन्तुओं को नहीं खाते, वे मछलियाँ नहीं खाते। वे वहाँ बिल्ली भी नहीं खाते। एक बार पीली नदी

की भारी बाढ़ से हजारों किलों मछलियाँ किनारों पर जमा हो गयी; और उन्होंने उन सबकी खाद बना डाली।

मैं एक देशी दार्शनिक हूँ, आप लोग विदेशी दार्शनिक हैं।

(कामरेड काङ शेङ *'क्या अध्यक्ष तीन श्रेणियों के प्रश्न पर कुछ कह सकते हैं?'*)

एंगेल्स ने तीन श्रेणियों की चर्चा की है, लेकिन जहाँ तक मेरी बात है मैं उनमें से दो श्रेणियों में विश्वास नहीं करता। (विपरीत तत्वों की एकता सबसे बुनियादी नियम है, गुण और मात्रा का एक-दूसरे में रूपान्तरण विपरीत तत्वों गुण और मात्रा की एकता है, और निषेध का निषेध होता ही नहीं है) उसी स्तर पर, गुण और मात्रा का एक-दूसरे में रूपान्तरण, निषेध का निषेध, और विपरीत तत्वों की एकता के नियम को साथ-साथ रहना एकतत्ववाद नहीं, बल्कि 'त्रितत्वाद' है। सबसे बुनियादी चीज है विपरीत तत्वों की एकता। गुण और मात्रा का एक-दूसरे में रूपान्तरण विपरीत तत्वों गुण और मात्रा की एकता है। निषेध का निषेध जैसी कोई चीज नहीं है। अभिपुष्टि, निषेध, अभिपुष्टि, निषेध... चीजों की विकास प्रक्रिया में, घटनाओं की श्रृंखला में हर कहीं अभिपुष्टि और निषेध दोनों होते हैं। दास स्वामियों के समाज ने आदिम समाज का निषेध किया, लेकिन सामन्ती समाज के सन्दर्भ में, यह एक सकारात्मक बात थी। सामन्ती समाज दास समाज के सम्बन्ध में निषेध था, लेकिन पूँजीवादी समाज के सन्दर्भ में यह सकारात्मक था। पूँजीवादी समाज सामन्ती समाज के सम्बन्ध में निषेध था, लेकिन समाजवादी समाज के सन्दर्भ में यह फिर सकारात्मक है।

संश्लेषण की पद्धति क्या होती है! क्या यह सम्भव है कि दास समाज के साथ-साथ आदिम समाज का भी अस्तित्व बना रहे? वे साथ-साथ मौजूद होते हैं, लेकिन यह समग्र का एक छोटा-सा हिस्सा है। समग्र तस्वीर यह है कि आदिम समाज समाप्त हो जायेगा। इससे भी बाढ़कर यह है कि समाज का विकास कई मंजिलों से गुजरकर होता है। आदिम समाज भी अनेक मंजिलों में बँटा हुआ है। उस समय तक, मृत पतियों के साथ औरतों को दफन कर देने की प्रथा नहीं थी, लेकिन तब पुरुष स्त्रियों के अधीन थे और फिर चीजें अपने विपरीत की ओर बढ़ीं और स्त्रियाँ पुरुषों के अधीन हो गयीं। इतिहास की यह मंजिल अब तक स्पष्ट नहीं हो पायी है, हालाँकि करीब दस लाख वर्ष से ज्यादा समय से यह चला आ रहा है। वर्ग समाज अभी 5000 वर्ष पुराना नहीं हुआ है, आदिम युग के अन्त में लुङ शान और याङ शाओ [37] जैसी संस्कृतियों में रँगे हुए बर्तन होते थे। एक शब्द में, एक दूसरे को हड़प कर जाता है, एक दूसरे को उखाड़ फेंकता है, वर्ग खत्म कर दिया जाता है, दूसरा वर्ग उठता है, एक समाज का खात्मा हो जाता है, दूसरा समाज उठ खड़ा होता है। स्वाभाविक रूप से, विकास की प्रक्रिया में हर स्वाभाविक रूप से, विकास की प्रक्रिया में हर चीज़ बिल्कुल शुद्ध नहीं होती। जब यह सामन्ती समान तक पहुँचती है, तो दास प्रणाली की कुछ चीजें अब भी बची रहती हैं, हालाँकि सामाजिक ढाँचे का अधिकांश भाग सामन्ती प्रणाली को अभिलाक्षणिकताओं के अनुसार होता है। अब भी कुछ भू-दास और कुछ बँधुआ मजदूर होते हैं, जैसे दस्तकार कारीगर। पूँजीवाद समाज भी बिल्कुल शुद्ध नहीं होता, और ज्यादा उन्नत पूँजीवादी समाजों में भी एक पिछड़ा भाग भी होता है। उदाहरण के लिए, दक्षिणी संयुक्त राज्य अमेरिका में दास प्रणाली थी। लिंकन ने दास प्रणाली खत्म कर दी, लेकिन वहाँ अब भी काले गुलाम हैं, उनका संघर्ष बहुत तीखा है। दो करोड़ से ज्यादा लोग इसमें शामिल हैं और ये काफी बड़ी संख्या है।

एक चीज दूसरी को नष्ट कर देती है, चीजें पैदा होती है, विकसित होती हैं, और नष्ट हो जाती है, हर कहीं ऐसा ही है। अगर चीजें दूसरी चीजों द्वारा नष्ट नहीं की जाती, तो वे खुद ही नष्ट हो जाती हैं। लोग क्यों मरते हैं? क्या कुलीन लोग भी मरते हैं? यह एक प्राकृतिक नियम है। जंगल मनुष्यों से ज्यादा जीवित रहते हैं, लेकिन वे भी कुछ हजार वर्ष तक रहते हैं। यदि मृत्य जैसी चीज़ न होती, तो यह स्थिति असहनीय होती। अगर हम आज कनफ़्यूशियस को जीवित देख सकते, तो धरती इतने सारे लोगों को सँभालने लायक नहीं रहती। मैं चुआङ-ल्यू[38] के रवैये का समर्थन करता हूँ। जब उसकी पत्नी मर गयी तो वह थाली बजाकर गाना गाने लगा। जब लोग मरें, तो द्वन्द्ववाद की विजय का जश्न मनाने के लिए पुराने के ध्वंस का जश्न मनाने के लिए पार्टियाँ होनी चाहिए। समाजवाद भी समाप्त हो जायेगा। इसका समाप्त न होना ठीक नहीं, क्योंकि जब तक यह समाप्त नहीं होगा तब तक कम्युनिज़्म नहीं आयेगा। कम्युनिज़्म हजारों हजार साल तक रहेगा। मैं नहीं मानता कि कम्युनिज़्म के तहत कोई गुणात्मक बदलाव नहीं होंगे, कि यह गुणात्मक बदलावों द्वारा मंज़िलों में बँटा नहीं होगा। मैं इसे नहीं मानता! मात्रा गुण में बदलती है, और गुण मात्रा में बदल जाता है। मैं यह नहीं मानता कि यह दसियों लाख वर्ष तक बिना बदले गुणात्मक रूप से बिल्कुल एक समान बना रहा सकता है! द्वन्द्ववाद की रोशनी में ऐसा सोचा भी नहीं जा सकता। फिर यह सिद्धान्त है, 'हरेक से उसकी क्षमतानुसार, हरेक को उसकी आवश्यकतानुसार।' क्या आप मानते हैं कि वे दस लाख वर्ष तक इसी अर्थशास्त्र पर चलते रहेंगे? क्या आपने इसके बारे में सोचा है? अगर ऐसा होता, तो हमें अर्थशास्त्रियों की जरूरत नहीं होती, या फिर हम बस एक पाठ्यपुस्तक से काम चला सकते, और द्वन्द्ववाद खत्म हो जाता।

विपरीत ध्रुवों की ओर निरन्तर गति द्वन्द्ववाद का प्राण है। अन्ततः मनुष्य जाति का भी अन्त होगा। जब धर्मशास्त्री क़यामत के दिन की बात करते हैं, तो वे निराशावादी होते हैं। हम कहते हैं कि मनुष्य जाति का अन्त कुछ ऐसी चीज़ होगी जो मनुष्य जाति से भी उन्नत किसी चीज को जन्म देगी। मनुष्य जाति अभी अपनी शैशवावस्था में है। एंगेल्स ने आवश्यकता के राज्य से स्वतंत्रता के राज्य में प्रवेश करने की बात की थी, और कहा था कि स्वतंत्रता का अर्थ है आवश्यकता की समझ। यह वाक्य अधूरा है। यह आधी बात कहता है और शेष को अनकहा छोड़ देता है। क्या इसे महज समझने से आप स्वतंत्र हो जायेंगे? स्वतंत्रता का अर्थ है आवश्यकता की समझ और आवश्यकता का रूपान्तरणआपको कुछ काम भी तो करना होता है। अगर आप

बिना कोई काम किये सिर्फ खायेंगे, अगर आप महज समझेंगे, तो क्या यह काफ़ी होगा? जब आप कोई नियम ढूँढ़ते हैं, तो आपको इसे लागू करना आना चाहिए, आपको दुनिया का नये सिरे से निर्माण करना होगा, आपको जमीन खोदनी और इमारतें खड़ी करनी होंगी, आपको खदानें खोदनी होंगी, उद्योग लगाने होंगे। भविष्य में और भी ज्यादा लोग होंगे, और अनाज काफी नहीं होगा, तो लोगों को खनिजों से भोजन प्राप्त करना होगा। इस तरह, केवल रूपान्तरण द्वारा ही स्वतंत्रता हासिल की जा सकती है। क्या भविष्य में इतनी स्वतंत्रता सम्भव होगी? लेनिन ने कहा था कि भविष्य में, आसमान में इधर-उधर भागते हवाई जहाज इतने ज्यादा होंगे जैसे कि पतंगें। हर जगह वे टकरा जायेंगे, तो हम इसके बारे में क्या करेंगे? हम उन्हें कैसे चलायेंगे? और अगर हम ऐसा कर लेंगे, तो क्या चीजें इतनी स्वतंत्र रहेंगी? पीकिङ में इस समय 10,000 बसें हैं, टोक्यो में 100,000 (वाहन) हैं (या यह 800,000 है?) इसलिए वहाँ वाहन दुर्घटनाएँ ज्यादा होती हैं। हमारे यहाँ कम कारें हैं और हम ड्राइवरों और लोगों को शिक्षित भी करते हैं, इसलिए दुर्घटनाएँ कम होती हैं। अब से 10,000 साल बाद पीकिङ में क्या होगा? क्या तब भी 10,000 बसें ही रहेंगी? वे कुछ नया अविष्कार कर सकते हैं, जिससे वे परिवहन के इन साधनों को त्याग सकते हैं, ताकि मनुष्य उड़ सके, किसी सरल-से यांत्रिक उपकरण का प्रयोग करके किसी भी जगह उड़कर जा सके, और जहाँ जी चाहे उतर सके। आवश्यकता को सिर्फ समझने से कुछ नहीं होगा, हमें चीजों को बदलना भी होगा।

मैं नहीं मानता कि कम्युनिज्म मंजिलों में विभाजित नहीं होगा, और कोई गुणात्मक बदलाव नहीं होंगे। लेनिन ने कहा था कि सारी चीजें विभजित की जा सकती हैं। उन्होंने परमाणु का उदाहरण दिया और कहा कि न सिर्फ परमाणु को विभाजित किया जा सकता है बल्कि इलेक्ट्रान को भी विभाजित किया जा सकता है। पहले, यह माना जाता था कि इसे विभाजित नहीं किया जा सकता, परमाणु के नाभिक के विखण्डन से जुड़ी विज्ञान की शाखा की उम्र अभी ज्यादा नहीं है, बस बीस या तीस वर्ष हुए हैं। हाल के दशकों में वैज्ञानिकों ने परमाणु के नाभिक को उसके संघटकों जैसे प्रोटॉन, न्यूट्रॉन, एण्टी-न्यूट्रान, मेज़ान और एण्टी-मेज़ॉन में बाँटा है। ये तो भारी वाले संघटक हैं इसके अलावा हल्के वाले भी हैं। इनमें से ज्यादातर खोजें द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान या उसके बाद हुई हैं। यह तथ्य कुछ समय पहले खोजा जा चुका था कि इलेक्ट्रान को परमाणु के नाभिक से अलग किया जा सकता है। बिजली के तार में ताँबे या अल्युमिनियम से अलग किये गये इलेक्ट्रानों का प्रयोग किया जाता है। पृथ्वी के 300 ली के वातावरण में, भी असम्बद्ध इलेक्ट्रानों की परतों का पता लगाया गया है। वहाँ भी इलेक्ट्रान और परमाणु का नाभिक अलग-अलग हैं। अब तक इलेक्ट्रानों को तोड़ा नहीं जा सका है लेकिन एक दिन वे अवश्य ही इसे भी तोड़ सकेंगे। चुआङ-त्जू ने कहा है, 'एक फुट की लम्बाई, जिसे रोज आधा किया जाता है, कभी भी घटकर शून्य नहीं होगी।' (चुआङ-त्जू, अध्याय 33 का उद्धरण) यह सच है। अगर आपको विश्वास नहीं है, तो ज़रा सोचिये। अगर इसे घटा कर शून्य किया जा सकता, तो विज्ञान ही नहीं होता। तमाम तरह की चीजें निरन्तर और असीम ढंग से विकसित होती रहती हैं, और वे अनन्त हैं। समय और स्थान अनन्त हैं। जहाँ तक स्थान का सवाल है, वृहत और सूक्ष्य दोनों दृष्टिकोण से देखने पर, यह अनन्त है, इसे अन्तहीन ढंग से विभाजित किया जा सकता है। इसलिए, दस लाख वर्ष बाद भी वैज्ञानिकों के लिए करने को काम होगा। मैं 'बुलेटिन ऑफ नेचुरल साइंसेज़' में मूलभूत कणों पर सकाटा के लेख की बहुत सराहना करता हूँ।[39] मैंने पहले इस तरह का कोई लेख नहीं देखा। यह द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है। वह लेनिन को उद्धत करते हैं।

दर्शनशास्त्र की कमजोरी है कि इसने व्यावहारिक दर्शन नहीं, सिर्फ किताबी दर्शन पैदा किया है। हमें हमेशा नई-नई चीजें सामने लानी चाहिए। वरना हमारा यहाँ क्या काम है? हमें वंशज किसलिए चाहिए? नयी चीजें यथार्थ में मिलती हैं, हमें यथार्थ को समझना चाहिए। अन्तिम विश्लेषण में, जेन चि-यू[40] मार्क्सवादी हैं या नहीं? मैं बौद्ध धर्म पर उनके उन लेखों की काफी सराहना करता हूँ। (उनके पीछे) कुछ शोध किया गया दिखता है, वह ताङ युङ-तुङ[41] के शिष्य हैं। वह सिर्फ ताङ वंश के बौद्ध धर्म की चर्चा करते हैं, और बाद के समय के बौद्ध धर्म पर सीधे कुछ नहीं कहते। सुङ और मिङ अधिभूतवाद ताङ वंश के चान स्कूल से विकसित हुए, और यह मनोगत प्रत्ययवाद से वस्तुगत प्रत्ययवाद की ओर एक आन्दोलन था।[42] बौद्ध धर्म और ताओ पंथ दोनों ही हैं, और दोनों के बीच फर्क न करना ग़लत है। उन पर ध्यान देना उचित कैसे हो सकता है? हान यू की बातों का कोई मतलब नहीं है। उसका नारा था; 'उनके विचारों से सीखो, उनकी अभिव्यक्ति के ढंग से नहीं।' उसके विचार पूरी तरह दूसरों से नकल किये हुए थे, उसने बस निबन्धों का रूप और संरचना बदल दी। उसकी बातें बेमतलब थीं, और जो कुछ उसने कहा वह मूलतः प्राचीन पुस्तकों से लिया गया था। 'शिक्षकों पर विमर्श' जैसे लेखनों में कुछ नयापन है। ल्यू-हाउ अलग था, वह बौद्ध और ताओ भौतिकवाद की एक-एक बात जानता था।[43] लेकिन उसकी 'स्वर्ग उत्तर देता है' बहुत छोटी है। उसकी 'स्वर्ग उत्तर देता है' चू युआन की 'स्वर्ग पूछता है' से पैदा हुई है।[44] हजारों साल में सिर्फ इस एक आदमी ने 'स्वर्ग उत्तर देता है' जैसी कोई चीज लिखी है। 'स्वर्ग उत्तर देता है' और 'स्वर्ग पूछता है' किसके बारे में हैं? 'स्वर्ग पूछता है' में स्पष्ट ढंग से व्याख्या करने के लिए टिप्पणियाँ न हों, तो इसे पढ़कर आप कुछ नहीं समझ पायेंगे, आपको एक सामान्य झलक मिलेगी। 'स्वर्ग पूछता है' वाकई अद्‌भुत है, हजारों वर्ष पहले इसने ब्रहमाण्ड, प्रकृति और मनुष्य सवाल उठाये थे।

(दो को एक में मिलाने के प्रश्न पर चर्चा के सम्बन्ध में) हुङ चि को कुछ अच्छी चीजें पुनर्मुद्रित करने और एक रिपोर्ट लिखने के लिए कहें।

टिप्पणियाँ

[1] यानी, 1) मार्क्सवादी दर्शन, अर्थात द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद ओर ऐतिहासिक भौतिकवाद, जो प्रकृति, मानव समाज और मनुष्य के विचारों

में मौजूद अन्तरविरोधों के विकास के सामान्य सिद्धान्त से सम्बन्धित है; 2) मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र जो समाज की अर्थव्यवस्था के विकास को नियंत्रित करने वाले नियमों की व्याख्या करता है और इस बात का पर्दाफ़ाश करता है कि पूंजीपति वर्ग किस तरह मेहनतकश वर्ग का शोषण करता है (अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त); और 3) वैज्ञानिक समाजवाद जो यह दिखाता है कि पूंजीवादी समाज का विकास समाज की एक उच्चतर मंजिल में होना ही है और सर्वहारा पूंजीवादी व्यवस्था की क़ब्र खोदता है। (ब्योरे के लिए देखें लेनिन की *मार्क्सवाद के तीन स्रोत और तीन संघटक अंग*।)

[2] पीकिङ विश्वविद्यालय को, जो 1919 के 4 मई आन्दोलन की शुरुआत करने वाले पुराने पीकिङ विश्वविद्यालय और अमेरिकी आर्थिक सहायता से चलने वाले येनचिङ विश्वविद्यालय को मिलाकर बना है, 1949 के बाद से चीन में सामान्य बौद्धिक श्रेष्ठता के लिए सबसे ऊंचा दर्ज़ा हासिल है। पीकिङ में ही स्थित जन विश्वविद्यालय ख़ास तौर पर मज़दूर-किसान पृष्ठभूमि के विद्यार्थियों के लिए अधिक सुगम पाठ्यक्रम उपलब्ध कराने के लिए स्थापित किया गया था।

[3] कनफ्यूशियस की क्लासिकी कृतियों में 'चार पुस्तकें' आरम्भिक विद्यार्थियों द्वारा पढ़ी जाने वाली मुख्य सामग्री थी, पाँच क्लासिकी कृतियाँ इसका कुछ बड़ा रूप था।

[4] माओ त्से-तुङ ने अपने विविध शैक्षिक अनुभवों में, 1912-13 की सर्दियों में हुनान प्रान्तीय पुस्तकालय में पढ़ाई करते हुए गुज़ारे गये छह माह के समय को सबसे मूल्यवान अनुभवों में से एक माना है।

[5] पहला वाक्य 'माध्य का सिद्धान्त' से है, दूसरा है 'मेन्शियस', ग्रन्थ चार से।

[6] यह उद्धरण कनफ्यूशियस की कृति 'एनालेक्ट्स' से लिया गया है। 'एनालेक्ट्स' में उस घटना का उल्लेख है जिसमें कुआङ के लोगों ने कनफ्यूशियस को बन्दी बना लिया था और उसे मार डालना चाहते थे।

[7] माओ का तर्क यह लगता है कि चाहे कनफ्यूशियस वहाँ गया हो या नहीं, चिन (आज के शेन्सी में स्थित पहली सहस्राब्दी ईसापूर्व का एक राज्य, जिसके शासक ने बाद में पूरे चीन को जीत लिया और 221 ई.पू. में चिन वंश की नींव डाली), वह चिन के विरुद्ध नहीं था क्योंकि उसने उस क्षेत्र की दो कविताओं को 'बुक ऑफ़ ओड्स' में शामिल किया है, जिनमें से दो को माओ ने उद्धृत किया है।

[8] सू-मा चिएन (145-90 ई.पू.) चीन का पहला महान इतिहासकार था, जिसने चीन के आरंभिक दिनों से लेकर अपने समय तक चीन का इतिहास बताने वाले *शिह-चि* (ऐतिहासिक अभिलेख) को संकलित किया था।

[9] उपरोक्त कविता और दो पूर्वोल्लिखित कविताओं के शीर्षक 'गीतिकाव्यों की पुस्तक' के लेग्ग्स के संस्करण से लिये गये हैं।

[10] चीनी आलोचकों ने पारम्परिक तौर पर प्रेम कविताओं की व्याख्या अधिकारी और उसके राजा के सम्बन्धों के रूपक के रूप में की है; चू सि (नीचे टिप्पणी 42 देखें) का मानना था कि उन्हें अभिधा में लिया जाना चाहिए। माओ सहजबुद्धि की दृष्टि से यह विचार प्रस्तुत करते हैं कि कभी उनका शाब्दिक अर्थ लिया लाना चाहिए और कभी नहीं।

[11] वेई चुआङ (858-910) उत्तरवर्ती ताङ तथा आरम्भिक पांच राजवंशों (907 से शुरू) काल का एक प्रमुख कवि था। माओ का तर्क है कि 'गीतिकाव्यों की पुस्तक' तथा समस्त क्लासिकी काव्य पर व्याख्या के एक ही सिद्धान्त लागू किये जाने चाहिए।

[12] "Four Clean ups" और "Five antis" के लिए देखें *संकलित रचनाएं*, खण्ड पाँच।

[13] 'चीन जनवादी लीग' का पत्र *कुआंग-मिङ जिह-पाओ* अप्रैल 1957 में, जब 'फूल खिलना और विचारों का टकराव' ज़ोर-शोर से जारी था, पार्टी की आलोचना करने में सबसे आगे था। शंघाई से प्रकाशित *वेन-हुई पाओ* एक गैर-पार्टी पत्र था जिसकी माओ ने 1957 में बुर्जुआ प्रवृत्तियों के लिए आलोचना की थी। नवम्बर 1965 में, उसने सांस्कृतिक क्रान्ति की शुरुआत करने के माध्यम का काम किया।

[14] चाउ कू-चेङ चीनी और विश्व इतिहास पर अनेक कृतियों के लेखक थे। 1950 के बाद से, वह शंघाई में फुतान विश्वविद्यालय में प्रोफेसर थे। 1962 में, उन्होंने इतिहास और कला पर एक लेख प्रकाशित किया था, जिसमें उन्होंने 'ज़ाइटजीस्ट' पर विचार व्यक्त किये थे जिन्हें य सिएन-चेन के दार्शनिक सिद्धान्तों की सौन्दर्यशास्त्र के दायरे में अभिव्यक्ति माना गया (देखें नीचे, टिप्पणी 19)।

[15] सुन येह-फाङ इस समय विज्ञान अकादेमी के अर्थशास्त्र संस्थान के निदेशक थे; 1966 में उन्हें बर्खास्त कर दिया गया। जैसा कि काङ शेङ की टिप्पणी से पता चलता है, उन्होंने समाजवादी अर्थव्यवस्था में मुनाफे के उद्देश्य की भूमिका के बारे में कुछ सोवियत और पूर्वी यूरोपीय अर्थशास्त्रियों के विचारों को अपना लिया था जिनके साथ उसका पेशेवर सम्पर्क था।

[16] 1955 की गर्मियों में, 31 जुलाई के माओ के भाषण द्वारा कृषि उत्पादकों के कोआपरेटिवों के गठन को नया संवेग प्रदान करने के ठीक पहले, पार्टी के ग्रामीण कार्य विभाग ने (ल्यू शाओ-चि के उकसाने पर) अनेक कोआपरेटिवों को यह कहकर भंग कर दिया कि इन्हें जल्दबाज़ी में और समय से पहले गठित किया गया था।

[17] तेङ त्ज़ू-हुई (1895-1972) 1952 से ग्रामीण कार्य विभाग का प्रमुख रहा था, हालांकि 1955 में कोआपरेटिवों को 'भंग करने' या 'बुरी कोआपरेटिवों की छंटाई करने' की ज़िम्मेदारी में उसकी हिस्सेदारी के कारण 1950 के दशक के उत्तरार्द्ध से उसका प्रभाव कम हो गया था। लेकिन ऐसा लगता है कि इसके बावजूद 1960 के दशक के आरम्भ में माओ के विचारों के विरोध में अपने विचार ज़ोर-शोर से व्यक्त करने लायक हैसियत उसकी बनी हुई थी। यह वही वक्त था जबकि माओ द्वारा यहाँ बतायी गयी नीतियाँ पार्टी के भीतर विवाद का विषय थीं। (अधिक ब्योरे के लिए देखें 'संकलित रचनाएं' के खण्ड पाँच का पृ. 224-225, अंग्रेज़ी संस्करण।)

[18] एक दक्षिणपन्थी अवसरवादी दृष्टिकोण जिसकी वकालत ल्यू शाओ-ची और दूसरे करते थे। इस सम्बन्ध में देखें, चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय कमेटी के पोलित बयूरो की बैठक में माओ त्से-तुङ का भाषण "आम दिशा से विपथगमन करने वाले दक्षिणपन्थी विचलनवादी विचारों का विरोध करो," संकलित रचनाएँ, खण्ड पाँच।

[19] 'दो मिलकर एक हो जाते हैं' का विचार सबसे पहले 1960 के दशक में याङ सिएन-चेन (1899-) ने पेश किया था, जो 1955 से, उच्चतर पार्टी स्कूल का अध्यक्ष रहा था। जुलाई 1964 से इस सूत्रीकरण पर प्रेस में इस आधार पर तीखा हमला बोला गया कि यह संघर्ष और अन्तरविरोध के महत्व को कम कर देता है और माओ के इस दृष्टिकोण के विपरीत है कि 'एक दो में बँट जाता है,' यानी संघर्ष, ख़ासकर वर्ग संघर्ष निरन्तर बार-बार उभरता रहता है, तब भी जबकि विशिष्ट अन्तरविरोध हल हो गये हों। स्टेनोग्राफ़र के नोट में उल्लिखित 'एक लेख की रूपरेखा' सम्भवतः याङ पर होने वाले किसी हमले का सारांश था जिसे पूर्वस्वीकृति के लिए अध्यक्ष को दिया गया था।

[20] अक्टूबर 1936 में शुरू हुई मैड्रिड की रक्षा दो वर्ष पाँच महीने तक चलती रही। 1936 में, फ़ासिस्ट जर्मनी और इटली ने स्पेनी फ़ासिस्ट

युद्ध सरदार फ्रांको का इस्तेमाल करके स्पेन के विरुद्ध हमलावर युद्ध छेड़ दिया। पॉपुलर फ्रंट सरकार के नेतृत्व में, स्पेन के लोगों ने बहादुराना ढंग से हमले के ख़िलाफ़ जनवाद की हिफ़ाजत की। स्पेन की राजधानी मैड्रिड की लड़ाई पूरे युद्ध में सबसे तीखी लड़ाई थी। मार्च 1939 में मैड्रिड दुश्मन के हाथों में चला गया क्योंकि ब्रिटेन, फ्रांस और अन्य साम्राज्यवादी देशों ने ''अ-हस्तक्षेप'' की अपनी पाखण्डी नीति के द्वारा हमलावरों की मदद की और पॉपुलर फ्रंट के भीतर मतभेद उभर आये। इस आलोचना का मुद्दा ज़ाहिरा तौर पर यह नहीं है कि स्पेन के रिपब्लिकन आख़िरी सांस तक लड़ते रहे, बल्कि यह है कि वे इस बात को समझ नहीं सके कि कुछ मज़बूत क्षेत्रीय बिन्दु अपने आप में निर्णायक नहीं हो सकते।

[21] कृपया देखें ''हमारी पार्टी के इतिहास में कुछ प्रश्नों के बारे में प्रस्ताव,'' 20 अप्रेल 1945 को स्वीकृत। संकनित रचनाएँ, खण्ड 3

[22] माओ ने इस संस्थान में अपना काम 1925 में शुरू किया था, लेकिन 1926 में ही उन्होंने प्रिंसिपल के तौर पर काम किया और अपना मुख्य योगदान किया।

[23] यह उद्धरण *मेन्शियस*, ग्रन्थ 4, भाग ए, अध्याय 15 से है।

[24] सम्भवतः यहाँ 1903 में प्रकाशित चाङ पिंग-लिन के प्रसिद्ध लेख 'काङ यु-वेई के क्रान्ति के नाम पत्र का खण्डन' का उल्लेख है। इस लेख में चाङ ने न केवल क्रान्ति बनाम क्रमिक सुधार के मुद्दे पर बल्कि चीनी और माँचू लोगों के बीच नस्ली भिन्नता के महत्त्व को लेकर भी काङ पर तीखा हमला किया जिसे काङ कम करके पेश करते थे। चाङ का तर्क था कि मांचू लोग एक लोग परायी और पतनशील नस्ल के हैं जोकि चीन पर शासन करने के लिए क़त्तई अनुपयुक्त हैं। इसी सन्दर्भ में उन्होंने क्रमिक विकास की चर्चा की, और यह बताया कि मौजूदा नस्ली अन्तर इतिहासजन्य हैं।

[25] फू यिंग कोई चीनी वैज्ञानिक लगते हैं जोकि 1964 में जीवित थे क्योंकि माओ उनसे मिलने की बात करते हैं।

[26] लू पिंग (1910-) उस समय पीकिङ विश्वविद्यालय के अध्यक्ष थे; जून 1966 में उन्हें पद से हटा दिया गया और उनके विरुद्ध संघर्ष चलाया गया।

[27] आई सू-ची (1910-66) अपनी मृत्यु के समय उच्चतर पार्टी स्कूल के उपाध्यक्ष थे। वह पार्टी के अग्रणी दार्शनिक प्रवक्ताओं में से एक थे, जिन्होंने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पर कृतियों का रूसी से अनुवाद किया था, और मार्क्सवाद को जनसाधारण तक ले जाने के लिए अनेक पुस्तकें तथा लेख लिखे थे। 1 नवम्बर 1964 को उन्होंने *पीपुल्स डेली* में 'बुर्जुआ' दार्शनिक याङ सिएन-चेन पर हमला करते हुए एक लेख प्रकाशित कराया।

[28] 'गौरैया की चीरफाड़' की उपमा ज्ञान अर्जित करने और अनुभवों का समाहार करने का एक अनुप्रयुक्त सिद्धान्त और कार्य पद्धति है। किसी परिघटना की अनेक पुनरावृत्तियों के सामान्यीकरण का प्रयास करने के बजाय, यह कार्य पद्धति किसी प्रोटोटाइप के सांगोपांग अध्ययन और जांच-पड़ताल के ज़रिये उसका गहन विश्लेषण करने और इस विश्लेषण के ज़रिये अनुभवों का सार-संकलन करने की हिमायत करती है। यह नारा इस आम कहावत से निकला है कि 'गौरैया छोटी भले ही होती है लेकिन उसमें सभी ज़रूरी अंग होते हैं।' यहाँ माओ कहते हैं कि व्यापक अन्तरराष्ट्रीय सन्दर्भों में पूरा चीन आज की दुनिया में क्रान्ति की समस्याओं का एक लघु रूप है।

[29] पुस्तक (*दि स्टोरी ऑफ दि स्टोन*) के अध्याय 2 में जुङ कुओ के ड्यूक की हवेली में लेङ त्जू-सिंग के उपदेश। 'अधिकारियों के लिए ताबीज' इलाके के अमरी और असरदार परिवारों की एक सूची थी जिसे बॉटल-गूर्ड के भूतपूर्व शिष्य को साथ रखना पड़ता था ताकि उन्हें नाराज़ करके अपना भविष्य चौपट करने से बच सके। (*दि स्टोरी ऑफ दि स्टोन*)

[30] इस मुद्दे पर कॉमरेड माओ द्वारा की गयी आलोचनाओं के लिए देखें ''लाल भवन का सपना के बारे में पत्र'' (संकलित रचनाएं, खण्ड 5)

वाङ कुन-लेन 1950 के दशक में पीकिङ के उप महापौर थे

[31] हो चि-फाङ (1911-) एक कवि तथा साहित्य जगत के प्रभावी व्यक्ति थे। 1954 में यू यिंग-पो के विरुद्ध चली मुहिम में उन्होंने एक सीमा तक उसका यह कहकर बचाव किया कि *लाल भवन का सपना* की यू की व्याख्या ग़लत है लेकिन वे राजनीतिक रूप से वफादार हैं। महान अग्रवर्ती छलाँग के वक़्त स्वयं उनकी आलोचनी की गयी।

[32] इस विषय पर वू शिह-चाङ की कृति अंग्रेज़ी में अनूदित है : ऑन *'लाल भवन का सपना'* (क्लैरंडन प्रेस, 1961)

[33] यहाँ माओ के विचार लू शुन से मेल खाते हैं।

[34] माओ द्वारा यहाँ दिये गये आँकड़े 1946 में गृह युद्ध नये सिरे से छिड़ जाने जाने से अधिक जापान विरोधी युद्ध के आरम्भिक दिनों के हैं जब जन मुक्ति सेना की ताकत कम से कम पाँच लाख तक की हो गयी थी।

[35] जनवरी 1949 में, पेइपिंग (जिस नाम से तब उसे जाना जाता था) में राष्ट्रवादी गैरीसन के कमाण्डर जनरल फू त्सो-इ ने व्यर्थ की बरबादी से बचने के लिए बिना लड़े ही आतमसमर्पण कर दिया। बाद में पीकिङ सरकार में वह जल संरक्षण मंत्री बने।

[36] कहा जाता है कि प्रसिद्ध सम्राट शेन नुङ ने तीसरी शताब्दी ई.पू. में कृषि कला सिखायी थी, और ख़ास तौर पर वनस्पतियों के औषधीय गुणों का पता लगाया था।

[37] लुङ शान और यान शाओ संस्कृतियाँ, जो क्रमशः उत्तर-पूर्वी और उत्तर- पश्चिमी चीन में स्थित हैं, उत्तरपाषाण काल की दो उल्लेखनीय संस्कृतियाँ थीं। जैसा कि माओ कहते हैं, वे अपनी मृदभाँड कला के लिए विशेष रूप से जानी जाती हैं।

[38] *चुआङ-त्जू* नामक पुस्तक, जिसका एक अंश ही दूसरी शताब्दी ई.पू. के उत्तरार्द्ध में रहने वाले इसी नाम के व्यक्ति ने लिखा था, न केवल ताओ धर्म के शास्त्रीय ग्रन्थों में से एक है (*लाओ-त्जू* और *बुक ऑफ चेंजेस* के साथ) बल्कि चीन के इतिहास की महानतम साहित्यिक कृतियों में से भी एक है।

[39] नगोया विश्वविद्यालय के एक जापानी भौतिकीविद सकाटा शियूची का मानना था कि 'मूलभूत कण एक एकल, भौतिक, विभेदीकृत और असीम श्रेणी होते हैं जिनसे प्राकृतिक व्यवस्था बनी होती है।' इन विचारों को प्रस्तुत करने वाला उनका एक लेख जून 1965 में *रेड फ्लैग* में छपा था।

[40] सम्भवतः माओ जेन चि-यू द्वारा 1963 में प्रकाशित और 1973 में पुनर्मुद्रित लेखों के एक संग्रह की बात कर रहे हैं : *'हान एवं ताङ राजवंशों में बौद्ध विचारधारा पर संकलित निबन्ध,'* (पीकिङ, Jen-min ch'u-pan-she)। इन अध्ययनों में वह द्वन्द्ववाद के विषय में लेनिन को काफ़ी विस्तार से उद्धृत करते हैं।

[41] ताङ युङ-तुङ (1892-1964) जिन्हें जेन चि-यु अपना शिक्षक मानते हैं, बौद्ध धर्म के अग्रणी इतिहासकार थे, जिन्होंने हान, वेई, चिन और उत्तरी एवं दक्षिणी राजवंशों में चीनी बौद्ध धर्म के बारे में तथा भारतीय दर्शन के इतिहास आदि पर लिखा था। 1948 से लेकर 1954 में बीमार पड़ने तक वह पीकिङ विश्वविद्यालय में मानविकी के डीन थे।

[42] चान बौद्ध धर्म (जो उसके जापानी नाम

(शेष पृष्ठ 112 पर)

भारतीय कृषि में पूँजीवादी विकास

(1990 के बाद हुए परिवर्तनों का ब्योरा)

(दूसरी किश्त)

• सुखविन्दर

4. ग्रामीण ग़ैर-कृषि रोजगार

2001 की जनगणना के मुताबिक भारत की 72.8 प्रतिशत आबादी गाँवों में रह रही थी। लेकिन गाँवों में रहने वाली सारी आबादी कृषि के ऊपर निर्भर नहीं है। 1999-2000 में सिर्फ 76 प्रतिशत ग्रामीण श्रमिक ही कृषि पर निर्भर थे। भारत में हुए पूँजीवादी विकास की बदौलत ग्रामीण क्षेत्र में रोजगार में विविधता आयी है। अब ग्रामीण आबादी की कृषि के साथ-साथ गैर कृषि रोजगारों में भागीदारी बढ़ी है। इससे ग्रामीण भारत में भूमि सम्बन्धों के चरित्र में महत्त्वपूर्ण बदलाव आये हैं। आइये इस प्रक्रिया से सम्बन्धित आँकड़ों पर एक निगाह डालते हैं।

तालिका 47 से देखा जा सकता है कि 1972-73 में कुल श्रमिकों में गैर कृषि श्रमिकों का हिस्सा महज 26.1 प्रतिशत जो कि दो दशकों के दौरान (1993-94) में बढ़कर 35.4 प्रतिशत हो गया। 1972-73 से लेकर 1987-88 तक गैर कृषि रोजगार में तेज वृद्धि नजर आती है। जबकि 1987-88 से 1993-94 के बीच गैर कृषि रोजगार में लगभग ठहराव जैसी स्थिति देखी जा सकती है। लेकिन इसके बाद फिर से गैर कृषि रोजगार में तीखी वृद्धि हुई है। 2001 की जनगणना के मुताबिक भारत के कुल श्रमिकों में से 58.2 प्रतिशत श्रमिक कृषि पर निर्भर थे। इसका मतलब यह हुआ कि 41.8 प्रतिशत श्रमिक गैर कृषि रोज़गार पर निर्भर थे। इस तरह देखा जाये तो 1993-94 से 2001 के बीच गैर कृषि श्रमिकों की संख्या में 6.4 की वृद्धि हुई है।

ग्रामीण पुरुष श्रमिकों की बात करें तो 1983 में 77.5 प्रतिशत पुरुष श्रमिक कृषि में लगे हुए थे, जोकि 1999-2000 में 71.4 प्रतिशत रह गये। इस तरह इस समय के दौरान कृषि में लगे हुए पुरुष श्रमिकों की संख्या में 6.1 प्रतिशत की कमी आयी है। दूसरे शब्दों में इस समय के दौरान 30 प्रतिशत ग्रामीण पुरुष श्रमिक कृषि क्षेत्र से बाहर थे (इकोनॉमिक एण्ड पोलिटिकल वीकली, 19 फरवरी 2005, पृष्ठ 756)

1993-94 में भारत के ग्रामीण क्षेत्र में जी.डी.पी. में 34 प्रतिशत हिस्सा गैर कृषि क्षेत्र का था (इकोनॉमिक एण्ड पोलिटिकल वीकली, 2 अक्टूबर 2004, पृष्ठ 4433)। 1999-2000 में ग्रामीण एन.डी.पी. में गैर कृषि क्षेत्र का हिस्सा 45.59 प्रतिशत था। (इकोनॉमिक एण्ड पोलिटिकल वीकली, 19 फरवरी 2005, पृष्ठ 756)

तालिका 48 में भारत के ग्रामीण क्षेत्र में गैर कृषि रोजगार का राज्यवार ब्यौरा दिया गया है। गुजरात, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, केरल, राजस्थान, पश्चिम बंगाल आदि ऐसे राज्य हैं। जहाँ गैर कृषि रोजगार राष्ट्रीय औसत (25.9 प्रतिशत) से अधिक है। नेशनल सेम्पल सर्वे (एन.एस.एस.ओ.) के 50वें राउण्ड (1993-94) के मुताबिक 32.9 प्रतिशत ग्रामीण परिवार कृषि क्षेत्र से बाहर थे। 2001-02 के 57वें राउण्ड के मुताबिक पंजाब, हरियाणा तथा केरल के 50 प्रतिशत ग्रामीण परिवार कृषि क्षेत्र से बाहर थे। जबकि

तालिका-47 श्रमशक्ति (व्यक्तियों) की वार्षिक वृद्धि-दर
(मुख्य एवं अधीनस्थ श्रमिक), अखिल-भारत

	ग्रामीण				ग्रामीण + शहरी				कुल
	कृषि		गैरकृषि		कृषि		गैरकृषि		श्रमिकों में
वर्ष	व्यक्ति (मिलियन)	वृद्धि दर (%)	व्यक्ति (मिलियन)	वृद्धि दर (%)	व्यक्ति (मिलियन)	वृद्धि दर (%)	व्यक्ति (मिलियन)	वृद्धि दर (%)	ग़ैर-कृषि का हिस्सा (%)
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10
1972-73	169.1		28.5		174.9		61.8		26.1
1977-78	183.5	1.64	36.5	5.07	190.9	1.77	77.9	4.74	29.0
1983	198.9	1.62	45.1	4.32	207.6	1.69	98.2	4.09	32.1
1987-88	201.8	0.28	55.9	4.39	210.9	0.82	113.8	3.63	35.0
1993-94	202.4	नगण्य	57.0	0.33	210.7	नगण्य	115.8	0.29	35.4
1983 के मुक़ाबले 1993-94		0.17		2.36		0.15		1.66	

स्रोत : इण्डियन जरनल ऑफ एग्रीकल्चरल इकोनॉमिक्स, अप्रैल-जून, 1998, पृ. 144

तालिका 48 : ग्रामीण श्रमशक्ति में ग़ैर-कृषि श्रमिकों का प्रतिशत (पीएसएसएस)

(केवल पुरुषों के लिए)

राज्य	1972-73	1977-78	1983	1987-88	1993-94
(1)	(2)	(3)	(4)	(5)	(6)
आन्ध्र प्रदेश	21.4	19.7	25.6	25.90	24.4
बिहार	17.8	16.9	18.7	20.00	18.0
गुजरात	16.1	15.6	21.1	31.40	28.9
हरियाणा	19.9	22.5	27.8	19.10	39.1
हिमाचल प्रदेश	18.9	22.6	22.9	31.30	34.2
कर्नाटक	14.8	16.8	18.4	20.40	21.2
केरल	44.3	40.8	42.2	45.80	46.8
मध्य प्रदेश	9.6	10.8	12.8	14.70	12.8
महाराष्ट्र	17.6	19.6	20.4	24.20	24.7
उड़ीसा	18.4	15.4	21.8	25.10	21.3
पंजाब	20.6	22.2	22.5	31.20	31.9
राजस्थान	15.6	17.5	19.0	34.80	30.4
तमिलनाडु	24.6	26.1	31.1	34.80	36.0
उत्तर प्रदेश	18.1	19.8	21.3	21.10	23.7
पश्चिम बंगाल	22.1	22.3	26.9	27.80	35.3
सम्पूर्ण भारत	19.3	19.5	22.4	25.50	25.9

स्रोत : उपरोक्त पृ. 145

जम्मू-कश्मीर, पश्चिम बंगाल, हिमाचल प्रदेश तथा बिहार (जी हाँ बिहार) के लगभग 40 प्रतिशत ग्रामीण परिवार कृषि क्षेत्र के बाहर थे (इकोनॉमिक एण्ड पोलिटिकल वीकली, 19 फरवरी 2005, पृष्ठ 756)।

एन.एस.एस.ओ. के आँकड़ों के मुताबिक 1992 से 2004 के बीच ग्रामीण भारत में कृषि रोजगार में 13 प्रतिशत की कमी आयी है। भले ही भारत के ग्रामीण क्षेत्र में आबादी का बड़ा हिस्सा कृषि क्षेत्र में लगा हुआ है, लेकिन ग्रामीण क्षेत्र में सेवा क्षेत्र भी तेजी से विस्तारित हो रहा है। सेवा क्षेत्र में निर्माण, व्यापार, यातायात, संचार आदि आर्थिक गतिविधियाँ आती हैं। निर्माण के कामों में बढ़ोत्तरी ने ग्रामीण क्षेत्र में रोजगार की विविधता बढ़ाने में अहम भूमिका निभायी है।

दरअसल पुरुष श्रमिकों के मामले में ग्रामीण क्षेत्र में सेवा क्षेत्र में रोजगार में एन .एस.एस.ओ. के 59वें राउण्ड तथा 60वें राउण्ड के बीच 19 प्रतिशत की वृद्धि हुई है, जबकि महिला श्रमिकों के सम्बन्ध में यह बढ़ोत्तरी 25 प्रतिशत रही है।

प्रति हजार श्रमिकों के पीछे सेवा क्षेत्र में लगे श्रमिक

	60वाँ राउण्ड	59वाँ राउण्ड
ग्रामीण पुरुष	180	151
ग्रामीण महिलाएँ	65	53
शहरी पुरुष	590	601
शहरी महिलाएँ	530	497

स्रोत : इकोनॉमिक टाइम्स, 13 दिसम्बर, 2005

5. पट्टेदारी सम्बन्ध

पट्टेदारी कृषि क्षेत्र के उत्पादन सम्बन्धों की जाँच-पड़ताल के लिए एक और अहम सूचक है। जमीन के मालिक सामन्त तथा उनसे पट्टे पर जमीन लेकर, अपने औजारों से जमीन जोतकर, फसल तैयार होने पर सामन्त को लगान देने वाले काश्तकार सामन्ती उत्पादन सम्बन्धों को दर्शाने वाले दो अहम वर्ग हैं, जबकि कृषि में पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों के विकास के चलते पूँजीवादी भूस्वामी तथा उनके विरोधी उजरती कृषि मजदूर जन्म लेते हैं। जिसकी पड़ताल हम पहले ही इस लेख में कर चुके हैं। लेख के इस हिस्से में हम भारत के कृषि क्षेत्र में आजादी के बाद से पट्टेदारी सम्बन्धों में हुए परिवर्तनों की पड़ताल करेंगे।

इस बात के स्पष्ट सबूत उपलब्ध हैं कि आजादी के बाद के दशकों के दौरान पट्टेदारी की परिघटना में महत्त्वपूर्ण कमी आयी है तथा पट्टेदारी सम्बन्धों का चरित्र भी बदला है। आज भारत के कृषि क्षेत्र में पट्टेदारी का जो स्वरूप है, उसकी तुलना किसी भी रूप में आजादी के पहले के सामन्ती भारत में पायी जाने वाली पट्टेदारी से नहीं की जा सकती, क्योंकि अब काश्तकारों से गैर आर्थिक दबावों के जरिये बेगार के रूप में अधिशेष विनियोजन जैसी परिघटनाएँ नाम मात्र रह गयी हैं, जोकि सामन्ती उत्पादन सम्बन्धों की महत्त्वपूर्ण विशिष्टता थी।

हासिल आँकड़े वक्त गुजरने के साथ पट्टेदारी की परिघटना में महत्त्वपूर्ण कमी को दर्शाते हैं :

तालिका 49 : पट्टेदारी की परिघटना में परिवर्तन

वर्ष	पट्टे पर ली गयी भूमि जोतें (प्रतिशत में)	कृषि-अन्तर्गत कुल क्षेत्र में काश्तकारी अन्तर्गत क्षेत्र का प्रतिशत
1950-51		35.70
1953-54	39.80	20.34
1961-62	23.50	10.70
1971-72	17.60	9.25
1982	17.78	7.28
1992		8.28

स्रोत : 1950-51 के लिए उमवैर, 1961-62 के तथा 1971-72 के लिए भूमि जोतों के बारे में एन.एस.एस.ओ. की रिपोर्ट्स, 1982 के लिए, 'सर्वेक्षण' खण्ड 2 संख्या 2, अंक 33, अक्टूबर, 1987, 1992 के लिए एन.एस.एस.ओ. 48वाँ राउण्ड।

तालिका 50, अलग-अलग राज्यों में तथा कुल भारत में पट्टेदारी में कहीं अधिक तथा कहीं पर मामूली बढ़ोत्तरी दर्शाती है। बिहार एक ऐसा राज्य है जहाँ पर पट्टेदारी में तीखी गिरावट नजर आती है। इसकी एक वजह यह है कि बिहार में पट्टेदारी कानूनी तौर पर वर्जित है। बेशक ऐसे कानून कागजों में ही सिमटे रहते हैं। मगर उनके सारे लोग पट्टेदारी की ठीक रिपोर्ट नहीं देते। इसलिए बिहार के मामले में गलती की सम्भावना है। हरियाणा को छोड़ बाकी राज्यों में या तो पट्टेदारी में मामूली वृद्धि हुई है या यह लगभग स्थिर रही है। 1982 से 1992 के बीच तथा उसके बाद पट्टेदारी में इजाफे का

एक महत्त्वपूर्ण कारण उल्ट पट्टेदारी की परिघटना में हुई बढ़ोत्तरी है। सामन्ती पट्टेदारी विपरीत यह पूँजीवादी पट्टेदारी है, जहाँ धनी किसान (कृषि बुर्जुआ) विस्तारित पुनः उत्पादन के जरूरतों को पूरा करने के लिए गरीब तथा मझोले किसानों से जमीन ठेके पर लेते हैं। आगे चलकर हम इस परिघटना की अधिक चर्चा करेंगे।

तालिका 50 : विभिन्न राज्यों में कार्यरत जोतों के मोटे (समस्त-आकार) वर्गीकरण के अनुसार पट्टे पर दिये गये क्षेत्र का प्रतिशत

	कुल कार्यगत क्षेत्र में पट्टे पर दिये गये क्षेत्र का प्रतिशत	
वर्ष	1982	1992
आन्ध्र प्रदेश	6.23	9.57
असम	6.35	8.87
बिहार	10.27	3.91
गुजरात	1.95	3.34
हरियाणा	18.22	33.74
हिमाचल प्रदेश	3.20	4.83
जम्मू व कश्मीर	2.37	3.73
कर्नाटक	6.04	7.43
केरल	2.05	2.88
मध्य प्रदेश	3.56	6.30
महाराष्ट्र	5.20	5.48
उड़ीसा	9.92	9.48
पंजाब	16.07	18.83
राजस्थान	4.31	5.19
तमिलनाडु	10.92	10.89
उत्तर प्रदेश	10.24	10.49
पश्चिम बंगाल	12.34	10.40
सम्पूर्ण भारत	7.18	8.28

स्रोत : नेशनल सैम्पल सर्वे, एनएसएसओ, भारत सरकार के 37वें और 48वें चक्र के आधार पर

तालिका 51 में अलग-अलग आकार वाली क्रियाशील भमि जोतों के लिए पट्टे की अलग-अलग शर्तो के तहत पट्टे पर ली गयी जमीन का ब्योरा दिया गया है। इससे देखा जा सकता है कि 1992 में सभी आकार की क्रियाशील भूमि जोतों के मामले में असम, बिहार, कर्नाटक, मध्यप्रदेश, उड़ीसा, राजस्थान, उत्तर प्रदेश तथा पश्चिम बंगाल ऐसे राज्य हैं, जहाँ बटाईदारी पट्टेदारी की मुख्य शर्त है। दूसरी ओर पंजाब, हरियाणा, तमिलनाडु, महाराष्ट्र, गुजरात आदि ऐसे राज्य हैं जहाँ निश्चित नक़द भुगतान पट्टेदारी की मुख्य शर्त है। अन्य कुछ राज्यों में बटाईदारी तथा निश्चित नक़द भुगतान दोनों पट्टेदारी की मुख्य शर्तें हैं। पूरे देश के पैमाने पर देखा जाये तो बटाईदारी पट्टेदारी की मुख्य शर्त है। लेकिन एक दशक के भीतर क्रियाशील भूमि जोतों की सभी बानगियों (किस्मों) में इसमें कमी देखी जा सकती है। अलग-अलग राज्यों पर निगाह डालें तो असम, बिहार, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, जम्मू-कश्मीर, कर्नाटक, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, उड़ीसा, पंजाब, राजस्थान, तमिलनाडु आदि ऐसे राज्य हैं, जहाँ बटाईदारी की शर्त पर पट्टेदारी में कमी देखी जा सकती है। उत्तर प्रदेश के मामले में यह कमी उक्त राज्यों के मुकाबले कम है। जबकि गुजरात (एक हेक्टेयर तक की क्रियाशील भूमि जोतों को छोड़कर) केरल, पश्चिम बंगाल ऐसे राज्य हैं, जहाँ क्रियाशील भूमि जोतों की कुछ किस्मों को छोड़कर बटाईदारी की शर्त पर पट्टेदारी के रुझान में कमी आयी है और कुछ एक के मामले में बढ़ोत्तरी हुई है।

बिहार, गुजरात, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, जम्मू-कश्मीर, कर्नाटक, केरल, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, उड़ीसा, पंजाब, राजस्थान, तमिलनाडु, उत्तर प्रदेश, पश्चिम बंगाल आदि ऐसे राज्य हैं, जहाँ 1982 से 1992 के बीच निश्चित नक़द भुगतान की शर्त पर पट्टेदारी का रुझान बढ़ा है। दूसरी ओर आन्ध्र प्रदेश तथा असम में सभी आकार-वर्गों के मामले में उक्त रुझान में कमी आयी है। आन्ध्र प्रदेश के मामले में एक हेक्टेयर तक तथा एक से दो हेक्टेयर तक की जोतों के मामले में निश्चित नक़द भुगतान की शर्त पर पट्टेदारी का रुझान बढ़ा है जबकि बाकी मामलों में कमी का रुझान देखा जा सकता है। असम के मामले में एक हेक्टेयर तक तथा दो से चार हेक्टेयर तक की जोतों में उक्त रुझान में कमी आयी है, जबकि बाकी मामलों में यह रुझान बढ़ा है। अखिल भारत के पैमाने पर भी उक्त रुझान में बढ़ोत्तरी देखी जा सकती है।

1982-92 के बीच आन्ध्र प्रदेश, हिमाचल प्रदेश, जम्मू-कश्मीर, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश आदि ऐसे राज्य हैं जहाँ 4 हेक्टेयर से बड़ी क्रियाशील भूमि जोतों के मामले में बटाईदारी की शर्त पर जमीन पट्टे पर लेने के रुझान के कमी आयी है, जबकि बाकी राज्यों में 4 हेक्टेयर से बड़ी क्रियाशील भूमि जोतों के मामले में उक्त रुझान में बढ़ोत्तरी देखी जा सकती है। असम, गुजरात, हरियाणा, पंजाब, तमिलनाडु, पश्चिम बंगाल आदि ऐसे राज्य हैं, जहाँ निश्चित नक़द

तालिका 51 : कार्यरत जोतों के मोटे आकार-वर्गीकरण के लिए पट्टे की शर्तों के अनुसार पट्टे पर दिये गये क्षेत्र का वितरण

(प्रतिशत)

		1982					1992				
राज्य	आकार-समूह (हे.)	निश्चित धन	निश्चित उपज	बटाई उपज	भोगाधिकारी रेहन	अन्य शर्तें	निश्चित धन	निश्चित उपज	बटाई उपज	भोगाधिकारी रेहन	अन्य शर्तें
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12
आन्ध्र प्रदेश	0-1	11.36	64.20	21.53	0.00	2.91	26.34	18.76	19.32	1.3	34.28
	1.01-2.00	16.52	29.28	42.03	0.00	12.17	20.77	29.71	43.59	0	5.93

	2.01-4.00	66.02	31.84	1.17	0.00	0.98	35.69	33.25	16.97	0	14.09
	>4	41.22	24.66	30.76	0.00	3.37	28.04	11.43	40.2	0	20.34
	सभी आकार के	35.84	30.53	29.65	0.00	3.98	25.87	26.79	28.91	0.8	17.63
असम	0-1	56.05	6.94	18.50	1.50	17.01	10.55	0	15.35	0	74.11
	1.01-2.00	9.83	12.23	72.42	0.00	5.52	26.78	9.71	41.44	0	22.07
	2.01-4.00	19.94	21.81	51.92	0.00	6.33	14.46	9.71	18.82	1.01	56.00
	>4	40.36	0.00	57.77	1.88	0.00	44.92	0	20.88	0	34.21
	सभी आकार के	24.20	13.09	55.31	0.49	6.91	17.00	4.05	27.81	0.1	51.04
बिहार	0-1	8.62	2.76	73.21	3.92	11.49	8.48	12.07	48.37	1.55	29.53
	1.01-2.00	24.34	14.04	51.32	5.70	4.61	11.88	18.59	26.19	0	43.34
	2.01-4.00	6.50	2.75	90.17	0.22	0.36	8.30	1.63	30.36	0	59.71
	>4	2.68	14.03	83.29	0.00	0.00	11.08	0	38.82	0	50.10
	सभी आकार के	7.14	3.94	84.12	2.24	2.56	9.54	12.81	43.51	0.9	33.24
गुजरात	0-1	0.00	0.00	32.70	0.00	67.30	65.78	0	12.79	1.62	19.82
	1.01-2.00	50.00	0.00	0.00	50.00	0.00	42.98	0	39.10	0	17.92
	2.01-4.00	100.00	0.00	0.00	0.00	0.00	27.92	5.29	22.78	0	44.01
	>4	4.16	0.61	11.95	75.41	7.88	50.34	0	27.31	0	22.35
	सभी आकार के	15.15	1.52	33.33	40.91	9.09	39.91	1.65	23.74	0.46	34.24
हरियाणा	0-1	39.02	51.90	9.08	0.00	0.00	36.93	33.33	13.17	0	16.57
	1.01-2.00	35.09	0.00	64.91	0.00	0.00	70.83	23.27	5.90	0	0
	2.01-4.00	36.93	16.09	30.00	0.42	16.57	69.63	0	30.37	0	0
	>4	28.84	9.59	58.91	0.40	2.27	56.64	4.03	15.64	0	23.70
	सभी आकार के	27.85	12.47	53.61	0.44	5.63	61.44	5.19	19.86	0	13.51
हिमाचल प्रदेश	0-1	8.53	22.25	9.97	0.00	59.25	10.15	8.25	8.17	0	73.42
	1.01-2.00	27.60	0.00	72.40	0.00	0.00	26.91	9.86	12.53	0	50.70
	2.01-4.00	0.00	0.00	8.98	43.27	47.76	9.19	0	28.00	7.44	55.37
	>4	0.00	0.00	79.98	3.94	16.09	0	0	0	0	0
	सभी आकार के	10.00	21.67	45.42	9.58	13.33	13.64	8.98	10.87	0.43	66.08
जम्मू-कश्मीर	0-1	4.92	41.53	53.55	0.00	0.00	6.26	8.25	0	17.31	68.19
	1.01-2.00	4.63	1.85	87.96	0.00	5.56	16.43	49.45	9.91	0	24.21
	2.01-4.00	0.00	17.85	73.16	0.00	9.00	0	34.20	40.69	0	25.11
	>4	0.00	0.00	100.00	0.00	0.00	0	0	0	0	100.00
	सभी आकार के	2.49	14.43	78.61	0.00	4.48	9.37	30.21	11.81	6.17	42.44
कर्नाटक	0-1	21.51	5.19	63.65	0.00	9.64	28.93	5.43	20.28	0	45.36
	1.01-2.00	18.99	36.05	43.80	0.00	1.16	5.01	36.46	38.69	0	19.84
	2.01-4.00	0.00	15.27	79.27	4.73	0.73	37.78	4.30	16.29	0	41.63
	>4	12.35	5.09	81.88	0.68	0.00	12.92	11.38	29.51	0	46.20
	सभी आकार के	8.46	10.38	78.85	1.54	0.77	20.45	14.65	28.61	0	36.29
केरल	0-1	0.00	0.00	0.00	11.92	88.08	20.74	0	0.38	0	78.87
	1.01-2.00	100.00	0.00	0.00	0.00	0.00	8.99	0	11.59	0	79.42
	2.01-4.00	0.00	0.00	0.00	0.00	100.00	2.42	0	0	0	97.58
	>4	8.85	0.00	82.12	0.00	9.03	12.31	0	20.33	0	67.37
	सभी आकार के	12.73	0.00	0.00	9.09	78.18	15.95	0	2.13	0	81.92
मध्य प्रदेश	0-1	29.10	1.26	7.75	0.00	61.89	15.9	15.90	14.03	7.43	46.74
	1.01-2.00	36.67	0.00	63.33	0.00	0.00	8.46	24.81	34.20	2.41	30.12
	2.01-4.00	0.00	14.74	67.89	9.47	7.89	18.18	18.53	21.82	1.20	40.27
	>4	2.42	0.00	92.18	0.00	5.41	20.77	20.45	19.89	0	38.90
	सभी आकार के	5.04	3.36	84.03	1.68	5.88	15.26	21.44	24.85	2.54	35.91

महाराष्ट्र	0-1	48.92	1.72	25.24	23.08	1.03	48.71	8.30	9.14	0	33.86
	1.01-2.00	21.43	4.08	74.49	0.00	0.00	33.17	1.59	23.48	0	41.76
	2.01-4.00	6.10	8.22	84.51	0.00	1.17	41.71	17.48	24.88	0	15.93
	>4	14.56	3.15	77.20	2.85	2.25	15.17	3.23	36.74	0	44.87
	सभी आकार के	16.06	3.38	75.49	2.25	2.82	36.17	6.52	20.91	0	36.40
उड़ीसा	0-1	11.27	31.08	48.85	7.34	1.46	25.43	2.72	53.23	0	18.62
	1.01-2.00	7.31	4.08	85.73	0.00	2.88	19.56	5.43	47.60	0	27.41
	2.01-4.00	8.01	20.03	59.77	11.85	0.33	9.10	7.82	50.21	1.82	31.05
	>4	14.42	3.60	72.66	0.00	9.32	4.76	0	14.74	0	80.51
	सभी आकार के	8.20	12.86	70.74	2.41	5.79	19.66	4.68	50.88	0.22	24.56
पंजाब	0-1	59.12	0.00	22.85	0.00	18.03	31.91	27.22	12.93	0	27.94
	1.01-2.00	29.97	0.28	69.52	0.00	0.22	40.61	10.46	10.36	0	38.57
	2.01-4.00	34.12	9.06	56.27	0.00	0.55	49.54	17.12	12.50	0	20.84
	>4	49.16	3.29	39.37	3.36	4.82	67.44	7.02	11.50	0	14..05
	सभी आकार के	43.62	4.77	45.36	2.13	4.12	49.17	18.24	11.31	0	21.28
राजस्थान	0-1	5.91	30.38	31.22	0.00	32.49	21.87	6.09	7.27	0	64.77
	1.01-2.00	18.42	0.00	81.58	0.00	0.00	14.82	3.88	31.15	0	50.15
	2.01-4.00	4.92	0.88	40.71	1.28	52.21	10.87	17.93	38.84	0	32.36
	>4	3.82	1.12	25.35	65.15	4.56	18.22	40.29	19.12	0.53	21.85
	सभी आकार के	5.95	2.38	42.86	26.59	22.22	15.2	19.42	23.39	0.27	41.72
तमिलनाडु	0-1	23.47	27.56	36.25	5.08	7.65	32.18	20.33	20.56	6.32	20.62
	1.01-2.00	13.01	20.42	52.02	3.56	10.98	21.84	33.35	12.39	5.48	26.94
	2.01-4.00	25.82	18.99	48.47	1.17	5.55	36.05	16.67	26.05	0	21.23
	>4	35.23	15.17	23.39	1.11	25.10	35.52	5.34	15.90	0.82	42.43
	सभी आकार के	22.21	22.84	43.05	2.84	9.05	32.44	20.48	16.12	4.59	26.37
उत्तर प्रदेश	0-1	23.23	14.19	51.94	0.98	9.67	14.95	11.04	41.82	0.08	32.11
	1.01-2.00	7.16	3.93	78.73	0.20	9.98	6.64	20.86	51.09	0.61	20.80
	2.01-4.00	16.04	3.37	73.05	0.94	6.60	8.31	13.23	43.83	0	34.63
	>4	8.17	10.13	70.02	0.36	11.32	1.92	13.74	36.94	0	47.40
	सभी आकार के	5.29	3.00	32.99	54.39	4.33	9.24	15.20	46.45	0.27	28.84
पश्चिम बंगाल	0-1	0.16	10.01	53.28	0.00	36.55	6.60	13.18	44.80	1.65	33.76
	1.01-2.00	10.21	1.15	85.31	0.19	3.15	13.35	8.55	55.91	0.25	21.94
	2.01-4.00	0.56	27.36	64.80	0.00	7.28	11.64	4.25	45.12	3.71	35.28
	>4	0.92	22.17	26.64	0.00	50.26	44.08	0	55.92	0	0
	सभी आकार के	3.45	14.48	67.78	0.59	13.69	8.64	11.66	46.47	1.53	31.70
सम्पूर्ण भारत	0-1	15.20	13.77	50.98	2.44	17.61	18.17	12.36	33.19	1.40	34.88
	1.01-2.00	11.01	6.99	76.49	0.00	5.51	15.11	19.09	40.92	0.81	24.07
	2.01-4.00	16.62	11.34	59.90	1.39	10.75	24.18	14.76	30.15	0.46	30.45
	>4	19.33	8.20	57.13	10.12	5.23	30.94	11.69	23.10	0.09	34.19
	सभी आकार के	15.73	9.07	64.52	3.23	7.46	18.97	14.51	34.39	0.98	31.15

स्रोत : नेशनल सैम्पल सर्वे, एनएसएसओ, भारत सरकार के 37वें और 48वें चक्र के आधार पर

भुगतान की शर्त पर जमीन पट्टे पर लेने की दर काफी ऊँची है। इससे प्रकट होता है कि खुशहाल मध्यम तथा धनी किसान तेजी से पट्टेदारी बाजार में उतर रहे हैं और अधिक से अधिक जमीन पट्टे पर ले रहे हैं।

तालिका 52 में अलग-अलग राज्यों में 1971-72 से 1991-92 के बीच पूर्ण स्वामित्व वाली जोतों तथा पूर्णतः पट्टे वाली जोतों का प्रतिशत दिखाया गया है। तालिका से देखा जा सकता है कि हिमाचल प्रदेश तथा राजस्थान को छोड़कर बाकी सभी प्रमुख राज्यों में स्वामित्व वाली जोतों की संख्या बढ़ी है। उक्त राज्यों में भी स्वामित्व में मामूली गिरावट आयी है। आन्ध्र प्रदेश, गुजरात, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, महाराष्ट्र, राजस्थान, तमिलनाडु, उत्तर प्रदेश, पश्चिम बंगाल आदि ऐसे राज्य हैं, जहाँ पट्टे पर ली गयी जोतों की संख्या

बढ़ी है, भले ही ज्यादातर मामलों में यह बढ़ोत्तरी मामूली है। अखिल भारत के पैमाने पर देखें तो 1971-72 से 1991-92 तक स्वमित्व में वृद्धि नजर आती है। 1971-72 में 74.31 प्रतिशत पूर्ण स्वामित्व वाली जोतें थीं, जोकि 1991-92 में बढ़कर 81.98 प्रतिशत हो गयी। इस तरह इस समय के दौरान स्वामित्व में 7.67 प्रतिशत की वृद्धि हुई, जबकि पट्टेदारी के मामले में इसी ठहराव जैसी स्थिति रही।

तालिका 53 में अलग-अलग राज्यों में अलग-अलग आकार की क्रियाशील भूमि जोतों का कुल पट्टे पर ली गयी जमीन में हिस्सा दिखाया गया है। सामन्ती उत्पादन सम्बन्धों तहत गरीब भूमिहीन किसान अपने गुजारे के लिए सामन्तों से जमीन पट्टे पर लेते थे, सामन्ती लगान काश्तकार किसानों को बेहाल किये रहता था, इसी लगान की बदौलत जमींदार ऐय्याशी करते थे। लेकिन अब कृष्णि में पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों के चलते स्थिति बदल चुकी है। अब भारत के गाँवों में सामन्ती शोषण-उत्पीड़न की जगह, पूँजीवादी शोषण-उत्पीड़न ने ले ली है। भारतीय कृषि में पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों के हावी होने के चलते उलट पट्टेदारी (रिवर्स टेनेंसी) का चलन भी बढ़ा है। अब पट्टेदारी बाजार में जमीन पट्टे पर ले सकना छोटे किसानों की पहुँच से बाहर होता जा रहा है। विस्तारित पुनः उत्पादन पूँजीवादी उत्पादन की लाजमी शर्त है। पूँजीवादी खेती, कृषि बुर्जुआ के लिए अधिक से अधिक जमीन हासिल करने की भूख को लगातार बढ़ाती है। हमारे देश में लैण्ड सीलिंग जैसे कानून एक हद तक कृषि बुर्जुआ द्वारा अधिक जमीन खरीदे जाने के रास्ते में रुकावट बनते हैं, इसलिए कृषि बुर्जुआजी जमीन की अपनी जरूरत पर जमीन लेकर पूरी कर रही है।

तालिका 54 से देखा जा सकता है कि 1992 में पट्टे पर लिए गये कुल क्षेत्रफल में से असम में 41 प्रतिशत, गुजरात में 85.4 प्रतिशत, हरियाणा में 96.6 प्रतिशत, हिमाचल प्रदेश में 50.70 प्रतिशत, कर्नाटक में 77.3 प्रतिशत, महाराष्ट्र में 89.8 प्रतिशत, पंजाब में 87.6 प्रतिशत, राजस्थान में 87.9 प्रतिशत, तमिलनाडु में 43.2 प्रतिशत तथा उत्तर प्रदेश में 42.3 प्रतिशत खुशहाल मध्यम तथा धनी किसानों (2-4 हेक्टेयर. 74 हेक्टेयर) के पास था। अखिल भारत के पैमाने पर देखा जाये तो पट्टे पर लिये कुल क्षेत्रफल में खुशहाल मध्यम तथा धनी किसान का हिस्सा 64.5 प्रतिशत था जबकि सीमान्त किसानों का हिस्सा महज 16.3 प्रतिशत था जबकि इस समय कुल किसानों में 60 प्रतिशत किसान सीमान्त किसान (1 हेक्टेयर के कम जमीन वाले) थे। 1992 के बाद भारतीय कृषि

तालिका 52 : ग्रामीण भारत में काश्तकारी की बदलती स्थिति, 1971-72 से 1991-92 : प्रमुख राज्य

(प्रतिशत)

राज्य	वर्ष	पूर्ण स्वामित्व वाली खुद-काश्त जोतें	मिश्रित जोतें	पूर्णतः पटटे पर ली गयी जोतें	न स्वामित्व में न पट्टे पर ली गयी जोतें	स्वामित्व वाली पट्टे पर ली गयी जोतें	पट्टे पर लिया गया क्षेत्र	न स्वामित्व में न पट्टे पर लिया गया क्षेत्र
1	2	3	4	5	6	7	8	9
आन्ध्र प्रदेश	1971-72	78.34	20.94	0.72		90.98	9.02	
	1981-82	83.45	15.27	1.04	0.23	92.98	6.23	0.79
	1991-92	79.69	13.32	2.43	4.56	88.49	9.57	1.94
असम	1971-72	75.27	7.83	18.90		80.31	19.69	
	1981-82	83.93	10.77	3.50	1.80	90.99	6.35	2.66
	1991-92	79.88	5.07	7.35	7.70	85.84	8.87	5.29
बिहार	1971-72	60.24	39.03	0.73		85.50	14.50	
	1981-82	78.03	20.04	1.01	0.56	88.68	10.27	1.05
	1991-92	86.02	1.90	5.56	6.52	92.81	3.91	3.28
गुजरात	1971-72	90.68	8.61	0.71		96.09	3.91	
	1981-82	94.61	3.80	1.34	0.25	97.80	1.95	0.25
	1991-92	92.83	2.36	2.35	2.46	92.70	3.34	3.96
हरियाणा	1971-72	62.65	33.73	3.62		76.74	23.26	
	1981-82	72.29	25.51	2.20		80.31	18.22	1.65
	1991-92	78.96	12.41	4.83	3.80	66.07	33.74	0.19
हिमाचल प्रदेश	1971-72							
	1981-82	87.24	12.27	0.49		94.60	3.20	2.20
	1991-92	84.08	13.80	5.01	0.71	92.18	4.83	2.99
जम्मू-कश्मीर	1971-72	85.78	13.78	0.44		91.81	8.19	
	1981-82	88.16	11.73	0.11		95.19	2.37	2.44
	1991-92	91.20	5.35	0.52	2.93	94.44	3.73	1.83
कर्नाटक	1971-72	71.18	22.84	5.98		84.11	15.89	

	1981-82	83.14	14.57	1.78	0.51	92.12	6.04	1.84
	1991-92	80.35	6.14	3.73	9.78	84.53	7.43	8.04
केरल	1971-72	82.67	9.94	7.39		91.41	8.59	
	1981-82	90.89	4.87	2.92	1.32	95.52	2.05	2.43
	1991-92	90.99	2.54	3.21	3.26	95.37	2.88	1.75
मध्य प्रदेश	1971-72	78.98	15.71	5.31		92.54	7.46	
	1981-82	81.91	14.19	1.13	2.77	92.65	3.56	3.79
	1991-92	80.21	5.06	6.48	8.25	86.53	6.30	7.17
महाराष्ट्र	1971-72	88.03	10.54	1.43		93.83	6.17	
	1981-82	87.15	9.29	2.69	0.87	94.21	5.20	0.59
	1991-92	89.22	5.53	2.40	2.85	90.50	5.48	4.02
उड़ीसा	1971-72	67.76	27.70	4.54		86.54	13.46	
	1981-82	74.27	24.06	1.49	0.18	83.97	9.92	6.12
	1991-92	70.46	17.69	1.70	10.15	84.41	9.48	6.11
पंजाब	1971-72	47.05	48.17	4.78		71.99	28.01	
	1981-82	76.19	21.71	1.64	0.46	82.21	16.07	1.72
	1991-92	80.27	15.60	1.43	2.70	80.82	18.83	0.35
राजस्थान	1971-72	91.08	8.30	0.62		94.72	5.28	
	1981-82	89.53	8.51	1.52	0.44	94.47	4.31	1.22
	1991-92	90.32	6.22	1.55	1.91	92.41	5.19	2.40
तमिलनाडु	1971-72	68.35	27.35	4.30		86.94	13.01	
	1981-82	70.45	19.70	8.56	1.29	87.37	10.92	1.71
	1991-92	74.56	11.02	5.82	8.60	84.91	10.89	4.20
उत्तर प्रदेश	1971-72	72.18	26.34	1.48		86.99	13.01	
	1981-82	78.53	20.61	0.82	0.04	88.05	10.24	1.70
	1991-92	80.84	14.47	2.64	2.05	88.45	10.49	1.06
पश्चिम बंगाल	1971-72	65.44	31.28	3.28		81.26	18.74	
	1981-82	71.58	19.37	7.02	2.03	86.18	12.34	1.48
	1991-92	75.40	12.00	5.27	7.33	85.74	10.40	3.86
सम्पूर्ण भारत	1971-72	74.31	21.83	3.86		89.43	10.57	
	1981-82	80.58	16.24	2.37	0.81	91.08	7.18	1.74
	1991-92	81.98	8.87	3.85	5.30	87.91	8.28	3.81

स्रोत : इण्डियन जरनल ऑफ एग्रीकल्चरल इकोनॉमिक्स, जुलाई-सितम्बर 2000, पृ. 297-98

पूँजीवादी राह पर सरपट दौड़ी है, इस समय के दौरान कॉरपोरेट कृषि तथा ऐग्रीबिजनस (जिसके बारे में विस्तार से चर्चा आगे चलकर करेंगे) का चलन बढ़ा है। इससे आसानी से यह नतीजा निकाला जा सकता है कि 1992 के बाद उक्त रुझान में और अधिक इजाफा हुआ है।

नेशनल सैम्पल सर्वे संगठन के 48वें राउण्ड के मुताबिक 1991-92 में ग्रामीण भारत में कुल कृषि क्षेत्र में से सिर्फ 8.3 प्रतिशत क्षेत्र ही पट्टेदारी के अधीन था। जोकि 10.27 मिलियन जोतों में बँटा हुआ था, यह उस समय कुल क्रियाशील जोतों का 11 प्रतिशत था। उक्त 8.3 प्रतिशत पट्टेदारी के तहत क्षेत्रफल में से सीमान्त किसानों का हिस्सा सिर्फ 16.3 प्रतिशत था जबकि 42. 9 प्रतिशत क्षेत्रफल पर धनी किसान काबिज थे। (तालिका 53)। 1992 में कुल क्रियाशील भूमि जोतों में से 81.98 प्रतिशत जोतें स्वामित्व में तथा खुदकाश्त थीं जबकि पूरी तरह पट्टेदारी वाली जोतें कुल जोतों का महज 3.85 प्रतिशत थी (तालिका 52)।

आजादी के समय भारत में कुल क्रियाशील भूमि जोतों में से 35.7 प्रतिशत क्षेत्रफल पट्टेदारी के अधीन था, जोकि 1991-92 में घटकर 8.3 प्रतिशत रह गया। इससे भारत में काश्तकार किसानों की संख्या का अन्दाजा लगाया जा सकता है। भारत के 'मार्क्सवादी' नरोदवादियों के मुताबिक भारत में नयी जनवादी क्रान्ति की धुरी कृषि क्रान्ति है। "जमीन जोतने वाले की" यह नारा भारतीय कृषि क्रान्ति का केन्द्रीय नारा होगा। भारत में आजादी के बाद के दशकों में मालिक किसानों की संख्या में तेज वृद्धि तथा काश्तकार किसानों की संख्या में तेज रफ्तार कमी, हमारे नरोदवादियों के लिए एक दुखद समाचार है, क्योंकि अब "जमीन जोतने वाले को" के नारे के इर्द-गिर्द "भूमिहीन किसानों" की लामबन्दी के जरिये, भारत की राज्यसत्ता पर काबिज होने की इनकी हसरत, महज एक भोला सपना बनकर रह गयी है, क्योंकि जब यहाँ भूमिहीन काश्तकार किसान ही

नहीं रहे तो फिर 'जमीन जोतने वाले की' के नारे पर 'दीर्घकालीक जनयुद्ध' कौन लड़ेगा?' लेकिन किसानों से हमारे नरोदवादियों का ख़ास ही लगाव है। किसान भले ही भूमिहीन काश्तकार हों या मालिक, इससे इन्हें कोई फ़र्क नहीं पड़ता। काश्तकार किसानों के लिए जमीन की लड़ाई लड़ने की जमीन अगर भारत में नहीं रही तो क्या हुआ, धनी किसानों के मुनाफे बढ़ाने की लड़ाई तो यह लड़ ही सकते हैं और इसी धन्धे में आजकल भारत के 'मार्क्सवादी' नरोदवादी लगे हुए हैं, कुछ पूरे जोशो-ख़रोश के साथ और कुछ थके-हारे तरीके से।

तालिका-53 : पट्टे पर लिये गये कुल क्षेत्र में खेतों के विभिन्न आकार-वर्गों के हिस्से में परिवर्तन (कार्यरत जोतों पर आधारित)

राज्य	आकार-वर्ग (हेक्टेयर में)	पट्टे पर लिये गये कुल क्षेत्र में प्रतिशत हिस्सा 1982	1992
(1)	(2)	(3)	(4)
आन्ध्र प्रदेश	1 से कम	12.69	20.20
	1 से 2	16.40	24.40
	2 से 4	28.53	29.20
	4 से ज्यादा	42.37	26.20
	सभी आकारों के	100.00	100.00
असम	1 से कम	18.15	26.90
	1 से 2	30.24	30.80
	2 से 4	38.43	13.90
	4 से ज्यादा	13.24	28.50
	सभी आकारों के	100.00	100.00
बिहार	1 से कम	29.73	45.80
	1 से 2	39.74	35.30
	2 से 4	20.82	17.30
	4 से ज्यादा	9.73	1.60
	सभी आकारों के	100.00	100.00
गुजरात	1 से कम	7.87	7.30
	1 से 2	2.26	7.30
	2 से 4	11.27	43.60
	4 से ज्यादा	78.55	41.80
	सभी आकारों के	100.00	100.00
हरियाणा	1 से कम	3.83	1.00
	1 से 2	4.24	2.40
	2 से 4	32.97	14.40
	4 से ज्यादा	58.97	82.20
	सभी आकारों के	100.00	100.00
हिमाचल प्रदेश	1 से कम	33.47	49.30
	1 से 2	33.88	27.20
	2 से 4	16.15	23.50
	4 से ज्यादा	16.41	0.00
	सभी आकारों के	100.00	100.00
जम्मू-कश्मीर	1 से कम	17.80	21.10
	1 से 2	31.05	51.80
	2 से 4	43.58	26.00
	4 से ज्यादा	7.56	1.00
	सभी आकारों के	100.00	100.00
कर्नाटक	1 से कम	3.56	7.00
	1 से 2	11.17	15.70
	2 से 4	23.25	12.40
	4 से ज्यादा	56.29	65.00
	सभी आकारों के	100.00	100.00
केरल	1 से कम	57.72	39.00
	1 से 2	18.69	30.40
	2 से 4	248.31	13.50
	4 से ज्यादा	20.76	17.20
	सभी आकारों के	100.00	100.00
मध्य प्रदेश	1 से कम	4.11	8.30
	1 से 2	11.68	18.50
	2 से 4	17.53	35.60
	4 से ज्यादा	66.66	37.70
	सभी आकारों के	100.00	100.00
महाराष्ट्र	1 से कम	3.21	4.00
	1 से 2	2.86	6.20
	2 से 4	16.56	16.50
	4 से ज्यादा	77.39	73.30
	सभी आकारों के	100.00	100.00
उड़ीसा	1 से कम	17.15	25.80
	1 से 2	53.59	45.60
	2 से 4	19.94	23.40
	4 से ज्यादा	39.13	5.20
	सभी आकारों के	100.00.	100.00
पंजाब	1 से कम	2.57	5.70
	1 से 2	10.41	6.70
	2 से 4	21.60	21.30
	4 से ज्यादा	65.40	66.30
	सभी आकारों के	100.00	100.00
राजस्थान	1 से कम	2.77	7.00
	1 से 2	3.89	5.10
	2 से 4	24.17	12.40
	4 से ज्यादा	69.23	75.50
	सभी आकारों के	100.00.	100.00
तमिलनाडु	1 से कम	24.18	28.70
	1 से 2	28.85	28.20

6. ग्रामीण भारत में बिजलीकरण

बिजलीकरण अर्थव्यवस्था में हुए उत्पादक शक्तियों के विकास एक अन्य अहम सूचक है। आजादी से बाद भारत के ग्रामीण क्षेत्र में बिजलीकरण में तीखी वृद्धि का रुझान देखा जा सकता है। नीचे दिये गये आँकड़े इस रुझान को दर्शाते हैं :

	2 से 4	22.50	24.70
	4 से ज्यादा	14.47	18.50
	सभी आकारों के	100.00	100.00
उत्तर प्रदेश	1 से कम	21.46	26.60
	1 से 2	28.49	31.10
	2 से 4	27.76	25.20
	4 से ज्यादा	22.07	17.10
	सभी आकारों के	100.00	100.00
पश्चिम बंगाल	1 से कम	31.93	50.70
	1 से 2	26.27	35.70
	2 से 4	25.48	12.30
	4 से ज्यादा	11.61	1.30
	सभी आकारों के	100.00	100.00
सम्पूर्ण भारत	1 से कम	15.57	16.30
	1 से 2	19.57	19.30
	2 से 4	23.86	21.60
	4 से ज्यादा	41.03	42.90
	सभी आकारों के	100.00	100.00

स्रोत : इण्डियन जरनल ऑफ एग्रीकल्चरल इकोनॉमिक्स, जुलाई-सितम्बर 2000, पृ. 243-44-45

तालिका 54 से देखा जा सकता है कि 1950-51 में भारत के सिर्फ 3061 गाँवों का ही बिजलीकरण हुआ था, जोकि उस समय भारत के कुल गाँवों का 0.5 प्रतिशत बनते थे। मार्च 2003 में विद्युतीकृत हुए गाँवों की संख्या बढ़कर 4,92,325 हो गयी जोकि कुल गाँवों का 83.8 प्रतिशत बनते थे। इस तरह देखा जा सकता है कि आजादी के बाद 1950-51 से 2003 के बीच भारत के विद्युतीकृत गाँवों की संख्या में 160 गुना वृद्धि हुई है।

तालिका 55 से देखा जा सकता है कि आन्ध्र प्रदेश, गोवा, गुजरात, केरल, महाराष्ट्र, नगालैण्ड, पंजाब, सिक्किम, तमिलनाडु आदि ऐसे राज्य हैं, जहाँ गाँवों का बिजलीकरण लगभग मुकम्मिल हो चुका है। छत्तासगढ़, हिमाचल प्रदेश, जम्मू-कश्मीर, कर्नाटक, मध्यप्रदेश, मणिपुर, मिजोरम, राजस्थान, त्रिपुरा आदि ऐसे राज्य हैं पर गाँवों का बिजलीकरण लगभग मुकम्मिल (90 प्रतिशत) हो चुका है। उत्तर प्रदेश, मेघालय आदि कुछेक राज्य ही ऐसे हैं, जो इस मामले में काफी पीछे हैं। इसके इलावा सात केन्द्र शासित राज्यों में भी गाँवों का बिजलीकरण मुकम्मिल हो चुका है।

1951 में पूरे भारत में बिजली से चलने वाले पम्प सेटों तथा ट्यूबवेलों की संख्या 26,000 थी जोकि 1972 में बढ़कर 16,18,000 हो गयी तथा मार्च 2003 में यह संख्या 1,37,92,427 हो चुकी थी (देखें, तालिका 55)। इस तरह देखा जा सकता है कि 1951 से 1972 के बीच विद्युतचालित पम्प सेटों और ट्यूबवेलों की संख्या में 62 गुना से अधिक वृद्धि हुई जबकि 1951 से 2003 के यह वृद्धि 530 गुना से भी अधिक रही है।

1950-51 में भारतीय कृषि में बिजली की खपत 0.199 अरब किलोवाट घण्टे थी, जो कि 2001-02 में बढ़कर 130.99 अरब किलोवाट हो गयी (स्रोत : अलग-अलग सालाना आर्थिक सर्वेक्षण तथा हैण्डबुक ऑफ स्टैटिस्टिक्स, रिर्जव बैंक ऑफ इण्डिया) इस तरह भारतीय कृषि में बिजली की खपत में 657 गुना से भी अधिक की वृद्धि हुई है।

7. भारत के ग्रामीण क्षेत्र में कर्ज की सुविधाएँ

आजादी के बाद भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में संस्थागत कर्ज सुविधाओं का तेजी से विस्तार हुआ है, जिसने ग्रामीण भारत के कृषि सहित अन्य क्षेत्रों में पूँजी निर्माण तथा इस तरह पूँजीवादी रास्ते पर कृषि के विकास में अहम भूमिका निभायी है। भारत के ग्रामीण क्षेत्र में संस्थागत कर्ज सुविधाओं के विस्तार से ग्रामीण आबादी की कर्ज के लिए गैर संस्थागत (सूदख़ोरों आदि) स्रोतों पर निर्भरता अगर ख़त्म नहीं हुई तो काफी हद तक कम जरूर हुई है। भारतीय कृषि को अर्द्ध-सामन्ती उत्पादन सम्बन्धों के शिकंजे में जकड़ी हुई देखने वालों की अपनी थीसिस के हक में एक अहम दलील यह है कि भारत के ग्रामीण क्षेत्र में अभी भी सूदख़ोरी का बोलबाला है। आइये तथ्यों के जरिये सच्चाई तक पहुँचने की मार्क्सवादी पद्धति अपनाते हुए देखते हैं कि इसके सम्बन्ध में सच्चाई क्या है।

तालिका 54 : गाँवों का विद्युतीकरण

	विद्युतीकृत गाँव	
वर्ष	संख्या	गाँवों की कुल संख्या का प्रतिशत
1950-51	3,061	0.5
1955-56	7,294	1.3
1960-61	21,754	3.8
1965-66	45,148	7.8
1968-69	73,739	12.8
1970-71	1,06,774	18.5
1973-74	1,56,729	27.2
1977-78	2,16,863	37.6
1978-79	2,32,770	40.4
1979-80	2,49,799	43.4
1980-81	2,72,625	47.3
1981-82	2,96,511	51.5
1982-83	3,23,881	56.2
1983-84	3,47,561	60.3
1984-85	3,70,332	64.2
1985-86	3,90,294	67.7
1986-87	4,14,895	71.2
1987-88	4,35,653	75.2
1988-89	4,55,491	78.4
1989-90	4,70,580	81.3
1990-91	4,78,966	82.7
31 मार्च, 2003	4,92,325	83.8

स्रोत : आईईआईवाई, 1991-92, स्टेटिस्टिकल एब्सट्रेक्ट ऑफ पंजाब, 2004

तालिका 55 : भारत में ग्रामीण विद्युतीकरण की राज्यवार प्रगति, 31 मार्च, 2003

राज्य	विद्युतीकृत सिंचाई पम्पिंग सेटों, ट्यूबवेलों की संख्या	आबादी वाले गाँवों की कुल संख्या (1991)	विद्युतीकृत गाँवों की संख्या	गाँवों की कुल संख्या में विद्युतीकृत गाँवों का %
(1)	(2)	(3)	(4)	(5)
(क) राज्य				
आन्ध्र प्रदेश	2249894	26586*	26565	100.0
अरूणांचल प्रदेश		3649*	2316	63.5
असम	3675	24685	19039	77.1
बिहार	277085	67513	48048	71.2
छत्तीसगढ़	90519	19720	18321	92.9
गोवा	7206	360	360	100.0
गुजरात	764564	18028*	17940	100.0
हरियाणा	435537	6759	6759	100.0
हिमाचल प्रदेश	7389	16997	16890	99.4
जम्मू-कश्मीर	9123	6477 (+)	6300	91.3
झारखण्ड		(a)*		
कर्नाटक	11402209	27066	26767	98.9
केरल	417640	1384	1384	100.0
मध्य प्रदेश	1320923	51806	50400	97.3
महाराष्ट्र	2417075	40412*	40351	100.0
मणिपुर	45	2182	2007	92.0
मेघालय	65	5484	2757	50.3
मिजोरम		698	691	99.0
नगालैण्ड	176	1216	1216	100.0
उड़ीसा	74625	46989	37307	79.4
पंजाब	835651	12428	12428	100.0
राजस्थान	678466	37889	36885	97.4
सिक्किम		447 ($)	405	100.0
तमिलनाडु	1793948	15822	15822	100.0
त्रिपुरा	2757	855	817	95.6
उत्तर प्रदेश	835642	97122	55230	56.9
उत्तरांचल	17007	15681	12863	82.6
पश्चिम बंगाल	112322	37910	31367	82.7
(ख) केन्द्र शासित प्रदेश				
अण्डमान निकोबार				
द्वीप समूह	1	504*	501	100.0
चण्डीगढ़	623	25	25	100.0
दादरा नगर हवेली	953	71	71	100.0
दिल्ली	25883	199	199	100.0
लक्षद्वीप		7	7	100.0
पाण्डेचेरी	10418	263	263	100.0
दमन व दीव	1006	24	24	100.0
कुल योग (सम्पूर्ण भारत)	13792427	587258	492325	83.8

स्रोत : स्टेटिस्टिकल एब्सट्रेक्ट ऑफ पंजाब, पृ. 273

तालिका 56 से देखा जा सकता है कि 1969 में भारत के ग्रामीण क्षेत्र में 1443 बैंक शाखाएँ थीं जो कि भारत में कुल बैंक शाखाओं का महज 17.6 प्रतिशत थीं। 1969 में भारत के 14 प्रमुख व्यापारिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया गया था। यही समय भारत में 'हरित क्रान्ति' के दौर के नाम से भी जाना जाता है। उस समय बैंकों के राष्ट्रीयकरण का मुख्य मकसद भारत के ग्रामीण क्षेत्र में उभरी धनी किसानी (कृषि बुर्जुआजी) के आसानी से नकदी उपलब्ध करवाना था। 1969 के बाद भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में व्यापार बैंकों, क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों तथा कोआपरेटिव सोसाइटियों का तेजी से विस्तार हुआ। तालिक 56 से यही रुझान उभरकर सामने आता है। 1972 में भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में 5274 बैंक शाखाएँ थीं जोकि भारत में कुल बैंक शाखाओं का 36 प्रतिशत थीं। 1969 से 1990 तक भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में बैंक शाखाओं में वृद्धि का रुझान लगातार जारी रहा। 1990 में भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में बैंक शाखाओं की संख्या बढ़कर 34,867 हो गयी जोकि भारत में कुल बैंक शाखाओं का 58.2 प्रतिशत थीं। इस समय भारत के कुल व्यापार बैंकों की शाखाओं का आधे से भी अधिक हिस्सा ग्रामीण क्षेत्रों में था। 1990 से 1994 तक भारत के ग्रामीण क्षेत्र में बैंक शाखाओं की संख्या में निरपेक्ष रूप में वृद्धि हुई है जबकि सापेक्ष रूप से यह कम हुई है। इस समय के दौरान बैंक शाखाओं की संख्या तो 34,867 से बढ़कर 35.396 हो गयी पर भारत में कुल बैंक शाखाओं में इनका हिस्सा 58.2 प्रतिशत से घटकर 55.9 प्रतिशत रह गया। 1994 से 2002 तक भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में बैंक शाखाओं में निरपेक्ष गिरावट देखी जा सकती है। ग्रामीण आबादी को दिये जाने वाले कर्ज पर नजर डालें तो 1969 में इन व्यापारिक बैंकों द्वारा 1,150 मिलियन रुपये का कर्ज दिया गया जोकि पूरे भारत में कुल बैंक कर्ज का महज .3 प्रतिशत या 1969 के बाद ग्रामीण आबादी को दिये जाने वाले बैंक कर्ज में लगातार वृद्धि देखी जा सकती है। 1969 (1,150 मिलियन रुपये) से लेकर 2002 (66,68,190 मिलियन रुपये) अनुसूचित व्यापारिक बैंकों द्वारा ग्रामीण आबादी को दिये जाने वाले कर्ज में 57,984 गुना वृद्धि हुई है। 2002 में भारत में कुल बैंक कर्ज में से ग्रामीण आबादी को दिये जाने वाले कर्ज का हिस्सा 14.2 प्रतिशत था। 1990 के बाद इन व्यापारिक बैंकों द्वारा ग्रामीण आबादी को दिये जाने वाले कर्ज में लगातार वृद्धि का रुझान रहा है। 1991 से लेकर 2002 तक इन व्यापारिक बैंकों द्वारा ग्रामीण आबादी को दिये जाने वाले कर्ज में साढ़े तीन गुना वृद्धि हुई है। इस तरह देखा जा सकता है कि 1994 के बाद भले ही ग्रामीण क्षेत्रों में बैंक शाखाओं की संख्या घटी है पर इनके द्वारा ग्रामीण आबादी को दिये जाने वाले कर्ज में निरपेक्ष रूप से वृद्धि हुई है।

श्री अरविन्द का कहना है, 'भारत में हरित क्रान्ति के समय सूदख़ोरी के मुक़ाबले बैंक कर्जे की मात्रा में वृद्धि हुई

तालिका 56 : कार्यालयों की संख्या, कुल जमा एवं सकल बकाया ऋण, सभी अनुसूचित वाणिज्यिक बैंक, भारत, 1969 से 2002 (राशि रु. लाख में)

वर्ष	बैंक कार्यालयों की संख्या		बकाया ऋण		जमा		ऋण-जमा अनुपात (%)	
	ग्रामीण (संख्या)	कुल का %	ग्रामीण (रु. 10 मिलियन में)	कुल का %	ग्रामीण (रु. 10 मिलियन में)	कुल का %	ग्रामीण	सभी क्षेत्र
(1)	(2)	(3)	(4)	(5)	(6)	(7)	(8)	(9)
1969	1443	17.6	115	3.3	306	6.3	37.6	71.9
1970			193	4.5	400	7.3	48.3	78.1
1971			159	3.1	378	5.2	42.1	69.7
1972	5274	36.0	257	4.6	540	6.5	47.7	67.2
1973	6024	36.5	379	5.3	741	7.4	51.1	70.3
1974	6447	35.9	483	5.9	923	8.0	52.3	71.0
1975	7112	35.5	608	6.0	1171	8.5	51.9	73.5
1976	8588	36.6	870	6.4	1539	8.7	56.5	77.0
1977	10856	40.3	1105	7.2	2010	9.4	55.0	71.7
1978	12534	42.5	1530	8.4	2664	10.1	57.4	69.1
1979	14171	44.0	2003	9.3	3559	11.4	56.3	68.9
1980	16111	46.9	2643	10.7	4644	12.6	56.9	66.9
1981	19453	51.2	3600	11.9	5939	13.4	60.6	68.1
1982	21626	53.0	4473	12.5	7414	14.2	60.3	68.2
1983	23782	52.4	5576	13.6	8828	14.4	63.2	67.0
1984	25541	52.9	6589	13.5	9603	13.4	68.6	68.3
1985	29408	54.6	7489	14.1	11722	13.6	63.9	61.9
1986	29700	55.7	9387	14.5	14375	14.0	65.3	63.0
1987	30585	56.2	11127	15.3	17527	14.7	63.5	61.0
1988	31641	56.2	13452	15.3	20907	14.7	64.3	61.9
1989	33572	57.3	15546	14.8	24383	15.0	63.8	64.7
1990	34867	58.2	17352	14.2	28609	15.5	60.7	66.0
1991	35134	56.9	1859897	15.0	3100980	15.5	60.0	61.9
1992	35254	56.8	2069226	15.1	3574971	15.1	57.9	57.7
1993	35360	56.3	2290640	14.1	4140973	15.0	55.3	58.9
1994	35396	55.9	2467035	14.0	4933114	15.2	50.0	54.3
1995	33017	51.7	2517431	11.9	5181962	13.7	48.6	55.6
1996	32981	51.2	2901237	11.4	6131313	14.4	47.3	59.8
1997	32909	50.5	3252522	11.4	7376970	14.7	44.1	56.8
1998	32854	49.9	3759808	11.4	8670741	14.5	43.4	55.3
1999	32840	49.3	4209081	11.0	10269707	14.7	41.0	54.8
2000	32673	48.7	4875339	10.6	12053919	14.7	40.4	56.0
2001	32640	48.3	5443125	10.1	13943136	14.7	39.0	56.7
2002	32443	47.8	6668190	10.2	15942646	14.2	41.8	58.4

स्रोत : एग्रेरियन स्टडीज-2, फाइनेंशियल लिबरलाइजेशन एण्ड रूरल क्रेडिट इन इण्डिया, तूलिका बुक्स, पृ. XXVI

थी, फिर भी सूदख़ोरी तेजी से जारी रही। उनके बयान के इतने हिस्से को सच माना जा सकता है। आगे वह फरमाते हैं, "वैश्वीकरण के दौर में, बैंकों के निजीकरण से तथा ब्याजों की तरजीही दर ख़त्म होने के चलते बैंक कर्ज कम होने शुरू हो गये थे। एक बार फिर सूदख़ोरी में वृद्धि होनी शुरू हो गयी है। यह देखना होगा कि यह किस हद तक हुआ है।" (भारत का चरित्र अर्द्ध-सामन्ती क्यों (पंजाबी) पृष्ठ 7)

उक्त तालिका (56) से देखा जा सकता है कि श्री अरविन्द के बयान का पीछे का आधा हिस्सा किस तरह सच्चाई से रिक्त है। उक्त तालिका से देखा जा सकता है 1991 में जब से भारतीय हुक्मरानों ने उदारीकरण, निजीकरण तथा वैश्वीकरण की नीति यानी नयी आर्थिक नीति अपनाई है, इस समय के दौरान (1991-2002) भी ग्रामीण आबादी को दिये जाने वाले बैंक उधार में वृद्धि का रुझान जारी रहा है। वैसे भारतीय कृषि में हावी उत्पादन सम्बन्धों को समझने के लिए श्री अरविन्द द्वारा बनाये सभी मापदण्डों की तरह ही, यह मामला भी श्रीमान अरविन्द के लिए अभी जाँचने-परखने वाला है। अगर उन्होंने उक्त दावे से पहले तथ्यों की जाँच की होती तो हो सकता है, वह इस तरह के दावे ही न करते।

तालिका 57 से भी तालिका 56 वाला ही रुझान प्रकट होता है, यानी कृषि के संस्थागत उधार में वृद्धि हुई है। तालिका 57 से देखा जा सकता है कि 1992 में कृषि तथा सम्बद्ध गतिविधियों के लिए कुल संस्थागत कर्ज 49,908.8 करोड़ रुपये था, जो कि 2000 में बढ़कर 1,01,278.9 करोड़ रुपये हो गया, यानी इस समय कृषि तथा सम्बद्ध गतिविधियों के लिए संस्थागत कर्ज लगभग दोगुना हो गया। इस तरह 1992 में कृषि तथा सम्बद्ध गतिविधियों से जी.डी.पी. 1,85,712 करोड़ रुपये था, जोकि 2000 में बढ़कर 4,84,221 करोड़ रुपये हो गया। यानी 1992 से 2000 तक कृषि तथा सम्बद्ध गतिविधियों से जी.डी.पी. में ढाई गुना से भी अधिक इजाफा हुआ है।

तालिका 58 में कृषि सम्बद्ध गतिविधियों तथा कृषि को कर्ज के अनुपात का राज्यवार ब्यौरा दिया गया है। उसे देखा जा सकता है कि 1975-76 से 1990-91 तक असम को छोड़ बाकी सभी राज्यों में इस अनुपात में वृद्धि हुई है, जबकि 1990-91 से 2000-01 तक ज्यादातर राज्यों में इस अनुपात में गिरावट आयी है, बेशक यह गिरावट सापेक्ष ही है। सिर्फ आन्ध्र प्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र, राजस्थान, पंजाब, तमिलनाडु, उत्तर प्रदेश ही ऐसे राज्य हैं, उक्त समय के दौरान भी यह अनुपात बढ़ा है। अखिल भारत के स्तर पर देखा जाये तो 1975-76 स 1990-91 तक

तालिका 57 : भारतीय कृषि को प्रत्यक्ष संस्थागत ऋण (बकाया ऋण), बैंक ऋण समेत, तथा कृषि एवं सम्बद्ध गतिविधियों से जीडीपी, 1992-2000 (रु. करोड़)

वर्ष	सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों के प्रत्यक्ष कृषि ऋण	कृषि को निजी बैंकों का कुल ऋण	सहकारी, क्षेत्रीय, ग्रामीण बैंकों आदि से कृषि को संस्थागत ऋण	कृषि एवं सम्बद्ध गतिविधियों को कुल प्रत्यक्ष ऋण	कृषि एवं सम्बद्ध गतिविधियों से जीडीपी[c]
(1)	(2)	(3)	(4)	(5)	(6)
1992[(b)]	18,767[(b)]	31,141.8		49,908.8	185,712
1993	19,963[(b)]	34,262.8		54,225.8	208,265
1994	21,208[(b)]	36,988.3		58,196.3	241,967
1995	23,980[(b)]	40,738.4		64,718.4	278,773
1996	22,892	46,091.7	1,233	70,144.7	303,102
1997	25,826	50,920.6	1,953	78,699.6	362,605
1998	28,303	54,418.6	3,746	85,467.6	387,008
1999	31,681	57,407.5	3,257	92,345.5	459,900
2000	34,432	62,607.9	4,239	101,278.9	484,221

टिप्पणी :

(i) [(a)] कॉलम 1 और 2 के आँकड़े इंगित वर्ष के मार्च के अन्तिम शुक्रवार तक के हैं, 1992 को छोड़कर, जिसमें वे 26 जून से सम्बन्धित हैं। 'कृषि एवं सम्बद्ध गतिविधियों को प्रत्यक्ष संस्थागत ऋण' में हर प्रकार की ग्रामीण सहकारी ऋण समितियों, राज्य सरकारों और क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों द्वारा दिये गये ऋण शामिल हैं।

(ii) [(b)] वर्ष 1992 से 1995 के लिए सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों द्वारा कृषि को दिये गये प्रत्यक्ष ऋण के आँकड़ों में निजी बैंकों का समस्त ऋण शामिल लगता है। निजी बैंकों द्वारा ऋण बहुत ही कम है : 1995 में, इन बैंकों द्वारा कृषि को प्रत्यक्ष ऋण रु. 722 करोड़ और अप्रत्यक्ष ऋण केवल रु. 94 करोड़ था; 1996 में, ये आँकड़े क्रमशः रु. 912 और रु. 252 करोड़ थे।

स्रोत : फाइनेंशियल लिबरलाइजेशन एण्ड रूरल क्रेडिट इन इण्डिया, तूलिका बुक्स, पृ.45

तालिका 58 : कृषि को ऋण एवं कृषि से घरेलू उत्पाद का अनुपात, राज्यवार, 1975-76 से 2000-01 (प्रतिशत)

राज्य	1975-1976	1980-1981	1985-1986	1990-1991	1995-1996	2000-2001
आन्ध्र प्रदेश	5.4	12.2	20.0	21.7	15.4	31.3
असम	9.3	4.5	4.2	7.3	5.5	3.1
बिहार	1.9	4.2	5.2	9.1	13.0	6.0
गुजरात	4.3	6.9	11.2	14.1	13.2	27.0
हरियाणा	4.0	9.3	19.6	13.2	9.4	12.7
हिमाचल प्रदेश	1.4	4.7	9.3	10.4	8.9	5.9
जम्मू-कश्मीर	0.6	2.9	7.5	5.0	4.5	4.1
कर्नाटक	7.7	11.1	18.9	23.3	17.2	20.8
केरल	5.4	11.2	16.7	17.9	13.3	14.3
मध्य प्रदेश	2.3	4.7	7.1	9.6	7.2	14.3
महाराष्ट्र	5.9	8.7	12.7	12.5	9.5	32.3
मणिपुर	0.5	1.2	1.8	4.1	3.5	अनुपलब्ध
मेघालय	अनुपलब्ध	1.6	4.6	7.7	14.9	2.7
नगालैण्ड	अनुपलब्ध	1.0	6.2	10.3	अनुपलब्ध	अनुपलब्ध
उड़ीसा	1.2	5.0	7.9	14.1	8.9	9.9
पंजाब	6.9	10.8	37.0	12.7	10.2	14.7
राजस्थान	2.2	6.3	10.4	9.9	8.5	14.9
तमिलनाडु	10.1	16.7	20.8	29.4	24.4	38.5
उत्तर प्रदेश	3.3	4.7	6.4	8.2	8.1	8.9
पश्चिम बंगाल	5.2	5.4	5.0	8.1	4.4	7.6
भारत	4.1	6.8	10.8	11.0	9.1	11.0

स्रोत : उपरोक्त, पृ. 120

तालिका 59

परिसम्पत्तियाँ रखने वाले किसान परिवारों की और संस्थागत तथा गैर-संस्थागत कर्ज वाली एजेंसियों के खड़े नकद उधार का प्रतिशत बँटवारा

परिवार की परिसम्पत्तियाँ (रुपये में)	संस्थागत	गैर-संस्थागत	कुल
1000 तक	8.92	9.08	100
1000 से 5000 तक	28.60	71.40	100
5000 से 10,000 तक	32.55	67.45	100
10,000 से 20,000 तक	45.69	54.31	100
20,000 से 50,000 तक	55.06	44.94	100
50,000 से 1,00,000 तक	57.09	42.01	100
1,00,000 से 5,00,000 तक	76.39	23.61	100
5,00,000 से ऊपर	94.90	5.10	100
सभी ग्रुप	61.21	38.79	100

स्रोत : एन.एस.एस.ओ., 37वाँ राउण्ड

उक्त अनुपात में 7 प्रतिशत की वृद्धि हुई है जबकि 1990-91 से 2000-01 तक यह अनुपात स्थिर रहा। यह सभी तथ्य एक बार फिर नरोदवादियों के इन दावों को झूठलाते हैं कि "वैश्वीकरण के दौर में बैंकों के निजीकरण के चलते (कृषि के लिए) बैंक कर्जे फिर से घटने शुरू हो गये हैं।"

आइये अब किसानी के अलग संस्तरों की संस्थागत तथा गैर-संस्थागत सुविधाओं तक पहुँच पर निगाह डालते हैं।

तालिका 59 से देखा जा सकता है कि जैसे-जैसे पारिवारिक परिसम्पत्तियाँ बढ़ती हैं, उसी मात्रा में ही परिवारों की कर्ज के लिए गैर-संस्थागत संसाधनों पर निर्भरता कम होती जाती है। कर्ज के

तालिका 60 : ऋण के उद्देश्य के अनुसार विभिन्न राज्यों में कृषक परिवारों द्वारा लिये गये बकाया ऋण के प्रति 1000 रुपये का वितरण

राज्य	ऋण का उद्देश्य								
	कृषि व्यवसाय में पूँजीगत व्यय	कृषि व्यवसाय में चालू व्यय	गैर-कृषि व्यवसाय	उपभोग व्यय	विवाह एवं समारोह	शिक्षा	चिकित्सा उपचार	अन्य व्यय	समस्त उद्देश्य
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10
आन्ध्र प्रदेश	234	381	32	115	96	14	24	105	1000
अरूणांचल प्रदेश	44	58	5	159	0	203	120	411	1000
असम	166	67	162	124	118	1	15	348	1000
बिहार	308	86	76	64	229	23	102	112	1000
छत्तीसगढ़	403	300	82	67	64	3	34	47	1000
गुजरात	203	503	39	63	102	5	30	56	1000
हरियाणा	360	262	68	48	140	0	20	103	1000
हिमाचल प्रदेश	94	101	290	66	102	9	29	309	1000
जम्मू-कश्मीर	260	32	241	183	73	0	20	171	1000
झारखण्ड	272	53	248	105	98	0	9	216	1000
कर्नाटक	307	375	98	56	74	6	2	81	1000
केरल	110	104	228	102	112	14	25	305	1000
मध्य प्रदेश	470	213	14	96	144	1	36	27	1000
महाराष्ट्र	379	375	48	42	49	9	15	83	1000
मणिपुर	4	30	124	113	93	87	220	331	1000
मेघालय	321	464	0	142	1	2	0	69	1000
मिजोरम	807	0	2	126	0	12	0	53	1000
नगालैण्ड	115	60	189	127	44	81	8	376	1000
उड़ीसा	289	244	115	114	140	1	29	69	1000
पंजाब	264	360	44	85	102	0	26	120	1000
राजस्थान	375	197	22	138	176	8	39	44	1000
सिक्किम	122	49	221	204	2	0	6	396	1000
तमिलनाडु	243	251	55	131	87	26	41	166	1000
त्रिपुरा	263	157	171	68	42	0	17	281	1000
उत्तर प्रदेश	403	206	70	68	118	2	61	71	1000
उत्तरांचल	184	158	173	92	74	0	22	297	1000
पश्चिम बंगाल	244	213	103	72	111	5	51	201	1000
केन्द्र शासित राज्यों का समूह	90	171	56	123	190	1	14	353	1000
सम्पूर्ण भारत	306	278	67	88	111	8	33	108	1000

स्रोत : एनएसएसओ (2005, कृषक परिवारों की ऋणग्रस्तता, 59वाँ चक्र, भारत सरकार, नयी दिल्ली)

संस्थागत संसाधनों पर ग्रामीण बुर्जुआजी (कृषि बुर्जुआ वर्ग सहित अन्य) का कब्जा है। यह वह वर्ग है जिसके लिए कर्ज और अधिक मुनाफा कमाने का जरिया है। जबकि गरीब किसानों का बड़ा हिस्सा अभी भी सूदख़ोरों के शिकंजे में जकड़ा हुआ है।

अब एक नजर अलग-अलग राज्यों में कर्ज के मकसद के मुताबिक किसानों द्वारा लिये गये कर्ज पर :

तालिका 60 से स्पष्ट है कि अखिल भारत के पैमाने पर किसान परिवार द्वारा लिये गये कुल कर्ज में से 65.1 प्रतिशत उत्पादक गतिविधियों (कृषि व्यवसाय पर पूँजीगत व्यय + कृषि पर वर्तमान व्यय + ग़ैर-कृषि व्यय) पर ख़र्च करते हैं। जबकि घरेलू ख़र्च (उपभोग + शिक्षा व मेडिकल ख़र्च) के लिए कुल कर्ज का सिर्फ 24 प्रतिशत हिस्सा ख़र्च करते हैं। अलग-अलग राज्यों की बात करें तो किसान परिवारों द्वारा लिये गये कुल कर्ज का आन्ध्र प्रदेश में 64.7 प्रतिशत, छत्तीसगढ़ में 78.5 प्रतिशत, गुजरात में 74.5 प्रतिशत, हरियाणा में 69 प्रतिशत, कर्नाटक में 78 प्रतिशत, मध्यप्रदेश में 69.7 प्रतिशत, महाराष्ट्र में 80.2 प्रतिशत, मेघालय में 78.5 प्रतिशत, मिजोरम में 80.9 प्रतिशत, उड़ीसा में 64.8 प्रतिशत, पंजाब में 66.08 प्रतिशत, उत्तर प्रदेश में 67.9 प्रतिशत हिस्सा उत्पादक गतिविधियों पर ख़र्च किया जाता है।

तालिका 61 से देखा जा सकता है कि जैसे-जैसे किसान परिवारों की परिसम्पत्तियाँ बढ़ती हैं, वैसे-वैसे ही उत्पादक गतिविधियों के लिए कर्ज का इस्तेमाल बढ़ता जाता है और आज से लगभग ढाई दशक पहले ही यह रुझान बहुत आगे बढ़ चुका था। तालिका 60 तथा 61 दोनों से स्पष्ट है कि किसान (ख़ासकर धनी किसान) कर्ज के बड़े हिस्से का इस्तेमाल अब उत्पादक गतिविधियों में करते हैं जबकि घरेलू ख़र्चे के लिए कर्ज का इस्तेमाल काफी कम हो गया है। यह रुझाने कृषि में पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों को ही दर्शाता है।

अब एक नजर अलग-अलग राज्यों में किसानों द्वारा लिये कर्ज के अलग-अलग स्रोतों पर :

तालिका 62 से देखा जा सकता है कि अखिल भारत के पैमाने पर किसान परिवारों द्वारा लिये गये कुल कर्ज का 57.7 प्रतिशत हिस्सा स्रोतों (सरकारी कोआपरेटिव सोसाइटीज बैंक) से लिया गया है, जबकि गैर संस्थागत स्रोतों (पेशेवर सूदख़ोर, व्यापारी) का हिस्सा 30.9 प्रतिशत है। अलग राज्यों में देखा जाये तो किसानों द्वारा लिये गये कुल कर्ज में संस्थागत स्रोतों का हिस्सा, छत्तीसगढ़ 72.4 प्रतिशत, गुजरात 69.5 प्रतिशत, हरियाणा 67.6 प्रतिशत, हिमाचल प्रदेश 65.3 प्रतिशत, जम्मू-कश्मीर 67.6 प्रतिशत, झारखण्ड 64.1 प्रतिशत, कर्नाटक 68.9 प्रतिशत, केरल 82.3 प्रतिशत, महाराष्ट्र 83.8 प्रतिशत, मिजोरम 77.3 प्रतिशत, नागलैण्ड 68.8 प्रतिशत, उड़ीसा 74.8 प्रतिशत, त्रिपुरा 79.7 प्रतिशत, उत्तर प्रदेश 60.3 प्रतिशत, उत्तराखण्ड 76.1 प्रतिशत, पश्चिम बंगाल 58 प्रतिशत, यूटीएस के समूह में 59 प्रतिशत हिस्सा था। यह उन 17 राज्यों तथा यूटीएस का समूह है यहाँ किसानों द्वारा संस्थागत स्रोतों

तालिका 61 : परिवारों की परिसम्पत्तियाँ, कर्ज के मकसद के मुताबिक नकद कर्ज का प्रतिशत हिस्सा 30 जून 1981

परिवारों की परिसम्पत्तियाँ (रुपये में)	उत्पादक मकसद के लिए	घरेलू खर्च के लिए	कर्जकी पुनः अदायगी के लिए	अन्य	सभी मकसदों के लिए
1000 तक	15.17	79.84	0.00	5.79	100
1000 से 5000 तक	29.35	59.47	0.85	10.33	100
5000 से 10,000 तक	41.15	44.94	0.62	13.29	100
10,000 से 20,000 तक	53.71	34.42	0.80	11.07	100
20,000 से 50,000 तक	64.28	27.15	0.31	7.76	100
50,000 से 1,00,000 तक	73.42	19.39	1.03	6.25	100
1,00,000 से 5,00,000 तक	81.02	10.10	0.70	8.18	100
5,00,000 से ऊपर	96.98	1.61	0.45	0.96	100
सभी समूह	69.07	22.33	0.76	7.84	100

स्रोत : एन.एस.एस.ओ. 37वाँ राउण्ड

से लिए गये कर्ज का प्रतिशत राष्ट्रीय औसत से अधिक है। दूसरी ओर बिहार, मणिपुर, पंजाब, राजस्थान, तमिलनाडु, आन्ध्र प्रदेश आदि ऐसे राज्य हैं जहाँ पर किसानों द्वारा लिये गये कर्ज में संस्थागत स्रोतों का हिस्सा काफी कम है।

उक्त तथ्यों से स्पष्ट कि आजादी के बाद के दशकों में ग्रामीण भारत में गैर संस्थागत सूदख़ोरों की जकड़ महत्त्वपूर्ण हद तक टूटी है। ज्यादातर राज्यों में यह गैर संस्थागत सूदख़ोरी नाम मात्र ही रह गयी है।

श्री अरविन्द लिखते हैं, "सूदख़ोरी तथा साहूकारी उत्पादन के पूर्व-पूँजीवादी तौर-तरीके के सूचक हैं, जबकि बैंक कर्ज आधुनिक तौर को दर्शाता है (भारत का चरित्र अर्द्ध-सामन्ती क्यों (पंजाबी) पृष्ठ 7) इसके आगे कार्ल मार्क्स के उद्धरण के जरिये भी उन्होंने यह बात साबित करने की कोशिश की है। श्रीमान अरविन्द का उक्त बयान सही है, बस उन्होंने भारत में ग्रामीण कर्जदारी सम्बन्धी तथ्यों की पड़ताल करने की कोशिश नहीं की, जो दर्शाते हैं कि भारतीय कृषि में हुए पूँजीवादी विकास के चलते 'सूदख़ोरी तथा साहूकारों' के अवशेष ही बाकी रह गये हैं तथा पूर्व पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों के भी।

8. जीडीपी और निर्यातों का संघटन

आजादी के बाद के दशकों के भारत के सकल घरेलू उत्पाद तथा बरामदों के संघटन में हुए परिवर्तनों से भी भारतीय अर्थव्यवस्था के पूँजीवादी रूपान्तरण को देखा जा सकता है। सकल घरेलू उत्पाद में तथा इसी तरह निर्यातों में भी लगातार कृषि क्षेत्र का

तालिका 62 : ऋण के स्रोत के अनुसार विभिन्न राज्यों में कृषक परिवारों द्वारा लिये गये बकाया ऋणों के प्रति एक हजार रुपये का वितरण

राज्य	ऋण का स्रोत								
	सरकार	सहकारी संस्थान	बैंक	कृषि/पेशेवर महाजन	व्यवसायी	रिश्तेदार एवं मित्र	डॉक्टर/वकील आदि	अन्य	सभी
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10
आन्ध्र प्रदेश	10	104	200	534	48	53	9	41	1000
अरूणांचल प्रदेश	61	0	208	0	159	507	0	65	1000
असम	70	27	278	155	120	247	5	99	1000
बिहार	22	25	370	328	11	128	12	106	1000
छत्तीसगढ़	13	206	505	130	42	63	7	35	1000
गुजरात	5	448	272	65	44	177	9	10	1000
हरियाणा	11	239	426	241	11	34	15	4	1000
हिमाचल प्रदेश	61	116	476	72	55	170	1	49	1000
जम्मू-कश्मीर	131	2	543	11	155	155	0	2	1000
झारखण्ड	39	45	557	190	17	136	4	12	1000
कर्नाटक	19	169	501	200	19	68	4	21	1000
केरल	49	283	491	74	17	66	10	9	1000
मध्य प्रदेश	19	169	381	226	90	101	5	8	1000
महाराष्ट्र	12	485	341	68	8	59	3	24	1000
मणिपुर	15	0	167	329	40	401	0	49	1000
मेघालय	60	0	0	128	3	809	0	0	1000
मिजोरम	243	31	499	0	33	193	0	0	1000
नगालैण्ड	75	77	536	3	153	155	0	0	1000
उड़ीसा	130	181	437	148	8	84	1	10	1000
पंजाब	19	176	284	363	82	63	6	7	1000
राजस्थान	13	59	270	365	192	69	18	14	1000
सिक्किम	348	0	230	73	221	67	0	61	1000
तमिलनाडु	20	233	281	397	4	52	1	11	1000
त्रिपुरा	164	28	605	20	39	119	0	25	1000
उत्तर प्रदेश	24	67	512	191	29	138	19	20	1000
उत्तरांचल	315	48	398	59	17	149	0	14	1000
पश्चिम बंगाल	103	192	285	130	107	154	7	23	1000
केन्द्र शासित राज्यों का समूह	307	147	136	103	61	245	0	1	1000
सम्पूर्ण भारत	25	196	356	257	52	85	9	21	1000

स्रोत : एनएसएसओ (2005, कृषक परिवारों की ऋणग्रस्तता, 59वाँ चक्र, भारत सरकार, नयी दिल्ली)

हिस्सा कम होता गया है, जबकि औद्योगिक तथा सेवा क्षेत्र का हिस्सा लगातार बढ़ता गया है।

सकल घरेलू उत्पाद के संघटन से सम्बन्धित ताजा आँकड़े इस प्रकार हैं "सकल घरेलू उत्पाद में कृषि तथा सम्बन्धित सेक्टर का हिस्सा 70 के दशक में औसत 42.8 प्रतिशत से घटकर 2003-04 में 22.1 प्रतिशत हो गया, इसी समय सेवा क्षेत्र का हिस्सा औसत 34.5 प्रतिशत से बढ़कर 51.0 प्रतिशत हो गया, जबकि औद्योगिक

तालिका 63 : सकल घरेलू उत्पाद का संघटन (70-71 के दामों पर)

(प्रतिशत)

सेक्टर	योजना पूर्व 50-51	प्रथम योजना का अन्त 55-56	दूसरी योजना का अन्त 60-61	तीसरी योजना का अन्त 65-66	वार्षिक योजनाओं का अन्त 68-69	चौथी योजना का अन्त 73-74	पाँचवी योजना का अन्त 78-79
1	2	3	4	5	6	7	8
1. कृषि एवं सम्बद्ध सेक्टर	58.9	57.3	54.2	45.6 (49.9)	46.3	45.2	41.6
2. खनन, विनिर्माण एवं निर्माण	14.9	15.9	17.7	22.0 (20.0)	21.2	21.6	22.5
3. विद्युत, गैस, जलापूर्ति, परिवहन, भण्डारण एवं संचार		4.2	4.9	6.1 (5.4)	6.4	6.8	7.4
4. सेवाएँ	22.3	22.6	23.2	26.3 (24.5)	26.1	26.4	28.5
कुल	100.0	100.0	100.0	100.0	100.0	100.0	100.0

स्रोत : छठी पंचवर्षीय योजना, पृ. 13

तालिका 64 : कारक लागत पर सकल घरेलू उत्पाद में कृषि का हिस्सा

वर्ष	कारक लागत पर जीडीपी (जीडीपी$_{fc}$)	कृषि
1950-51	1,40,466	83,154
1970-71	2,96,278	1,42,581
1990-91	6,92,871	2,42,012
2000-01 (पी)	11,98,685	3,13,806
2001-02 (क्यू)	12,65,429	3,30,272

स्रोत : आर्थिक सर्वेक्षण 2002-03 तालिका 1.3

तालिका 65 : निर्यात मालों के आधार पर संघटन, अप्रैल-अक्टूबर 2004-05

माल समूह	प्रतिशत हिस्सा			
	अप्रैल-मार्च		अप्रैल-अक्टूबर	
	2002-03	2003-04	2003-04	2004-05
1. प्राथमिक उत्पाद	16.6	15.5	14.2	14.1
कृषि एवं सम्बद्ध	12.8	11.8	11.0	9.5
अयस्क एवं खनिज	3.8	3.7	3.2	4.7
2. विनिर्मित उत्पाद	76.6	76.0	77.4	73.7
रेडीमेड कपड़ों सहित टेक्सटाइल	21.1	19.0	19.0	16.3
आभूषण एवं रत्न	17.2	16.6	18.5	17.5
इंजीनियरिंग उत्पाद	17.2	19.4	19.0	20.1
रसायन एवं सम्बद्ध उत्पाद	14.2	14.8	14.6	14.2
चमड़ा एवं चर्म उत्पाद	3.5	3.4	3.5	3.0
3. पेट्रोलियम, कच्चा तेल एवं उत्पाद	4.9	5.6	5.9	8.6
4. अन्य	1.9	2.9	2.6	3.5
कुल निर्यात (1+2+3+4)	100.0	100.0	100.0	100.0

स्रोत : आर्थिक सर्वेक्षण, भारत सरकार, 2004-05, पृष्ठ 123

होगा। सकल घरेलू उत्पाद का संघटन ही भारतीय अर्थव्यवस्था के पूँजीवादी चरित्र सम्बन्धित किसी शक की गुंजाइश नहीं रहने देता।

सकल घरेलू उत्पाद में औद्यागिक तथा सेवा क्षेत्र के लगातार बढ़ते हिस्से के बरक्स कृषि क्षेत्र के हिस्से में सापेक्ष गिरावट आयी है, जबकि निरपेक्ष रूप से सकल घरेलू उत्पाद में कृषि क्षेत्र का हिस्सा लगातार बढ़ता ही गया है। तालिका 64 इसी रुझान को दर्शाती है।

उक्त तालिका से देखा जा सकता है कि 1950-51 से लेकर 2001-02 के बीच कृषि क्षेत्र के कुल उत्पादन में लगभग चार गुना की वृद्धि हुई है। यह तथ्य भी दर्शाता है कि कृषि में उत्पादक शक्तियों का विकास हुआ है कि भारतीय कृषि अब सामन्ती दौर की ठहरावग्रस्त कृषि नहीं रह गयी है, बल्कि यह अब पूँजीवादी खेती में रूपान्तरित हो चुकी है जहाँ लगातार बढ़ते पैमाने पर कृषि उत्पादन हो रहा है।

आइये अब भारत के निर्यातों का संघटन देखें :

तीसरी दुनिया के पिछड़े हुए देश आमतौर पर कृषि उत्पादों के निर्यातकों के तौर पर जाने जाते रहे हैं। किन्तु पिछले समय के

क्षेत्र का हिस्सा औसत 22.8 प्रतिशत से थोड़ा बढ़कर 26.9 प्रतिशत हो गया।" (अल्टरनेटिव इकोनॉमिक सर्वे, 2004, पृष्ठ 13)

उक्त आँकड़ों से देखा जा सकता है कि सकल घरेलू उत्पादन में कृषि तथा इससे सम्बन्धित सेक्टर का हिस्सा 1950-51 में 58. 9 प्रतिशत से घटकर 2003-04 में 22.1 प्रतिशत रह गया है जबकि इसी समय औद्योगिक तथा सेवा क्षेत्र का हिस्सा 41 प्रतिशत से बढ़कर 77.9 प्रतिशत हो गया है। सकल घरेलू उत्पाद के संघटन में आजादी के पश्चात हुए परिवर्तनों से यह नतीजा निकाला जा सकता है कि भारत को अब एक कृषि प्रधान देश कहना गलत दौरान ख़ासकर दूसरे विश्व युद्ध के बाद के दशकों में इन देशों की सामाजिक-आर्थिक संरचना में महत्त्वपूर्ण बदलाव आये हैं। अब यह देश (तीसरी दुनिया के सारे देश नहीं, लेकिन ज्यादातर देश मुख्य रूप से औद्योगिक उत्पादों के निर्यातकों के तौर पर जाने जाते हैं। आज तीसरी दुनिया के देशों के कुल निर्यात में 80 प्रतिशत हिस्सा औद्योगिक उत्पादों का हो चुका है। यही रुझान भारत में भी देखा जा सकता है। यह सब तीसरी दुनिया अर्थव्यवस्थाओं की आन्तरिक संरचना में आये महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों के बगैर यानी इनके पूँजीवादी रूपान्तरण के बिना सम्भव नहीं हो सकता था।

9. कॉरपोरेट खेत

भारतीय कृषि में बड़े कॉरपोरेट घरानों की घुसपैठ, पिछले डेढ़ दशक के दौरान घटी एक महत्त्वपूर्ण घटना है। देशी तथा विदेशी बड़े कॉरपोरेट घराने जैसे कि पेप्सी, फूड्स, मार्क्ज, स्पेंसर, कैलोग, गैडफरे, कैडबरीज इण्डिया, आई.टी.सी., कारगिल, रैलीस तथा भारती पहले से ही ठेका खेती के जरिये कृषि में घुसपैठ कर चुके हैं। इनमें से आई.टी.सी. ने मध्यप्रदेश में सरकारी मण्डियों के सामानान्तर 'ई-चौपाल' के नाम पर अपना मण्डी नेटवर्क खड़ा करने के जरिये कृषि सेक्टर में पैर रखा था। कृषि में कॉरपोरेट सेक्टर की घुसपैठ की रफ्तार इस तथ्य से देखी जा सकती है कि आई.टी.सी. ने सन् 2000 में मध्यप्रदेश में अपने 'ई-चौपाल' खोलने से शुरुआत की थी, 2005 में ..... 5200 'ई-चौपाल' थे जोकि 6 राज्यों में 31,000 गाँवों को कवर करते थे (स्रोत : आई.टी.सी. की वेबसाइट)।

भारतीय कृषि में पूँजीवादी विकास की बदौलत पैदा हुई धनी कृषि बुर्जुआजी कृषि में कॉरपोरेट घरानों के दाख़िले का स्वागत कर रही है। मध्यप्रदेश में आई.टी.सी. के मण्डी नेटवर्क का जहाँ सरकारी मण्डिओं में काम करने वाले व्यक्तियों ने हड़तालों के जरिये विरोध किया, वहीं धनी किसानों ने आई.टी.सी. के हक में प्रदर्शन संगठित किये हैं।

भारतीय कृषि में आजादी के बाद के दशकों में हुए पूँजीवादी विकास ने ही, कृषि के और भी उन्नत धरातल के पूँजीवादीकरण की जमीन तैयार की है।

भारतीय कृषि के निगमीकरण के हिमायती तथा विरोधी दोनों इस बात पर सहमत हैं कि इस प्रक्रिया के चलते छोटे तथा मँझोले किसानों के कृषि क्षेत्र से बाहर होने की प्रक्रिया और भी गति पकड़ेगी, यानी छोटे-मँझोले किसानों, दस्तकारों, छोटे व्यापारियों के सर्वहाराकरण की प्रक्रिया और भी तेज होगी। पूँजीवादी विकास की बदौलत छोटे मालिकों का सर्वहाराकरण पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का वस्तुगत नियम है। यह मानवीय इच्छा से आजाद है। पूँजीवाद के भीतर इस प्रक्रिया को रोका नहीं जा सकता तथा इस प्रक्रिया को रोकने की हर कोशिश प्रतिगामी होगी।

अपनी पेटी-बुर्जुआ वर्गीय खासियत के मुताबिक, छोटी मालिकी के 'रखवाले' तथा सिद्धान्तकार हमारे नरोदनिक भारतीय कृषि में हो रहे इस तेज रफ्तार पूँजीवादी विकास के ख़िलाफ शोर मचा रहे हैं। 2004 में आन्ध्र प्रदेश सरकार तथा सी.पी.आई. (माओवादी) के बीच हुई वार्ता में, इस पार्टी की ओर से सरकार को दिये गये माँग पत्रक में यह माँग भी शामिल थी कि 'कॉरपोरेट खेती समाप्त करो' (फ्रण्टलाइन, 13 अगस्त, 2004, पृष्ठ 32)

हमारे नरोदवादी छोटी मालिकी को कायम रखने की भोली इच्छाएँ पालते हैं। लेकिन कुदरत तथा समाज के वस्तुगत नियम किसी की भोली इच्छाओं से नहीं बदलते।

लेनिन छोटी मालिकी को बचाने की ऐसी ही कोशिशों के ख़िलाफ चेतावनी देते हैं, "पूँजीवाद द्वारा कृषि का रेडिकल रूपान्तरण वह प्रक्रिया है, जो अभी शुरू ही हुई है, लेकिन यह तेज रफ्तार से आगे बढ़ रही है। यह किसान को भाड़े के मजदूर में रूपान्तरित कर रही है तथा ग्रामीण इलाकों से आबादी के प्रवास को बढ़ा रही है। इस प्रक्रिया को रोकने के प्रयत्न प्रतिगामी तथा नुकसानदेह होंगे, भले ही वर्तमान समय में इस प्रक्रिया के नतीजे कितने भी बोझिल क्यों न हो, इस प्रक्रिया को रोकने के नतीजे इससे भी भयंकर होंगे। यह मेहनतकश जनता को अधिक लाचारी तथा नाउम्मीदी वाली स्थिति में ले जायेंगे।" (संकलित रचनाएँ, भाग 4, पृष्ठ 99, अंग्रेजी, अनुवाद हमारा) अपने उक्त लेख में ही लेनिन काउत्स्की के इस कथन के साथ कहते हैं, "किसानी के बचाव का मतलब, किसान के व्यक्ति के रूप में बचाना नहीं है, (ऐसे बचाव पर सचमुच ही कोई भी ऐतराज नहीं करेगा।) बल्कि यह किसान की सम्पत्ति को बचाना है। ठीक यह किसान की सम्पत्ति ही है, जो उसकी कंगाली तथा पतन का मुख्य कारण है, दिहाड़ीदार खेत मजदूर अब छोटे किसान से बेहतर स्थिति में है। किसानी का बचाव, गरीबी से उसका बचाव नहीं, बल्कि उन बेड़ियों का बचाव है, जो किसान को गरीबी के साथ बाँधे रखती हैं। (वही)

आगे लेनिन उन माँगों की चर्चा करते हैं, जिनके जरिये पूँजीवादी विकास की इस प्रक्रिया को जनता के लिए कम से कम नुकसानदेह बनाया जा सकता है। लेनिन लिखते हैं, "वर्तमान समाज में प्रगतिशील कार्रवाई केवल उन हानिकर प्रभावों को कम करने का प्रयास कर सकती है जो पूँजीवाद के विकास से जनता पर पड़ते हैं, तथा जनता की चेतना और सामूहिक आत्मरक्षा की उसकी क्षमता को बढ़ाने का प्रयास कर सकती है। इसलिए काउत्स्की आवाजाही की स्वतंत्रता की गारण्टी आदि पर, कृषि में सामन्तवाद के सभी अवशेषों के उन्मूलन पर, ...चौदह वर्ष से कम के बालश्रम के निषेध पर, आठ घण्टे कार्यदिवस की स्थापना पर, मज़दूरों की रिहायश के निरीक्षण के लिए स्वच्छता जाँच कड़ाई से कराये जाने आदि पर बल देते हैं।" (वही)

ऐसी हैं वे माँगें जो मार्क्सवादी उठा सकते हैं, जो छोटे मालिकों के उजरती सर्वहाराओं में रूपान्तरण के अटल ऐतिहासिक बहाव के विपरीत नहीं जाती।

निचोड़ के तौर पर

इस लेख में हमने भारतीय कृषि अर्थव्यवस्था के अलग-अलग पक्षों के विश्लेषण के जरिये, भारतीय कृषि में हावी उत्पादन सम्बन्धों को समझने का प्रवास किया है। उक्त पक्षों में से बुनियादी पक्ष पूँजीवाद के लिए घरेलू मण्डी का जन्म तथा विस्तार है, जिसकी बदौलत कृषि क्षेत्र के दो विरोधी वर्गों में कृषि बुर्जुआजी तथा कृषि सर्वहारा का जन्म होता है, जो प्रतिक्रियास्वरूप घरेलू बाजार को और अधिक विस्तार देता है। कृषि अर्थव्यवस्था के बाकी पक्ष, जिनका कि हमने इस लेख में भी विश्लेषण किया है, जैसे कि उत्पादकता के रुझान, फसली विभिन्नता, ग्रामीण गैर कृषि रोजगार, पट्टेदारी सम्बन्धों का स्वरूप, ग्रामीण क्षेत्र का बिजलीकरण, कृषि में वित्तीय पूँजी की घुसपैठ, सकल घरेलू उत्पाद तथा निर्यातों के संघटन में परिवर्तन (यानी इसमें कृषि सेक्टर के हिस्से का सापेक्षक रूप में घटते जाना आदि उक्त बुनियादी पक्ष (पूँजीवादी घरेलू मण्डी के जन्म तथा विस्तार) की ही अलग-अलग अभिव्यक्तियाँ हैं। इस लेख में दिये गये तथ्यों के जरिये हमने दिखाया है कि कृषि बुर्जुआ वर्ग तथा कृषि सर्वहारा वर्ग आज के भारत के दो मुख्य वर्ग हैं। इन दो मुख्य वर्गों के साथ-साथ कृषि क्षेत्र में अभी छोटे जमीन मालिकों का एक बहुत

(शेष पृष्ठ 104 पर)

पूँजीवाद और मज़दूरों का प्रवास

• सुखविन्दर

रोजी-रोटी तथा बेहतर जीवन के लिये इंसानों के एक जगह से दूसरी जगह प्रवास की परिघटना युगों पुरानी है। जब मानव समाज अभी वर्गों में विकसित नहीं हुआ था, उस समय भी इंसानी आबादी मैदानी इलाकों, उपजाऊ जमीनों, चरागाह तथा बेहतर सहनीय मौसम वाले इलाकों की तलाश में जहाँ-तहाँ अपने ठिकाने बदलते रहती थी। लेकिन जब समाज वर्गों में विभाजित हो गया तो वर्गीय शोषण-उत्पीड़न लोगों के प्रवास का मुख्य कारण बन गया। दास समाज में बड़े पैमाने पर गुलामों का व्यापार होता था, इन गुलामों की अपनी कोई धरती, अपना कोई देश नहीं होता था। बस जहाँ उनके खरीदार ले जाते थे वही उनका अपना देश हो जाता था। मानव इतिहास के इस काल दौर में गुलामों का व्यापार इंसानों के प्रवास की मुख्य वजह बना, गुलाम मालिकों द्वारा गुलामों पर यह जोर-जबरदस्ती से थोपा गया प्रवास था। गुलाम मालिकों का शोषण-उत्पीड़न भी गुलामों को एक से दूसरी जगह भागने को मजबूर कर देता था।

सामन्तवादी दौर में अकाल प्रवास की मुख्य वजह बने। भुखमरी से बचने के लिये लोग दूसरी जगहों पर रोजी-रोटी की तलाश में निकल पड़ते थे। पूँजीवाद में पूँजी की वजह से लोग प्रवास करते हैं, यानी वे विकसित पूँजीवादी देशों की तरफ, जहाँ कि रोजगार के अधिक अवसर होते हैं, चल पड़ते हैं। वर्ग विभाजित समाज में हजारों साल पहले जो प्रवास की बुनियादी वजह थी, उत्पादक शक्तियों के तमाम विकास के बावजूद आज भी प्रवास की बुनियादी वजह वही हैयानी रोज़ी-रोज़गार की तलाश।

पूँजीवाद में प्रवास

आज हम इंसानी आबादी के बड़े पैमाने पर प्रवास के साक्षी बन रहे हैं। यह प्रवास एक ही देश के भीतर, एक इलाके से दूसरे इलाकों में तथा एक देश से दूसरे देश या एक महाद्वीप से दूसरे महाद्वीप की तरफ हो रहा है। आज लगभग 20 करोड़ लोग जो कि विश्व की आबादी का 3 प्रतिशत बनते है अपने देश के बाहर काम कर रहे हैं। यह संख्या 25 साल पहले के प्रवासियों की संख्या से दोगुनी है।

असमान आर्थिक विकास पूँजीवाद की अन्तर्निहित विशिष्टता है। यह एक देश के भीतर भी होता है तथा विश्व स्तर पर भी। जहाँ पर पूँजी निवेश के लिये बेहतर हालात, यानी कच्चे माल की आपूर्ति, तैयार माल के लिए बाजार आदि होते हैं पूँजीपति उन्हीं जगहों पर पूँजी लगाना अधिक पसन्द करते हैं। इसके कारण देश के भीतर पूँजी का कुछेक औद्योगिक नगरों के इर्द-गिर्द सघन संकेन्द्रण होता है तो देश के बाकी इलाकों को सस्ती श्रम शक्ति के आपूर्ति केन्द्रों में बदल दिया जाता है। भारत में यही प्रक्रिया हम आज अपनी आँखों के सामने देख सकते हैं, जहाँ पर पिछड़ी कृषि के इलाकों जैसे पूर्वी उत्तर प्रदेश, बिहार, राजस्थान, झारखण्ड, मध्यप्रदेश आदि राज्यों से बड़े पैमाने पर आबादी औद्योगिक नगरों तथा विकसित कृषि वाले इलाकों की तरफ प्रवास कर रही है। यह प्रक्रिया दुनिया के हर पूँजीवादी देश में चली है या विकासमान पूँजीवादी देशों में चल रही है।

विश्व स्तर पर देखें तो भी पूँजीवाद का असमान विकास दिखाई देता है। एक ओर विकसित पूँजीवादी-साम्राज्यवादी देश हैं, जहाँ पूँजी का अत्यधिक संकेन्द्रण है, तो दूसरी तरफ तीसरी दुनिया के पिछड़े पूँजीवादी देश हैं, जो कि कभी साम्राज्यवादी देशों के उपनिवेश, अर्द्ध-उपनिवेश या नव-उपनिवेश रहे हैं। औपनिवेशिक गुलामी ने इन देशों के विकास को तोड़ा-मरोड़ा, औपनिवेशिक गुलामी से मुक्त होने के बाद भी यह देश साम्राज्यवादी शोषण उत्पीड़न के शिकार रहे हैं, जिसके चलते जहाँ पूँजीवाद का स्वस्थ विकास न हो सका, बल्कि एक रुग्ण-विकलांग पूँजीवाद पनपा। औपनिवेशिक गुलामी के गर्भ से पैदा हुआ यह 20वीं सदी के उत्तरार्ध का ऐसा पूँजीवाद था जिसे जवानी में ही बुढ़ापे के रोग लगे थे। नतीजतन उत्पादक शक्तियों के विकास के लिहाज से ये देश आज भी साम्राज्यवादी-विकसित पूँजीवादी देशों से दशकों पीछे हैं। उत्पादक शक्तियों के इसी पिछड़ेपन के चलते आज अफ्रीका, एशिया तथा लातिनी अमेरिका के ये देश साम्राज्यवादी देशों के लिये सस्ते कच्चे माल तथा सस्ती श्रम शक्ति के मुख्य स्रोत हैं।

आज की दुनिया में जो अन्तर्देशीय तथा अन्तर्महाद्वीपीय प्रवास हो रहा है, वह मुख्य तौर पर तीसरी दुनिया के पिछड़े पूँजीवादी देशों से विकसित पूँजीवादी-साम्राज्यवादी देशों की तरफ हो रहा है। हालाँकि पिछड़े पूँजीवादी देशों तथा विकसित पूँजीवादी देशों में भी एक से दूसरे देश में बड़े पैमाने पर प्रवास जारी है। जैसे कि भारत में ही देखें जहाँ नेपाल, बंगलादेश तथा श्रीलंका से लाखों लाख प्रवासी भारत के श्रम बाजार में बिकने के लिये आ बसे हैं। उधर विकसित पूँजीवादी देशों में भी एक से दूसरे देश में आबादी का प्रवास देखा जा सकता है। यूरोपीय यूनियन के विस्तार (पूर्वी यूरोप के 10 देशों को शामिल करने) के बाद पूर्वी यूरोप से पश्चिमी यूरोप में बड़े

पैमाने पर आबादी का प्रवास नजर आता है। मई 2004 में जबसे पूर्वी यूरोप के देश 'यूरोपीय यूनियन' में शामिल हुए, इन देशों के 2,90,000 नागरिकों ने ब्रिटेन में नौकरी के लिये आवेदन किया है।

उत्पादक शक्तियों के विकास के लिहाज से, विश्व सकल घरेलू उत्पाद में अपने हिस्से के लिहाज से, प्रति व्यक्ति आमदनी के लिहाज से विकसित पूँजीवादी-साम्राज्यवादी देश बाकी दुनिया से बहुत आगे हैं। इन देशों में श्रमिकों का जीवनस्तर भी बाकी दुनिया के श्रमिकों के जीवन स्तर से कहीं बेहतर है। इन देशों में श्रम शक्ति की कीमत काफी 'ऊँची' है। साम्राज्यवादी देशों में किसी कम्पनी की 70 प्रतिशत लागत श्रम शक्ति से आती है तथा 30 प्रतिशत पूँजी से। चीन तथा भारत जैसे देशों में स्थिति इसके ठीक विपरीत है।

इन देशों में जीवन की मुकाबलतन बेहतर परिस्थितियों के चलते, एशिया, अफ्रीका, लातिनी अमेरिका के पिछड़े पूँजीवादी देशों से लाखों-लाख श्रमिक कानूनी-गैर कानूनी तरीके से इन देशों में घूसने की कोशिश करते हैं। इन देशों तक गैर कानूनी तरीकों से पहुँचने की कोशिश में अनेकों लोग अपनी जान तक जोखिम में डालते हैं, अनेकों जानें जाती हैं। गैर कानूनी तरीके से अमीर मुल्कों में पहुँचने की कोशिश करने वालों को जो-जो मुसीबतें झेलनी पड़ती हैं, उनकी दिल दहला देने वाली रिपोर्टें अक्सर अखबारों में पढ़ने को मिल जाती हैं।

तीसरी दुनिया के पिछड़े पूँजीवादी देशों से विकसित पूँजीवादी-साम्राज्यवादी देशों की तरफ आबादी का यह प्रवास इन देशों के पूँजीपतियों के लिए सस्ते श्रम का बड़ा जरिया है।

यूरोप को आज आप्रवासियों का महाद्वीप कहा जाता है। भले ही परम्परागत तौर पर यूरोप को प्रवासन का महाद्वीप माना जाता रहा है, मगर यह भी एक निर्विवाद तथ्य है कि आप्रवास भी यूरोप की धरती का अटूट अंग रहा है। प्रवास की पिछली पाँच शताब्दियों के चलते, यूरोपीय अब मिले-जुले लोग हैं। आज फ्रांसीसी आबादी की एक चौथाई आबादी के माता-पिता या उनके माता-पिता विदेशी मूल के थे। वियना के लिए यह आँकड़ा 40 प्रतिशत है।

यूरोप प्रवास की की इतालवी शताब्दी (1876-1976) का मुख्य गन्तव्य रहा है। लगभग 12 करोड़ 60 लाख इटलीवासी अन्य यूरोपीय देशों को गयेग़ैर यूरोपीय देशों में जाने वालों से दस लाख अधिक। सबसे अधिक इतालवी प्रवासियों का लक्ष्य अमेरिका (57 लाख) था। फ्रांस में 41 लाख इतालवी प्रवासी बसे, छोटे से स्विट्जरलैण्ड में 40 लाख, जर्मनी में 24 लाख तथा आस्ट्रेलिया में 12 लाख। दूसरे विश्व युद्ध के बाद यूरोप दो करोड़ प्रवासियों का घर बना।

पूँजीवाद ने जब साम्राज्यवाद की मंजिल में प्रवेश किया तो साम्राज्यवादी देशों में आप्रवास में कमी आई जबकि इन देशों में पिछड़े देशों से प्रवास बढ़ा। 19वीं शताब्दी के अन्त तथा 20वीं शताब्दी की शुरुआत में साम्राज्यवादी देशों से बाहर की ओर तथा अन्य पिछड़े गरीब देशों से साम्राज्यवादी देशों में प्रवास के पलायन से इस बात की पुष्टि होती है। अपनी सुप्रसिद्ध कृति 'साम्राज्यवाद, पूँजीवाद की चरम अवस्था' में लेनिन इस प्रक्रिया से सम्बन्धित आँकड़े देते हैं, "1884 से इंग्लैण्ड से प्रवास कम हो रहा है। उस साल प्रवासियों की संख्या 2,42,000 थी जबकि 1900 में यह संख्या 1,69,000 थी। जर्मनी से प्रवास 1881 तथा 1890 के दरमियान अपने चरम पर था जब प्रवासियों की संख्या 14,53,000 थी। बाद के दो दशकों में यह घटकर 5,44,000 तथा फिर 3,41,000 रह गई। दूसरी ओर, आस्ट्रेलिया, इटली तथा रूस से जर्मनी में दाखिल होने वाले मजदूरों की संख्या में इजाफा हुआ। 1907 की जनगणना के मुताबिक जर्मनी में 13,42,294 विदेशी थे, जिनमें से 4,40,800 औद्योगिक मजदूर थे तथा 2,57,329 कृषि मजदूर थे। फ्रांस में खनन उद्योग में करने वाले मजदूरों का 'बड़ा हिस्सा' विदेशियों पोल, इतालवी तथा स्पेनियों का है।"

साम्राज्यवादी देशों की ओर प्रवास का यह रुझान बाद में भी जारी रहा। जिनेवा आधारित संगठन 'इण्टरनेशनल आर्गनाइजेशन फॉर माइग्रेशन' ने अपनी रिपोर्ट 'वर्ल्ड माइग्रेशन रिपोर्ट 2003, मैनेजिंग माइग्रेशन' में कहा है, "1990 के दशक में यूरोप आप्रवास का महाद्वीप बन गया।" इसी रिपोर्ट के मुताबिक दूसरे विश्व युद्ध के बाद से पश्चिमी यूरोप में प्रवासियों की संख्या में भारी इजाफा हुआ है। 1950 में पश्चिमी यूरोप में 38 लाख विदेशी नागरिक थे, 2003 में इनकी संख्या बढ़कर 2 करोड़ 5 लाख हो गई। इसमें अतिरिक्त 1 करोड़ की संख्या उन प्रवासियों की थी जो अब विदेशी नागरिक नहीं रह गये थे।

2000 तक अमेरिका में कुल साढ़े तीन करोड़, जर्मनी में 3 लाख, फ्रांस में 63 लाख, कनेडा में 58 लाख, आस्टेलिया में 47 लाख तथा इंग्लैण्ड में 45 लाख प्रवासी थे। 1980 से 2003 के दरमियान सिर्फ 5 सालों में स्पेन में प्रवासियों की संख्या 4 गुना बढ़कर 30 लाख हो गई जोकि स्पेन की 4 करोड़ 20 लाख आबादी का 7 प्रतिशत थे।

2001 की जनगणना के मुताबिक इंग्लैण्ड की आबादी का 7.53 प्रतिशत आप्रवासी थे (इसमें उत्तरी आयरलैण्ड के आप्रवासियों की संख्या शामिल नहीं है।)

1980 में इंग्लैण्ड में सालाना प्रवास की संख्या 40,000 थी। 1994-97 के दौरान यह बढ़कर 60,000 सालाना हो गई। 1998 में और अधिक बढ़कर यह 1,33,500 हो गई। इंग्लैण्ड में आने वाले आप्रवासियों में सबसे अधिक संख्या अमेरिकियों की थी, उसके बाद पूर्वी यूरोप और फिर भारतीय उपमहाद्वीप से आने वाले आप्रवासियों की। पूँजीवादी दौर में, पूँजीवाद का असमान विकास पिछड़े इलाकों तथा देशों से, विकसित इलाकों तथा देशों की तरफ आबादी के प्रवास की मुख्य वजह है। भुखमरी तथा गरीबी से बचने के लिये लोग, विकसित पूँजीवादी इलाकों तथा देशों की तरफ चल देते हैं।

साम्राज्यवादियों द्वारा दूसरे मुल्कों पर थोपे जाने वाले युद्ध तथा दूसरे मुल्कों ारा भड़काये जाने वाले गृहयुद्ध भी लोगों को अपना देश छोड़ने के लिये मजबूर करते हैं। इससे दूसरे देशों में शरण लेने वालों की संख्या में भावी इजाफा हुआ है। संयुक्त राष्ट्र शरणार्थी एवं मानवाधिकार आयोग के मुताबिक 1990 के दशक में 60 लाख से भी अधिक लोगों ने विकसित देशों में शरण लेने के लिए आवेदन किया था, यह संख्या

1980 (22 लाख) में शरण के लिये आवेदन करने वालों से लगभग तीन गुना ज्यादा थी।

भूतपूर्व पूर्वी ब्लाक के गिरने, यूगोस्लाविया के टूटने, जिसमें यूरोपीय तथा अमेरिकी साम्राज्यवादियों का बड़ा हाथ था, इसके नतीजे के तौर पर छिड़ी बाल्कन जंगों, और खाड़ी जंग ने शरणार्थियों की संख्या को तेजी से बढ़ाया है। 1988 में यूरोपीय यूनियन के 15 सदस्य देशों में प्रवास के लिए 2 लाख आवेदन आये थे जोकि 1992 में बोस्निया की जंग के दौरान बढ़कर 6,76,000 हो गये। 1999 में कोसोवो जंग के दौरान 3,66,000 लोगों ने दूसरे देशों में शरण के लिय आवेदन किये। 2001 में जिन देशों ने सर्वाधिक शरणार्थियों को पैदा किया वे इस प्रकार हैं : सबसे अधिक शरणार्थी अफगानिस्तान से पैदा हुए, फिर इराक, सूडान, अंगोला, बोस्निया की बारी आती है। ये सभी देश साम्राज्यवादियों द्वारा थोपे युद्धों, नस्ली जनसंहार तथा साम्राज्यवादियों द्वारा भड़काये गये गृहयुद्धों के शिकार रहे हैं।

लगभग सभी विकसित पूँजीवादी-साम्राज्यवादी देशों में इस समय जनसंख्या की वृद्धि दर कम हो रही है, इस घट रही आबादी की वजह से इन देशों को श्रम शक्ति की आपूर्ति अन्य देशों से करनी पड़ती है। विकसित पूँजीवादी देशों की तरफ अन्य देशों से आबादी के प्रवास की यह भी एक महत्वपूर्ण वजह है। पूँजीवाद में नस्ली उत्पीड़न भी आबादी के प्रवाह की एक महत्वपूर्ण वजह रहा है। 20वीं सदी की शुरुआत में बड़े पैमाने पर जारशाही रूस से यहूदियों ने उत्पीड़न से बचने के लिये अपना देश छोड़ा। इसी तरह से 1930 के दशक में जर्मनी में फासीवादी आतंक से बचने के लिये बड़े पैमाने पर यहूदियों को अपना देश छोड़ना पड़ा था। फिलिस्तीन में भी यही हुआ जहाँ पर इस्रायली जियनवादियों के हाथों हत्याओं और उत्पीड़न से बचने के लिये लाखों फिलिस्तिनियों ने अपना देश छोड़ा है।

प्रवास के प्रति शासक वर्गों का रवैया

शासक वर्गों के लिये प्रवासी मजदूर सस्ती श्रम शक्ति का बड़ा स्रोत है। इस सस्ती श्रम शक्ति के शोषण से शासक वर्ग अपार मुनाफे कमाते हैं। मजदूरों का यह प्रवास भले ही एक देश के भीतर हो या एक से दूसरे देश की तरफ।

साम्राज्यवादी देशों में श्रम शक्ति की कीमत पिछड़े पूँजीवादी देशों से कहीं अधिक है। इन देशों के पूँजीपतियों के लिये तो अन्य देशों से मजदूरों का प्रवास वरदान ही साबित होता है। इन देशों में कानूनी प्रवास के साथ-साथ बड़े पैमाने पर गैर-कानूनी प्रवास भी होता है। इन प्रवासियों को खासकर गैर-कानूनी प्रवासियों को सभी नागरिक अधिकारों से वंचित रहना पड़ता है। इन देशों में इन प्रवासियों को अमानवीय शोषण उत्पीड़न का शिकार होना पड़ता है। अमेरिकी साम्राज्यवादियों द्वारा हाल ही में शुरू किया गया नया 'गैसर वर्कर कार्यक्रम' इसका एक उदाहरण है। अमेरिका में इस कार्यक्रम से तहत लाये जाने वाले लाखों मेक्सिकन तथा मध्य अमेरिकी मजदूरों को, अमेरिकी मजदूरों को आमतौर पर मिलने वाले सभी अधिकारों से वंचित रखा जायेगा। क्योंकि प्रवासी मजदूरों का सस्ता श्रम इन देशों के पूँजीपतियों के लिये अपार मुनाफों का स्रोत है, इसलिए इन देशों की सरकारें इन पूँजीपतियों के लिये सस्ती श्रम शक्ति की आपूर्ति यकीनी बनाने में जुटी रहती हैं। 20 सितम्बर 2000 में इंग्लैण्ड के तत्कालीन प्रधानमंत्री ने अपने एक भाषण में ब्रिटेन के प्रवास कानूनों को नर्म बनाये जाने की बात कही थी। इसी समय, लम्बी बहसों के बाद जर्मन केबिनेट ने 'गरीब कार्ड' स्कीम को स्वीकृति दी थी ताकि उच्च शिक्षा प्राप्त सूचना तकनीक श्रमिकों को खींचा जा सके और अमेरिकी फेडरल रिर्जव के चैयरमैन तो वृद्धि को बढ़ाने के लिये प्रवास को उत्साहित करने पर बार-बार जोर देते हैं।

जुलाई 2000 में, यूरोपीय यूनियन के गृह मंत्रियों के एक मीटिंग में ज्यां-पियरे शेवेनमेंट ने कहा कि यूरोपीय यूनियन को 2050 तक खाली नौकरियाँ भरने के लिये पाँच से लेकर साढ़े सात करोड़ तक प्रवासियों को दाखिला देना पड़ेगा। 22 अक्टूबर 2000 को यूरोपीय यूनियन ने प्रवास पर एक बहस की शुरुआत की ताकि प्रवास पर एक साझा नीति बनाई जा सके।

संयुक्त राष्ट्र के जनसंख्या डिवीजन की एक रिपोर्ट के मुताबिक जन्म दर कम होने तथा जीवन प्रत्याशा बढ़ने के चलते, 2000 से 2050 के बीच यूरोप की आबादी 13 प्रतिशत तक कम हो जायेगी। अब और 2050 के बीच जन्म-मृत्यु की वर्तमान दर पर जर्मनी को सालाना 4,87,000 प्रवासियों का आयात करना पड़ेगा। फ्रांस को 1,09,000 तथा पूरे यूरोपीय यूनियन को 16 लाख सालाना।

पूँजीवादी-साम्राज्यवादी देशों में प्रवास जहाँ इन देशों के लिये सस्ती श्रम शक्ति का एक बड़ा जरिया है वहीं इन देशों के शासकों के हाथों में मजदूरों को आपस में बाँटने लड़ाने का एक हथियार भी है। खास तौर पर मन्दी को समय, बढ़ते जनअसन्तोष से बचने के लिये, मजदूरों का ध्यान असल मुजरिम, सारी मुसीबतों की जड़ इस पूँजीवादी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था से हटाने के लिये, इन देशों के शासक प्रवासियों को ही सारी मुसीबतों की जड़ बताकर, स्थानीय मजदूरों में प्रवासियों विरोधी भावनाओं, नस्लवाद को हवा देते हैं। लगभग सभी साम्राज्यवादी देशों में ऐसी पार्टियाँ हैं, जो खुलेआम प्रवासी विरोधी भावनाओं को हवा देती हैं। फ्रांस में निकोलस सारकोज़ी की 'यूनियन फार ए पापुलर मूवमेण्ट', इटली में उम्बर्टो बोस्सी की 'उत्तरी लीग', आस्ट्रिया में जोर्ग हेदर की 'फ्रीडम पार्टी', नीदरलैण्ड में पिम फोर्टविन की 'फोर्टविन लिस्ट', बेल्जियम में फिलिप डे विंटर की 'व्लाम्स ब्लॉक', डेनमार्क में पिया क्लेरगार्ड की 'पीपुल्स पार्टी', नार्वे में कार्ल हेगन की 'प्रोग्रेस पार्टी' तथा इंग्लैण्ड में निक गिफ्न की 'ब्रिटिश नेशनल पार्टी' आदि बहुतेरी अन्य ऐसी पार्टियों में से कुछेक ऐसे नाम हैं। इन देशों में चुनावों में हर बार इन देशों में होने वाला प्रवास एक अहम मुद्दा होता है। यह दक्षिणपंथी पार्टियाँ प्रवासियों विरोधी भावनाओं को भड़काकर ही सत्ता की कुर्सी तक पहुँचती हैं। फ्रांस में हाल ही में हुए चुनावों में निकोलस सारकोजी ने सत्ता तक पहुँचने के लिये यही हथकण्डा अपनाया है।

इन साम्राज्यवादी देशों की सरकारें समय-समय पर प्रवास विरोधी कानून बनाती रहती हैं। हालाँकि ऐसे कानूनी कभी भी प्रवास को रोकने में कामयाब नहीं होते बस,

शासक वर्गों के हाथों में मजदूरों को आपस में बाँटने के लिये एक हथियार के तौर पर जरूर इस्तेमाल किये जाते हैं। इन देशों में कदम-कदम पर प्रवासी मजदूरों को नस्ली नफरत का सामना करना पड़ता है।

ऐतिहासिक तौर पर मजदूरों का प्रवास एक प्रगतिशील कदम है

मजदूरों का प्रवास विभिन्न राष्ट्रीयताओं, भाषाओं, संस्कृतियों के मजदूरों के एक जगह इकट्ठा करता है। उनके बीच भाषा, संस्कृति, राष्ट्रीयता के बँटवारों को तोड़कर उन्हें वर्गीय आधार पर एक ही साझा सूत्र में जोड़ता है। फ्रांस की राजधानी पेरिस के ट्रेपस इलाके का उदाहरण लें जहाँ पर कि 70 राष्ट्रीयताओं के मजदूर एक जैसी ही जीवन परिस्थितियों में रहते हैं।

यह पिछड़े इलाकों, देशों के मजदूरों को उन्नत उत्पादक शक्तियों, उन्नत सभ्यता, संस्कृति के सम्पर्क में लाकर उनकी चेतना की धार को तीखा करता है। यह मजदूरों में विश्व व्यापी एकता का आधार तैयार करता है। मजदूरों का प्रवास वह जमीन तैयार करता है यहाँ 'दुनिया भर के मजदूरो एक हो' के नारे को व्यवहार में उतारा जा सकता हो।

जब मजदूर आन्दोलन कमजोर होता है तो शासक वर्ग मजदूरों को भाषा, जाति, धर्म, संस्कृति आदि के आधार पर बाँटने में कामयाब रहते हैं, जैसा कि आज के समय में हो रहा है। मगर पूँजीवाद अपने ही तर्क से अपनी ही जरूरतों से दुनिया भर के मजदूरों को एकजुट भी कर रहा है। यह अपनी कब्र खोदने वालों को पैदा कर रहा है और उन्हें भाषा, नस्ल, राष्ट्रीयता के किसी भेद के बगैर एक ही जैसी जीवन परिस्थितियों में धकेलता है। विश्व पूँजीवाद के केन्द्रों पर इकट्ठा हो रहे ये आधुनिक समय के उजरती गुलाम एक दिन अपनी एकता का वास्तविक आधार पहचानेंगे, और पूँजीवाद को उसकी कब्र में पहुँचा देंगे। आज खुद पूँजीवाद ने ही इसकी पहले किसी भी समय से अधिक पुख्ता जमीन तैयार कर दी है।

(इस लेख में दिये गये ज्यादातर तथ्य हरपाल बराड़ के लेख "पूँजीवाद और प्रवास" से लिये गये हैं)

फ्रांस में राष्ट्रपति चुनाव

निकोलस सारकोजी की जीत के मायने

यह लेख कुछ महीने पहले, फ्रांस में राष्ट्रपति चुनाव के ठीक बाद लिखा गया था लेकिन 'दायित्वबोध' का यह अंक देर से छपने के कारण यह अब प्रकाशित हो रहा है। फ्रांसीसी राजनीति का इसमें किया गया विश्लेषण तथा निकोलस सारकोज़ी की जीत के बाद के लिए की गयी भविष्यवाणियाँ इस अरसे के दौरान सही साबित हो रही हैं। इस दृष्टि से यह लेख अब भी प्रासंगिक है। सं.

मई 2007 के शुरू में फ्रांस में हुए चुनावों में धुर-दक्षिणपंथी पार्टी 'यूनियन फार ए पॉपुलर मूवमेण्ट' के उम्मीदवार निकोलस सारकोजी अपने विरोधी उम्मीदवार 'समाजवादी पार्टी की सेगोलीन रायल को हराकर फ्रांस के 23वें राष्ट्रपति बन गये हैं। फ्रांस में हाल ही के वर्षों में यह सबसे सख्त चुनावी टक्कर मानी जा रही है, जिसमें निकोलस सारकोजी को 53.06 प्रतिशत तथा सेगोलीन रायल को 46.94 प्रतिशत वोट मिले।

निकोलस सारकोजी ने यह चुनाव धुर-दक्षिणपंथी एजेण्डा पर लड़ा। उन्होंने अपनी जीत के बाद आर्थिक संरक्षणवाद, अमीरों पर आयकर कम करने, फ्रांस में प्रवास के ख़िलाफ सख्त कदम उठाने, फ्रांस में जारी हफ्ते में 35 घण्टे काम के प्रावधान को समाप्त करके श्रमिकों से जितना चाहे ओवरटाइम करा सकने की आजादी देने तथा ट्रेड-यूनियनों के ख़िलाफ सख्त कदम उठाने के वायदे किये हैं। फ्रांस में दक्षिणपंथ का यह उभार तत्कालीन यूरोप में एक बड़ी घटना है।

सारकोजी की पार्टी 'यूनियन फार ए पापुलर मूवमेण्ट' ने यह चुनाव मुख्यतः आप्रवासियों के विरुद्ध भावनाओं को हवा देकर जीता है। यही वजह है कि सारकोजी की जीत को लेकर आप्रवासियों में डर, सहम और चिन्ता पायी जा रही थी। फ्रांस की मजदूर जमात का अच्छा खासा हिस्सा आप्रवासियों से बनता है, जो पेरिस, लिओन तथा अन्य बड़े शहरों के इर्द-गिर्द बसी गन्दी बस्तियों में रहते हैं। इन अप्रवासियों में मुख्यतः फ्रांस के भूतपूर्व उत्तर-अफ्रीकी अरब उपनिवेशों जैसे कि अल्जीरिया, ट्यूनीशिया तथा मोरक्को आदि देशों से आये आप्रवासी रहते हैं। फ्रांसीसी महानगरों की गन्दी बस्तियों में नारकीय जीवन बिताने को अभिशप्त ये आप्रवासी 1950-60 के दशकों में बड़े पैमाने पर फ्रांस में आ बसे थे। यह वह समय था जब दूसरे विश्व युद्ध के बाद फ्रांसीसी अर्थव्यवस्था पूरे उछाल पर थी। नयी-नयी फैक्टरियाँ लग रही थीं तथा अर्थव्यवस्था की अन्य शाखाओं का तेजी से विस्तार हो रहा था। अर्थव्यवस्था में इस उछाल के समय तथा इसे बरकरार रखने के लिये बड़े पैमाने पर सस्ती श्रम शक्ति की जरूरत थी और इस जरूरत को पूरा किया उक्त उत्तर-अफ्रीकी अरब आप्रवासियों ने। फ्रांस जैसे साम्राज्यवादी देशों की समृद्धि-ऐश्वर्य के पीछे गरीब देशों से आये आप्रवासियों के पसीना बन-बनकर बहे खून का बड़ा हाथ है, जो आमतौर पर दिखाई नहीं देता।

दूसरे विश्व युद्ध में विश्व-अर्थव्यवस्था की बड़े पैमाने पर साम्राज्यवादियों द्वारा की गई तबाही के चलते इन साम्राज्यवादी देशों में जो आर्थिक उछाल आया वह ज्यादा दिनों तक न चल सका। 1973 आते-आते साम्राज्यवादी अर्थव्यवस्थाओं का यह स्वर्णिम युग बीतने लगा। 1973 के बाद इन देशों की अर्थव्यवस्थाएँ मन्दी की चपेट में आने लगी। फ्रांस भी इस प्रक्रिया से अछूता न

रहा। 1960 से फ्रांस में जो 'पूर्ण रोजगार' की स्थिति बनी हुई थी 1973 के बाद यह स्थिति अपने विपरीत में परिवर्तित हो गई। आर्थिक मन्दी के चलते एक के बाद एक फैक्टरियाँ बन्द होने लगीं। जिससे बेरोजगारी ने भयंकर रूप धारण कर लिया। जिससे पूरे फ्रांस में जन-आक्रोश भी फैलने लगा। और जैसा कि पूरी दुनिया के लुटेरे हुक्मरान करते हैं, कि जनता का ध्यान असल समस्याओं से हटाकर उन्हें आपस में ही बाँटते लड़ाते हैं। फ्रांस के लुटेरे हाकिमों ने भी यही हथकण्डा अपनाया।

अप्रवासियों के ख़िलाफ नफरत भड़काने में 'यूनियन फॉर ए पाुलर मूवमेण्ट' तथा उसके नेता निकोलस सारकोजी सबसे आगे हैं। निकोलस सारकोजी जैसे नेता अपनी वर्ग अवस्थिति से गरीबों से बेहद नफरत करते हैं। निकोलस सारकोजी राष्ट्रपति जाक शिराक की पिछली सरकार में गृह मंत्री थे। उन्होंने गन्दी बस्तियों में रहने वाले गरीबों, जिसमें ज्यादातर उत्तरी अफ्रीकी, स्पेनिश, पुर्तगाली, इटली से आये अप्रवासियों सहित फ्रांसीसी मूल के गरीब मजदूर परिवार रहते हैं को 'कचरे' की संज्ञा दी थी और कहा था कि इन गन्दी बस्तियों की 'भीड़' जो 'प्रदूषण' फैला रही है उसके लिये पानी की एक ज्यादा बौछार की जरूरत है। उनके इस नफरत भरे बयान ने नवम्बर-दिसम्बर 2005 में फ्रांस के बड़े शहरों मुख्यतः पेरिस में उठे जनविद्रोह को और हवा दी थी।

फ्रांस के इस बार के चुनावों में कई जगह वर्गीय ध्रुवीकरण देखने को मिला। फ्रांसीसी अमीरों ने मुख्यतः सारकोजी को वोट दिया तथा गरीब मुख्यतः समाजवादी पार्टी की प्रत्याशी सेगोलीन रॉयल के पीछे लामबन्द हुए। राजधानी पेरिस की सुपर अमीर एनक्लेव नेविल-सुर-सीन में निकोलस सारकोजी को 86.8 प्रतिशत वोट मिले। जबकि वहाँ से केवल 10 मील दूर बसे गरीबों के इलाके 'ट्रेपस' जहाँ कि 70 अलग-अलग राष्ट्रीयताओं के लोग रहते हैं, में से 70 प्रतिशत वोट सेगोलीन रॉयल को मिले। फ्रांस में रह रहे आप्रवासी खासकर उत्तरी अरब अफ्रीकी जहाँ फ्रांसीसी शासक वर्ग द्वारा भड़काई जा रही नस्लवाद की आँधी की मार झेल रहे हैं, जिसके चलते उन्हें फ्रांसीसी पुलिस-प्रशासन तथा नस्लवादी मानसिकता वाले फ्रांसीसी मूल के नागरिकों (इनमें भी उच्च मध्यमवर्ग तथा अमीर तबके से सम्बन्धित) के हाथों कदम-कदम पर अपमानित होना पड़ता है, वहाँ फ्रांस के सभी मेहनतकश, भले ही उनका राष्ट्रीय मूल कोई भी हो, पिछले तीन दशकों से फ्रांसीसी शासकों द्वारा अपनाई जा रही नवउदारवादी नीतियों का कहर भी झेल रहे हैं। इस 'नवउदारवादी' एजेण्डा पर धुर दक्षिणपंथी 'यूनियन फार ए पापुलर मूवमेण्ट' तथा सामाजिक जनवादी 'समाजवादी पार्टी' दोनों एकमत हैं। इन नीतियों के तहत फ्रांसीसी शासक वर्ग मेहनतकशों से वे तमाम सुविधाएँ छीन रहे हैं जो उन्होंने दशकों लम्बे संघर्षों द्वारा हासिल की थीं। और इस नवउदारवाद को फ्रांस में 1984 में समाजवादी राष्ट्रपति मितरां के कार्यकाल में ही पूरी तरह से स्थापित किया गया था। दरअसल उक्त दोनों चुनावी पार्टियों में शब्दजाल के अलावा और कोई भी फर्क नहीं है, दोनों ही फ्रांसीसी बुर्जुआ वर्ग की सेवा में तल्लीन हैं। यह दोनों ही पार्टियाँ बारी-बारी फ्रांस की सत्ता सम्भालती रही हैं और दोनों ने ही फ्रांसीसी मेहनतकश जनता को तबाह-बेहाल करने में कोई कसर नहीं छोड़ी है।

फ्रांसीसी शासक वर्ग द्वारा अपनायी गयी 'नवउदारवादी' नीतियाँ उसी व्यापक 'नवउदारवादी' एजेण्डा का ही एक अंग है, जिसे 1980 के बाद से अन्तरराष्ट्रीय मुद्राकोश (आईएमएफ) तथा विश्व बैंक के निर्देशन के तहत सभी विकसित पूँजीवादी-साम्राज्यवादी देशों सहित किसी न किसी रूप में दुनिया भर के लुटेरे शासक वर्गों न अपनाया है। दूसरे विश्व युद्ध के बाद से विकसित पश्चिमी देशों में शुरू हुए पूँजीवाद के 'स्वर्णिम युग' की चमक 1970 के दशक तक आते-आते मध्यम पड़ने लगी। विकसित पूँजीवादी देशों में आपसी व्यापार तथा पूँजी निवेश से साम्राज्यवादी पूँजी ने अपार मुनाफे कमाये। अब इन देशों में पूँजी निवेश की सम्भावनाओं के निश्शेष होने के बाद सस्ते कच्चे माल तथा सस्ती श्रम शक्ति को और अधिक निचोड़ने के लिये साम्राज्यवादी पूँजी का बहाव तीसरी दुनिया के देशों की तरफ बढ़ने लगा। साम्राज्यवादी देशों की विकसित तकनीक तथा गरीब देशों में उपलब्ध सस्ती श्रम शक्ति तथा सस्ते कच्चे माल से तैयार हुए माल ने विश्व बाजार में पूँजीपतियों-बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के बीच मण्डी तथा मुनाफे के लिये मुकाबले को तेज किया। जिसने प्रतिक्रिया स्वरूप साम्राज्यवादी देशों के शासक वर्गों पर 'कल्याणकारी राज्य' की नीतियों का परित्याग करने को मजबूर किया यानी मेहनतकशों से पक्के रोजगार, सीमित काम के घण्टे, पेंशन, बेरोजगारी भत्ता, सस्ती या मुफ्त शिक्षा तथा स्वास्थ्य सुविधाएँ आदि खत्म करना तथा सामाजिक सुरक्षा के अन्य प्रावधान खत्म करने, श्रम कानूनों को अधिकाधिक मजदूर विरोधी बनाकर 'श्रम बाजार' को लचीला बनाना यानी मेहनतकश जनता के दशकों लम्बे संघर्षों तथा बेशुमार कुर्बानियों की बदौलत जो हक हासिल किये थे उन्हें छीन लेना यही है दुनिया भर के शोषक-शासक वर्गों द्वारा अपनाया गया नवउदारवादी एजेण्डा जिसका श्रीगणेश 1980 में रीगन-थैचर जोड़ी ने किया था।

फ्रांस के शासकवर्ग भी 1980 के दशक से ही इसी रास्ते पर चल रहे हैं। सस्ती श्रम शक्ति तथा सस्ते माल की तलाश में फ्रांसीसी पूँजी भी गरीब देशों की तरफ पलायन करने लगी। फ्रांसीसी पूँजीपतियों ने अपने उद्योगों का अच्छा-खासा हिस्सा पोलैण्ड में शिफ्ट कर दिया। इससे फ्रांस में बेरोजगारी भीषण रूप धारण कर गई। इस समय फ्रांस की 13 प्रतिशत श्रम शक्ति बेरोजगार है, तथा गरीब बस्तियों में बेराजगारी की यह दर दोगुनी यानी 26 प्रतिशत है। फ्रांस मेंइस समय लगभग 20 प्रतिशत मजदूर सिर्फ न्यूनतम मजदूरी पर गुजारा कर रहे हैं तथा 70 लाख फ्रांसीसी गरीबी रेखा के नीचे रह रहे हैं। फ्रांस में से पूँजी का यह पलायन फ्रांसीसी बुर्जुआ शासक वर्ग को मजबूर कर रहा है कि वह फ्रांस के भीतर श्रम बाजार को 'लचीला' बनाये यानी मजदूरों को दी जाने वाली तमाम सुविधाओं पर कटौती करके श्रम शक्ति को सस्ता बनाये।

मगर फ्रांसीसी शासक वर्ग को जनता के भीषण प्रतिरोध का सामना कदम पड़ रहा है और जनता के हाथों उसे बार-बार शिकस्त झेलनी पड़ रही है। 1995 में जब

तत्कालीन फ्रांसीसी प्रधानमंत्री जूपें ने फ्रांसीसी संसद में स्वास्थ्य 'सुधारों' का बिल पेश किया था, जिसके तहत फ्रांस में स्वास्थ्य सेवाओं का निजीकरण किया जाना था तो इस विरोध में पूरा फ्रांस ही उठ खड़ा हुआ था। जिस दिन जूपें ने संसद में यह बिल पेश किया था, उसके अगले दिन लगभग 20 लाख ट्रांसपोर्ट मजदूरों ने इस बिल के विरोध में हड़ताल कर दी थी, जिसमें कि बाद में समाज के अन्य हिस्से भी शामिल हो गये थे। लगभग दो महीने पूरा फ्रांस जाम रहा था, और जूपें सरकार मजबूर होकर स्वास्थ्य सेवाओं के निजीकरण की योजना से पीछे हटना पड़ा था।

29 मई 2005 में यूरोपीय संविधान के लिये फ्रांस में हुए जनमत संग्रह को फ्रांसीसी जनता के बड़े हिस्से ने रद कर दिया था। दरअसल यूरोपीय बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा यूरोपीय संविधान की आड़ में नवउदारवादी एजेण्डा को आगे बढ़ाने का ही कार्यक्रम था। फ्रांस मे यूरोपीय संविधान के मुख्य वकील थेफ्रांसीसी पेट्रोलियम कम्पनी (जिसका 2004 में मुनाफा 10.9 बिलियन डालर था) ल'ओरियल, मशीन टूल कम्पनी श्नाइडर, तथा हथियार बनाने वाली कम्पनी डॉसल्ट। लेकिन फ्रांस की मेहनतकश जनता ने धनपतियों की साजिश को नाकाम कर दिया।

तीसरी बार फ्रांसीसी हुक्मरानों के ख़िलाफ फ्रांसीसी जनता का गुस्सा फूटा अक्टूबर 2005 में जब इसने जन-विद्रोह का रूप अख्तियार कर लिया। बड़े शहरों की गरीबों की बस्तियाँ इस जन-विद्रोह का मुख्य केन्द्र बनीं। आप्रवासी नौजवानों (खासकर उत्तरी अफ्रीकी मूल के) ने इसमें अग्रणी भूमिका निभाई।

पुलिस के उत्पीड़न से बचते दो किशोरों की मौत के विरोध में शुरू हुए इस विद्रोह को गरीबों के ख़िलाफ सारकोजी के उपरोक्त नफरत भरे बयानों ने और हवा दी। यह दरअसल गरीबी, बेरोजगारी तथा हर तरह का शोषण-दमन झेल रहे दुखियारों की धनपशुओं के स्वर्ग के ख़िलाफ बगावत थी। दो महीने तक जारी रहे इस जन-विद्रोह ने पूरे फ्रांस को हिला कर रख दिया था।

इसने अप्रैल 2006 में श्रम बाजार को 'लचीला' बनाने के लिये फ्रांसीसी हुक्मरानों द्वारा लाये जा रहे नये कानून 'फर्स्ट हायरिंग ऐक्ट' को नाकाम बना दिया। यह फ्रांसीसी हाकिमों की फ्रांसीसी मेहनतकश जनता के ख़िलाफ एक साजिश थी, जिसके तहत पक्के रोजगार की जगह, फ्रांसीसी पूँजीपतियों को ठेके पर मजदूर भर्ती करने की छूट दी जानी थी, जिन्हें जब वे चाहें काम से हटा सकते हैं। इस कानून के ख़िलाफ हुए प्रदर्शनों में 5 लाख से लेकर 30 लाख तक लोगों ने हिस्सा लिया, इसमें बेरोजगार युवकों के साथ-साथ बड़ी संख्या में मजदूर भी शामिल थे। इस व्यापक जन प्रतिरोध के चलते फ्रांसीसी हाकिमों को एक बार फिर मुँह की खानी पड़ी। पूँजी के वैश्वीकरण के मौजूदा दौर में विश्व बाजार में पूँजीपतियों के बीच तीखी हुई प्रतियोगिता, फ्रांसीसी हुक्मरानों को नवउदारवाद की राह पर सरपट दौड़ने को मजबूर कर रही है। निकोलस सारकोजी की जीत फ्रांसीसी शासक वर्ग की इसी मजबूरी की अभिव्यक्ति है। वे इसी राह पर चलेंगे क्योंकि उनके पास अब और कोई रास्ता नहीं है। सारकोजी ने बुर्जुआ हकूमत की बागडोर इसलिए सम्भाली है ताकि लाठी-गोली के जोर पर जनता पर नवउदारवादी एजेण्डा थोपा जाये। आने वाले दिनों में फ्रांसीसी मेहनतकशों पर फ्रांसीसी बुर्जुआ वर्ग द्वारा हमले और तेज होंगे।

दूसरी ओर फ्रांस की मेहनतकश जनता के पास भी अब एक ही रास्ता बचा है और वह है फ्रांसीसी हाकिमों से आर-पार की लड़ाई का। कार्ल मार्क्स ने कहा था कि फ्रांस वह धरती है जहाँ पर सभी वर्ग संघर्ष कमोबेश फैसलाकुन हद तक लड़े गये हैं। आने वाले दिनों में फ्रांस की धरती पर कार्ल मार्क्स के उक्त कथन की एक बार फिर से दस्तक होगी।

सुखविन्दर

भारतीय कृषि में पूँजीवादी विकास

(पृष्ठ 98 का शेष)

बड़ा वर्ग मौजूद है। इन छोटे जमीन मालिकों में भी बड़ी बहुसंख्या उनकी है, जो जमीन के छोटे-छोटे टुकड़ों के मालिक होने के बावजूद अपनी जीविका मुख्य रूप से उजरती मजदूरी के जरिये चलाते हैं। लेनिन ने इन्हें रूप में किसान पर अन्तर्वस्तु में मजदूर कहा है। आज ग्रामीण सर्वहारा तथा अर्द्ध-सर्वहारा भारत की ग्रामीण आबादी की बड़ी बहुसंख्या बन चुके हैं।

कृषि में जहाँ पूँजीवादी माल उत्पादन मुख्य हैसियत अख़्तियार कर चुका है, वहाँ इसके साथ ही छोटे जमीन मालिकों की भी अच्छी ख़ासी संख्या है जो साधारण माल उत्पादन में लगी है। यह छोटे जमीन मालिक आज तेजी से कृषि क्षेत्र से बाहर हो रहे हैं या इनकी बड़ी बहुसंख्या उजरती सर्वहाराओं की कतारों में शामिल हो रही है। साधारण माल उत्पादन, पूँजीवादी माल उत्पादन के साथ, सदैव सह-अस्तित्व नहीं बनाये रख सकता। पूँजीवादी माल उत्पादन, साधारण माल उत्पादन को टुकड़े-टुकड़े करके निगल जाता है। भारत के ग्रामीण क्षेत्र में चल रही यह प्रक्रिया भारतीय कृषि में और अधिक परिपक्व पूँजीवादी विकास को ही दर्शाती है।

• • •

पूँजीवाद को रामकथा की संजीवनी

1930 के दशक की महामन्दी के बाद विश्व पूँजीवाद की बिगड़ी सेहत को सुधारने के लिए जॉन मेनार्ड कीन्स सुषेण वैद्य बनकर आये थे। उन्होंने कल्याणकारी राज्य के नुस्खे को संजीवनी बूटी की तरह पेश किया था। दूसरे विश्व युद्ध के बाद दो-तीन दशकों तक इस बूटी ने पूँजीवदी दुनिया को थोड़ी राहत भी पहुँचायी थी। लेकिन 1970 का दशक शुरू होते-होते मरीज़ की साँस फिर से उखड़ने लगी थी और अब तक वह सँभल नहीं पायी है। फ़िलहाल उसे भूमण्डलीकरण का माजून चटाया जा रहा है लेकिन अल्पकालिक राहतों के बाद उसकी धड़कनें फिर से बार-बार बन्द होने लगती हैं। लेकिन इतिहास ने मृत्यु शैया पर पड़े इस जराजीर्ण पूँजीवाद के लिए स्वाभाविक मृत्यु का सुयोग नहीं लिखा है। उसने विश्व सर्वहारा वर्ग को अधिकृत कर रखा है कि वह पूँजीवाद का क्रिया-कर्म अपने हाथों से करे। इतिहास ने पूँजीवाद को इसकी झलक भी दिखा दी है, इसलिए वह अपने संहारकर्ता से अपनी रक्षा के लिए तरह-तरह के कुण्डल-कवच ईजाद करता रहता है। अपनी ऐतिहासिक नियति को जहाँ तक सम्भव हो टालने के लिए आर्थिक नुस्खों के साथ-साथ वह तरह-तरह के सामाजिक-सांस्कृतिक नुस्खों की खोज में दिन-रात जुटा रहता है। अभी हाल ही में श्रीलंका में रामकथा से जुड़े पौराणिक स्थलों की तथाकथित खोज को श्रीलंका सरकार द्वारा पर्यटन को प्रोत्साहित कर विदेशी मुद्रा कमाने के हथकण्डे मात्र के रूप में नहीं लिया जाना चाहिए। यह पूँजीवाद के लिए एक नयी सांस्कृतिक संजीवनी है। इसीलिए पूरी दुनिया का पूँजीवादी मीडिया इस नयी खोज को पूरे जोशोखरोश के साथ प्रचार-प्रसार करने में जुट गया है।

बेर्टोल्ट ब्रेष्ट की एक कविता की पंक्तियाँ हैं : 'नये ट्रांसमीटरों के ज़रिये चली आयीं पुरानी बेवकूफ़ियाँ / बुद्धिमानी चली आयी मुँहज़बानी।' भारत के सारे खबरिया चैनल जिस उत्साह के साथ श्रीलंका में हुई नयी 'खोज' के बारे में विशेष रिपोर्टें परोस रहे हैं वे उन चैनलों की टी. आर. पी. बढ़ाने के अलावा आम लोगों के विवेक और तर्कणा को कुन्द कर रहे हैं। डिजिटल तकनीक की पीठ पर सवार पौराणिक कल्पनाएँ वैज्ञानिक-ऐतिहासिक तथ्यों में बदल जा रही हैं। इतिहास और पुराण गड्डमड्ड कर दिये जा रहे हैं। पूँजीवाद के संहारकर्ता की मेहनतकश अवाम की चेतना को कुन्द बनाया जा रहा है। द्वितीय विश्वयुद्धोत्तर पूँजीवाद में आयी तथाकथित संचार क्रान्ति के सहारे आज पूरी दुनिया में विश्व पूँजी के प्रचार तंत्रें से ऐसे ही सांस्कृतिक हमले अहर्निश जारी हैं।

देशी खबरिया चैनलों पर इक्कीसवीं सदी के डिज़ाइनर परिधानों से सजे-धजे वाचक-वाचिकाएँ चहक-चहक कर अपने दर्शकों को बता रहे हैं कि श्रीलंका में अशोक-वाटिका मिली है, सीताजी के आँसुओं का तालाब और रावण द्वारा सीताजी को खाने के लिए दी जाने वाली गोलियाँ मिली है। इतना ही नहीं, जिस पर्वतमाला पर ये सब चीज़ें मिली हैं यह वही सुमेरु पर्वत है जिसका वर्णन वाल्मीकि रामायण में किया गया है और अब संजीवनी बूटी की खोज जारी है।

उधर श्रीलंका सरकार इस नये आविष्कार को ज़ोर-शोर से प्रचारित करने में जुट गयी है। बीते 17 जनवरी को श्रीलंकाई क्रिकेट टीम के दो प्रसिद्ध सितारे अर्जुन राणातुंगा और अरविन्द डिसिल्वा श्रीलंकाई पर्यटन मंत्रालय की ओर से इस नयी 'खोज' की मार्केटिंग करने भारत आये थे। 'अशोका वाटिका' नामक एक डीवीडी का विमोचन किया गया। डीवीडी में ऐसे तथाकथित पचास स्थलों को दिखाया गया है जिनका वाल्मीकि रामायण में उल्लेख है और जो राम, सीता और रावण से जुड़े प्रसंगों से मेल खाते हैं।

टीवी चैनलों और अख़बारों में इन नई खोजों पर चर्चाओं की भरमार है, लेकिन इस सम्बन्ध में आधिकारिक इतिहासकारों-पुरातत्ववेत्ताओं का क्या कहना है किसी को इनकी राय जानने की ज़रूरत नहीं है। प्राचीन इतिहास के सुप्रसिद्ध विद्वान डी. एन. झा. का वह बयान, जिसमें उन्होंने इन नयी खोजों को उतनी ही कपोल-कल्पना बताया जितना कि स्वयं वाल्मीकि रामायण में वर्णित स्थल और घटनाएँ, केवल कुछेक अंग्रेजी अखबारों के बीच के पन्नों में दबकर रह गया। चैनलों में रामकथा रस में डूब जाने की होड़-सी मच गयी है। स्वस्थ मनोरंजन के दावे के साथ अभी हाल में ही शुरू हुए एक नये चैनल ने 'प्राइम टाइम' पर रामायण सीरियल का नया अवतार भी शुरू कर दिया है।

देश के इस सांस्कृतिक वातावरण से संघ परिवार पुलकित है। उसे लग रहा है कि इस वातावरण में अगले लोकसभा चुनावों के रास्ते उसकी राजनीतिक सन्तान भारतीय जनता पार्टी का वनवास ख़त्म हो सकता है, इसलिए उसने अपनी व्यूह-रचना शुरू कर दी है। राम के स्मरण से शक्ति अर्जित कर प्रत्यंचा से एक-एक तीर छोड़े जा रहे हैं। उसे अचानक याद आ गया है कि भगवान राम ने लंका पर चढ़ाई तो रामसेतु के रास्ते ही की थी। इसीलिए उसने रामसेतु की रक्षा के लिए आडवाणी को सेनापति बनाकर धर्मयोद्धाओं की रवानगी शुरू कर दी है। चूँकि संघ परिवार अपने आप सकारात्मक कार्रवाई करने के मुकाबले किसी 'क्रिया की प्रतिक्रिया' में ज़्यादा भरोसा करता है इसलिए रामसेतु पर अपना अभियान तेज़ करने के लिए वह कांग्रेस के दाँव की प्रतीक्षा कर रहा है।

सेतुसमुद्रम परियोजना के औचित्य पर चर्चा एक अलग विषय है लेकिन इसके बहाने संघ परिवारे भाजपा को चुनावी लाभ दिलाने का फार्मूला तैयार कर चुका है। उसने रामसेतु को चुनावी मुद्दा बनाने की घोषणा कर दी है। उधर, कांग्रेस इस मुद्दे पर अपनी दस्तूरी दुविधा की मुद्रा में है। चुनावी लाभ के लिए 'नरम हिन्दुत्व' का सहारा लेने की नीयत से उसने सुप्रीम कोर्ट में दायर वह हलफ़नामा वापस ले लिया है जिसमें तमाम पुरातात्विक प्रमाणों की नज़ीर पेश करते हुए कहा गया था कि रामसेतु का कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है और वह मानव-निर्मित नहीं वरन एक प्राकृतिक-भूगर्भिक संरचना है। संघ परिवार ने इस हलफ़नामे को मुद्दा बनाकर अपना अभियान शुरू कर दिया कि हलफ़नामे में हिन्दुओं की आस्था के प्रतीक

राम के अस्तित्व को नकार कर उनकी भावनाओं को आहत और अपमानित किया गया है, इसलिए वह चुप नहीं बैठेगी और तुरत-फुरत उसने रामविरोधियों के खिलाफ एकजुट होने के लिए आह्वान शुरू कर दिया। संघ परिवार के इस नये रामराज्य का यही फ़रमान है : सन्देह करने वाले को उम्रक़ैद/तर्क करने वाले को फाँसी/अल्पमत पर बहुमत का धर्मराज्य/नास्तिकों को सूली/इन सबको दैहिक-दैविक-भौतिक ताप से/पूर्ण मुक्ति (कात्यायनी)।

यह नहीं समझना चाहिए कि कांग्रेस ने वैज्ञानिक चिन्तन और ऐतिहासिकता के प्रति किसी ईमानदार आग्रह के कारण सुप्रीम कोर्ट में वह हलफ़नामा दाखिलि किया था। यह चुनावी बिसात पर 'आओ राम-राम खेलें 'की नुरांकुश्ती है। इसीलिए उसने पहले हलफ़नामा दाखिल किया फिर हिन्दुओं की आस्थाओं का मान रखने का वास्ता देते हुए वापस ले लिया। फिलहाल, नया हलफ़नामा दाखिल करने के लिए केन्द्र सरकार ने सुप्रीम कोर्ट से मोहलत माँग रखी है और अब कांग्रेस के मंत्री और पार्टी नुमाइन्दे इस मसले पर गोलमोल भाषा में बयान दे रहे हैं। यह कांग्रेस का आज का चरित्र नहीं है। समूचे राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान यह पार्टी, जो भारतीय बुर्जुआ वर्ग की प्रतिनिधि पार्टी थी, अपने इसी चरित्र के अनुरूप आचरण करती रही है। 1947 के बाद भी, खासकर 1980 के दशक में पंजाब में भिण्डरांवाले को प्रश्रय देने से लेकर अयोध्या में 'रामजन्म भूमि' का ताला खुलवाने और राममन्दिर का शिलान्यास तक कांग्रेस की भूमिका को हमें भूलना नहीं चाहिए। बाबरी मस्जिद विध्वंस में तत्कालीन प्रधानमंत्री पी. वी. नरसिंहराव की भूमिका भी परोक्षतः विध्वंसकारियों को मदद करने वाली ही थी।

बहरहाल, नयी 'रामलहर' के प्रसंग में बात केवल इतनी ही नहीं है कि इससे संघ परिवार को कितना चुनावी फ़ायदा होगा या अन्य को कितना नुकसान। जो बात सबसे बुनियादी और ख़तरनाक है, वह यह कि जब पौराणिक कथाओं को उनके रचनाकाल की ऐतिहासिक भौतिक-आत्मिक परिस्थितियों से काटकर, अनैतिहासिक ढंग से, ''गौरवशाली अतीत के वास्तविक चित्र'' के रूप में प्रस्तुत किया जाता है तो इससे पुनरुत्थानवादी, अतीतोन्मुखी और प्रतिगामी संस्कृति को संजीवनी की खुराक़ मिल जाती है। अपने वक़्त की परेशानियोंशोषण, उत्पीड़न, अलगाव, अपमान, असमानता और विपन्नता से बदहाल आम लोग अपनी समस्याओं का निराकरण ''गौरवशाली अतीत'' में देखने लगती है। इस तरह, समाज में, आगे भविष्य की ओर ले जाने वाली उसकी संघर्षशील चेतना की धार भोंधरी होती जाती है।

समूचे सांस्कृतिक वातावरण में कितनी भारी मात्रा में इस समय धार्मिक पुनरुत्थानवाद की भांग घोली जा रही है,इसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि इस समय देश में भाँति-भाँति के साधु-सन्तों, बाबाओं, सिद्ध पुरुषों की एक बाढ़-सी आ गयी है। सभी के अपने-अपने राम हैं, अपने-अपने देवी-देवता हैं। इन्होंने अपने लक्षित श्रोता-समूहों को विज्ञापन-बाज़ार की प्रचार रणनीति अपनाते हुए बाँट लिया है। सभी अपने-अपने विशिष्ट अन्दाज़ में पौराणिक आख्यानों, रामकथा प्रसंगों, कृष्ण-लीला आदि का वाचन और भाष्य प्रस्तुत कर जनता को इहलोक के दुखों से त्राण के उपाय सुझा रहे हैं। लोगों की ठोस ज़िन्दगी से जुड़े ठोस प्रश्नों का जवाब इनके पास हो-न हो, लेकिन इन सिद्ध-पुरुषों के दरसन- परसन कर थोड़ी देर के लिए ही सही वे अपने दुनियावी दुखों को भूल जाते हैं। इन्हीं अर्थों में आज भी जनता के अन्दर धर्म की जड़ें सामाजिक हैं। लोग परलोक की चिन्ता में नहीं इहलोक की चिन्ता में इन 'भगवानों' के फेर में पड़ते हैं। आज धर्म की सबसे गहरी जड़ें मेहनतकश अवाम के सामाजिक रूप से पददलित हालात और पूँजी की अन्धशक्तियों के सामने उनकी दिखायी पड़ने वाली असहायता में निहित है। इसी अर्थ में आज धर्म सामन्ती अधिरचना का एक हिस्सा होते हुए भी पूँजीवाद की सेवा कर रहा है।

पूँजी की सेवा करने में जुटी राजनीतिक शक्तियाँ आज पूरी दुनिया में समाज के वास्तविक अन्तरविरोधों पर पर्दा डालने के लिए विभिन्न धार्मिक -पौराणिक मान्यताओं का समाज में पुनरुत्थान कर रही हैं। जनवादी क्रान्तियों की भूमि रहे यूरोप और अमेरिका में भी यह हो रहा है। वहाँ इसाई कट्टरपन्थ का उभार हो रहा है। वहाँ शासक वर्ग एक ओर अन्तरिक्ष युद्ध की तैयारियों में जुटा हुआ है, दूसरी ओर मानव और पृथ्वी की उत्पत्ति आदि के बारे में अब तक स्वीकृत वैज्ञानिक मान्यताओं को अवैज्ञानिक ढ़ंग से खारिज करने और उन्हें समाज में स्वीकाय बनाने की कवायदें भी हो रही हैं। भारत में भी संघ परिवार जब धर्म केन्द्रित प्राचीन व मध्ययुगीन समाजों के उन मूल्यों-मान्यताओं- संस्थाओं को आदर्श के रूप में प्रस्तुत करता है जो पौराणिक कृतियों और मध्ययुगीन साहित्यिक रचनाओं में वर्णित हैं तो वह समाज के वास्तविक अन्तरविरोधों और उनके सही समाधान पर पर्दा डालने का ही काम कर रहा है।

इसी रूप में संघ परिवार द्वारा दिया जाने वाला रामराज्य का नारा पूँजी की वर्तमान निर्मम-निरंकुश सत्ता, बाज़ार की निर्बन्ध शक्तियों के लुटेरे खेल और शोषण की बुनियाद पर कायम सामाजिक ढाँचे पर मुलम्मा चढ़ाना ही है। गुज़रात में मोदी की चुनावी विजय से उत्साहित संघ परिवारी पार्टी भाजपा लोकसभा चुनाव राम के नाम पर लड़ने की ऐलान कर चुकी है। श्रीलंका में नयी खोजें; एक टीवी चैनल पर 'रामायण' सीरियल का फिर से प्रसारण आदि उसके चुनाव-प्रचार अभियान में लांचिंग के लिए अच्छा परिवेश बना रहे हैं। भूलना न होगा कि भाजपा के चुनावी पुनरुत्थान में एक समय दूरदर्शन पर प्रसारित 'रामायण', 'महाभारत' और 'चाणक्य' सीरियलों की कम भूमिका नहीं रही है। इन सीरियलों के पौराणिक-ऐतिहासिक नायक जब अपने शत्रुओं का संहार करने के लिए पराक्रम का प्रदर्शन करते नज़र आते थे तो घर में बैठे टीवी देख रहे लोगों के मन में भी संघ परिवार द्वारा प्रचारित कल्पित शत्रुओं (मुसलमान और अन्य अल्पसंख्यक) की छवियाँ उभर जाती होंगी। ज़ाहिर तौर पर, उसके जेहन में श्रम की खूनी लूटमार में जुटे देशी विदशी पूँजीपतियों, भ्रष्ट अफ़सरों-नेताओं के चित्र उन शत्रुओं के रूप में नहीं उभरते होगे जिनकी सत्ता के संहार के बारे में वे मन ही मन संकल्प लेते हों।

बहरहाल, जब यूरोप और अमेरिका के सर्वाधिक विकसित पूँजीवादी जनवादों में 'पुरानी बेवकूफियाँ' नयी तकनीकों पर सहार होकर आ रही हैं तो भारत के बारे में क्या कहा जाये? यहाँ तो पूँजीवाद आया ही विकृत और विकास-अवरुद्ध रूप में। यह पुनर्जागरण-प्रबोधन के दार्शनिक-वैचारिक- सांस्कृतिक आलोड़न-विलोड़न के बीच से उभरकर आने वाला पूँजीवाद नहीं है, औपनिवोशिक समाज की बिगड़ी हुई कोख से उपजा पूँजीवाद है। यूरोप में तो बुर्जुआ वर्ग ने सत्ता में बैठने के बाद चर्च के साथ 'पवित्र गठबन्धन' कायम किया था लेकिन भारत के बुर्जुआ वर्ग ने अपने जन्मकाल से ही तमाम प्रगतिविरोधी मध्ययुगीन

मूल्यों-मान्यताओं से समझौता कर आगे बढ़ने की राह पकड़ ली थी। तिलक जैसे हमारे तमाम प्रखर राष्ट्रवादी नेता तक जनता को साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष में प्रेरित करने के लिए धार्मिक कर्मकाण्डों का सहारा लेते थे। अगर हिन्दी पट्टी में भारतीय जनता के उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष के सांस्कृतिक मोर्चे की बात की जाये तो राधामोहन गोकुलजी, राहुल सांकृत्यायन और रामावतार शास्त्री जैसे इने-गिने नाम ही मिलेगे जो जनता को रूढ़ियों-अन्धविश्वासों, धार्मिक मताग्रहों से मुक्त करने और उसके अन्दर वैज्ञानिक जीवन-दृष्टि और चेतना पैदा करने के काम को जनता की आज़ादी से अलग करके नहीं देखते थे। हमारे समाज में वह सामाजिक-सांस्कृतिक उथल-पुथल उस समय नहीं मची जो मध्ययुगीन-पुरातनपन्थी विचारों और संस्कृति पर मरणान्तक प्रहार करती। राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद शासक बुर्जुआ वर्ग द्वारा यह काम किये जाने का तो सवाल ही नहीं उठता। जो पैदा ही हुआ हो सामन्ती संस्कृति से सगाई की गाँठ बाँधकर उससे इस गाँठ को खोलने की उम्मीद भी कैसे हो?

आज हम भूमण्डलीकरण की दुनिया में, वित्तीय पूँजी के विश्वव्यापी वर्चस्व की दुनिया में, रह रहे हैं। जनवाद औद्योगिक पूँजी की ज़मीन पर पैदा हुआ था। आज उसकी यह ज़मीन ही कमज़ोर पड़ चुकी है। विश्व स्तर पर कुल पूँजीनिवेश का लगभग 75 प्रतिशत हिस्सा शेयर और सट्टाबाज़ार, बीमा-बैंक आदि वित्तीय कारोबार, रीयल एस्टेट (ज़मीन-जायदाद) के कारोबार के साथ सूचना-मनोंरजन उद्योग आदि में लग रहा है। आप सट्टाबाज़ार की ज़मीन पर जनवाद के खड़े होने की बात नहीं सोच सकते। आज वैश्विक पूँजी की निरंकुश वर्चस्वशाली, जनवाद निषेधी संस्कृति इसी ज़मीन पर पैदा और फल-फूल रही है। यही ज़मीन वैश्विक स्तर पर जनवाद विरोधी, प्रगति विरोधी व हिंस्र वर्चस्वशाली संस्कृति और फासिस्ट राजनीतिक शक्तियों के फलने-फूलने के लिए माकूल बनी हुई है। भारत में भी संघ परिवार की राजनीतिक प्रशाखा भारतीय जनता पार्टी के हाशिये से केन्द्र की ओर अभिसार को इसी प्रष्ठभूमि में देखा जाना चाहिए।

जनता के बीच फासिस्ट शक्तियों के प्रभाव विस्तार को भी इसी परिप्रेक्ष्य में समझा जा सकता है। लोग देशी-विदेशी पूँजी की मार से त्रस्त हैं, रोजी-रोटी से बेदखल किये जा रहे हैं, उनकी कहीं सुनवाई नहीं, गरीबों के बच्चों की बोटियाँ काटकर खायी जा रही है, उनके गुर्दे निकालकर बेचे जा रहे हैं, शासन और सत्ता के दरों पर वे ठोकरें खा रहे हैं। यही बेबसी और नाउम्मीदी 'हारे को हरिनाम' की मानसिकता उन्हें फासिस्ट राजनीति और संस्कृति के चंगुल में फँसाये जा रही है। गोर्की ने लिखा भी है कि निम्न मध्य वर्ग के पीले-बीमार कान्तिहीन चेहरे वाले निराश युवा किस तरह फासिस्टों के रंगरूट बन जाते हैं।

जनता को जब भविष्य नहीं दिख रहा है तो वह अतीत के स्वर्ग-लोक की कल्पना-यात्रा ही करेगी। इस अर्थ में 'राम-लहर' की पुनरुत्थान भविष्य-निर्माता क्रान्तिकारी शक्तियों की कमज़ोरी की देन भी है।

अरविन्द

दलित–मुक्ति के सपनों की 'माया'

समाज के शोषित-उत्पीड़ित समूहों के बीच से ऊपर उठकर जब कोई व्यक्ति हुकूमती जमातों का हिस्सा बन जाता है तो वह किस तरह उसी शोषण-उत्पीड़नकारी व्यवस्था का पैरोकार, घोर यथास्थितिवादी, व्यवस्थापोषक और प्रतिक्रियावादी बन जाता है, आज की पूँजीवादी राजनीति में इसका सबसे ज्वलन्त उदाहरण हैं उत्तर प्रदेश की मुख्यमंत्री सुश्री मायावती।

मुख्यमंत्री के रूप में तीसरी बार कामकाज सम्भालने के बाद उन्होंने जो नीतिगत फैसले लिये हैं, वह समय-समय पर जिन विचारों को प्रकट करती रहती हैं औरउन्होंने अपनी जीवन शैली के जो नमूने प्रस्तुत किये हैं वे इसी सच्चाई को ज़ाहिर कर रहे हैं। आज वह न केवल देशी-विदेशी पूँजी की लूट को बेलगाम करने वाली नवउदारवादी नीतियों की मुखर पैरोकार बनी हुई हैं वरन जीने के जिस शाहाना अन्दाज़ का सार्वजनिक प्रदर्शन कर रही हैं उसने मध्यकाल की शहजादियों के ठाठ-बाट को भी पीछे छोड़ दिया है। बड़ी बात यह कि सब कुछ वह धड़ल्ले से कर रही हैं। कोई शर्म-हया नहीं। गाँधी-नेहरू काल के बुर्जुआ राजनीतिज्ञों वाली प्रकट शालीनता तो आज किसी में नहीं रह गयी है लेकिन बुर्जुआ राजनीतिक संस्कृति के अधःपतन और निर्लज्जता की नज़ीरों की अगर कोई सूची बनायी जायेगी तो मायावती उसकी ऊपरी पायदानों पर दिखायी देंगी।

बीते 15 जनवरी को उन्होंने अपना 52 वाँ जन्मदिवस सुपरिचित शाहाना अन्दाज़ में मनाया। इस अवसर पर विपक्षी राजनीतिक दलों और मीडिया द्वारा सार्वजनिक धन के दुरुपयोग और शाहखर्ची के सम्बन्ध में उठाये जा रहे सवालों का जवाब देते हुए उन्होंने जो उद्गार व्यक्त किये उसे 'दलित-आभिजात्य' की मानसिकता का प्रतिनिधि उद्गार कहा जा सकता है। उन्होंने केवल यह नहीं कहा कि उनकी शाहखर्ची के लिए ये करोड़ों रुपये पार्टी के कार्यकर्ताओं ने उन्हें उपहार में दिये हैं। यह सफाई तो वह पहले भी दे चुकी हैं। जन्मदिन की इस पार्टी में उन्होंने कहा कि उनका नाम ही माया है और माया का एक अर्थ धन-दौलत ही होता है। अगर कार्यकर्ता खुश होकर उनके लिए उपहार में धन दे रहे हैं तो उसे वह क्यों न स्वीकार करें। उस धन से अगर उन्होंने अपने लिए एक घर बनवा रही हैं या अपने जन्मदिन पर ख़र्च कर रही हैं तो इसमें ग़लत क्या है? इसका विरोध करने वाले लोगों को उन्होंने दलित-विरोधी सवर्ण मानसिकता वाला बताया। विभिन्न समाचार चैनलों पर इस जन्मदिन समारोह पर आयोजित चर्चाओं में भी चन्द्रभान प्रसाद जैसे दलित 'चिन्तकों' ने मायावती का कुतर्कपूर्ण बचाव किया और मीडिया को भी सवर्ण मानसिकता वाला बताते हुए जमकर कोसा।

मायावती का जन्मदिन समारोह सामन्ती भव्यता और पूँजीवादी चकाचौंध के जुगुप्सापूर्ण प्रदर्शन का नमूना था जो भारतीय समाज में बुर्जुआ संस्कृति और सामन्ती संस्कृति के विशिष्ट सहअस्तित्व को ही प्रतिबिम्बित कर रहा था। उन्होंने 52 किलो का केक काटा और सतीश चन्द्र मिश्र सहित समूचे सलाहकार राजपरिषद और दरबारी जनों ने 'हैप्पी बर्थडे टू यू' कहा। मायावती ने इस अवसर के लिए खास तौर पर डिज़ाइन किये गये गुलाबी सूट, हीरे की लौंग और हीरे का ही हार पहना हुआ था। जैसे खुशी के मौक़ों पर राजा-रानियाँ ग़रीबों को दान दिया करती थीं उसी तरह उन्होंने

भी दान दिए और गरीबें को भोजन कराया। मायावती को केक खिलाने के लिये मंत्रियों के बीच मची मारा-मारी देखते बनती थी ।इस अवसर पर उन्होंने प्राकृतिक रंगों से जुड़े अब तक प्रचलित शास्त्रीय प्रतीकों की जगह नये प्रतीक गढ़े। एक चैनल वाले को उन्होंने बताया कि गुलाबी रंग उनके रंग उनके लिए मन की शान्ति और सुख-समृद्धि का प्रतीक है। प्रचलित मान्यता के अनुसार गुलाबी रंग यौवन और लावण्य का प्रतीक है। नया दलित सौन्दर्यशास्त्र गढ़ रहे दलित चिन्तक निश्चय ही इस नये प्रतीक को अपनाना चाहेंगे!

मायावती की शान-ओ-शौक़त के तमाम आलोचकों में निश्चित रूप से बहुतेरे ऐसे होंगे जो सवर्ण मानसिकता की ज़मीन पर खड़े होकर उनकी आलोचना कर रहे होंगे। भारतीय समाज के सामाजिक-सांस्कृतिक ताने-बाने में आज भी वर्ण-व्यवस्था के संस्कारो की जड़ें गहरी हैं और सामान्य जनजीवन में एक जागरूक दलित व्यक्ति क़दम-क़दम पर अवमानना-अपमान के दंश चुभता महसूस करता होगा। लेकिन क्या इससे मायावती की सोच और इस वैभव-प्रदर्शन को सही ठहराया जाना चाहिए?

लेकिन मायावती और अन्य दलित चिन्तक बिरादरी अक्सर यह तर्क प्रस्तुत करती है कि 'वे' अगर यह सब करें तो ठीक और 'हम' करें तो ग़लत क्यों? 'वे' से मतलब सवर्णों के वैभव-प्रदर्शन से है। इसका सीधा सा जवाब यह है कि न 'उनका' करना ठीक, न आपका। यह तर्क-प्रणाली कहाँ ले जाती है? इसी तर्कप्रणाली पर आगे बढ़ते हुए ये प्रतिप्रश्न भी किये जा सकते हैं कि 'उन्होंने' जो-जो किया क्या आप भी वही-वही करेंगे? क्या दलित मुक्ति के नाम पर आप भी उसी आसन पर बैठना चाहते हैं जिस पर बैठकर पुराने 'श्रेष्ठ वर्णों' ने सदियों से 'निम्न वर्णों' को आर्थिक-सामाजिक-सांस्कृतिक रूप से वंचित बनाया है। क्या 'उनके' जीवन-मूल्यों को अपनाना ही दलित मुक्ति का लक्ष्य है?

यह तर्कप्रणाली ही घोर प्रतिक्रियावादी है, जो फासिस्टों की तर्कप्रणाली से मेल खाती है। संघ परिवार की तर्कप्रणाली यही होती है जब वे मुस्लिम विरोध के राजनीतिक एजेण्डे को जायज ठहराने के लिए अन्य देशों में हिन्दू अल्पसंख्यकों पर होने वाले कथित अत्याचारों और 'हिन्दू अस्मिता' के 'मानबिन्दुओं' पर होने वाले हमलों का हवाला देते हैं। जनवाद निषेध और अवैज्ञानिकता की विचारधारा के मामले में मायावती और संघ परिवार एक ही ज़मीन पर खड़े नज़र आते हैं। इसका सबसे लाक्षणिक रूप बहुजन समाज पार्टी के सांगठनिक ढाँचे और मायावती की कार्यप्रणाली में नज़र आता है। पार्टी और राज्य के सारे अहम फैसले मायावती स्वयं या केवल कुछ विश्वस्त सिपहसालारों की मदद से ही करती हैं। इस पार्टी में अन्य पार्टियों जैसा दिखावटी बुर्जुआ जनवाद भी नहीं है।

आर्थिक नीतियों की चर्चा की जाये तो मायावती पूरी तरह देशी-विदेशी पूँजी की हिंसक लूट वाली नयी आर्थिक नीतियों को ज़ोर-शोर से लागू कर रही हैं। उनकी सरकार द्वारा हाल ही में घोषित तथाकथित मध्य मार्ग वाली आर्थिक नीति (जिसमें निजी क्षेत्र और सार्वजनिक क्षेत्र की सहभागिता की बात की गयी है) और कुछ नहीं पिछले डेढ़ दशक से केन्द्र में लागू हो रही निजीकरण और उदारीकरण की आर्थिक नीति ही है।

अपने जन्मदिन के अवसर पर बलिया-नोएडा (गंगा) एक्सप्रेस-वे की घोषणा करके उन्होंने प्रदेश की जनता को जो तोहफ़ा दिया है वह निजी एवं सार्वजनिक क्षेत्र की भागीदारी वाली इस आर्थिक नीति का जीता-जागता नमूना है। पूर्वी उत्तर प्रदेश और दिल्ली को जोड़ने वाले पहले से मौजूद राष्ट्रीय राजमार्ग के विकास की पूर्वनिर्धारित योजना को दरकिनार पर 1047 किमी लम्बे आठ लेन के एक्सप्रेस-वे की यह परियोजना केवल निजी पूँजी को लाभ पहुँचाने के लिए ही स्वीकृत की गयी है। इसका ठेका भी मज़दूरों का बर्बर शोषण करने के लिए कुख्यात जे. पी. उद्योग समूह को दिया जा चुका है जो इस वर्ष के अन्त तक काम शुरू कर देगा और एक्सप्रेस-वे बन जाने के बाद अगले 35 वर्षों तक टोल टैक्स वसूलता रहेगा। ठेका प्राप्त करने की एवज में इस समूह को गंगा के बायें किनारे बसे जिलों में पाँच स्थानों पर कुल मिलाकर 30 हज़ार हेक्टेअर भूमि दी जायेगी।

इस विनाशकारी परियोजना से गंगा के बायें किनारे खेती करके अपनी आजीविका चलाने वाले जो लाखों छोटे-मँझोले किसान और ग़रीब मेहनतकश तबाह-बर्बाद होंगे उनमें सबसे अधिक आबादी उन्हीं दलितों-शोषितों की ही होगी जिनकी मुक्ति के सपने दिखाती हुई वह मुख्यमंत्री की कुर्सी तक पहुँची हैं। उन्हें पुनर्वास के नाम पर कुछ गज़ ज़मीनें और कुछ नक़द टुकड़े फेंककर मायावती उनकी ज़मीनें पूँजीपतियों को परोस देंगी। एक्सप्रेस-वे बनाने के लिए लाखों हरे पेड़ों की कटाई, भूमि के क्षरण और गंगा किनारे खोले जाने वाले पाँच सौ से अधिक उद्योगों से जो कचरा गंगा में बहाया जायेगा उससे गंगा और समूचे पर्यावरण की कितनी भारी तबाही होगी, इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। परियोजना के लिए अधिग्रहण की जाने वाली कुल लगभग एक लाख हेक्टेअर ज़मीन में से 70 प्रतिशत उपजाऊ और तीन फसली है। इतने बड़े पैमाने पर जो कृषि उत्पादन चौपट होगा उसका सबसे बड़ा असर देश की ग़रीब शोषित-वंचित आबादी पर ही पड़ेगा। लेकिन मायावती इस विनाशकारी पूँजीवादी परियोजना को विकास की परियोजना का नाम देकर ग़रीब जनता को भरमा रही हैं। इस परियोजना में सरकार की भागीदारी केवल 'फेसिलिटेटर' की होगी यानी वह लाठी-गोली के ज़ोर पर ग़रीबों को उजाड़कर एक्सप्रेस-वे और उसके किनारे-किनारे बनने वाले तथाकथित 'विकास क्षेत्रों' (जिनमें उद्योगपति उद्योग लगायेंगें व अन्य कारोबारी गतिविधियाँ करेंगे) के लिए ज़मीनें मुहैया करायेगी। इस तरह, मायावती सरकार प्रदेश के पिछड़े क्षेत्रों के विकास के नाम पर निजी पूँजी के लठैत की वही भूमिका निभा रही हैं जैसी अन्य सभी सरकारें।

'बहुजन समाज' की उन्नति के नाम पर शुरू दलित की इस बेटी का सियासी सफ़र अब तथाकथित 'सर्वजन' समाज की उन्नति के नाम पर देशी-विदेशी पूँजी की निर्लज्ज सेवा के मुकाम पर पहुँचकर अपनी अन्तिम परिणति तक पहुँच रहा है। दरअसल, यह उत्तर भारत में अम्बेडकरवादी राजनीति और दलित मुक्ति की उसकी परियोजना की स्वाभाविक परिणति है। कांशीराम की दलित मुक्ति की उग्र नारेबाजी से शुरू हुआ 'बहुजन' की राजनीति का सफ़र अब सवर्णों से चुनावी मेलमिलाप और सर्वजन भाई चारा के नारे में अपना कायान्तरण कर चुका है। बसपा के इस आर्थिक नीति और राजनीतिक चरित्र के बीज भीम राव अम्बेडकर के आर्थिक-राजनीतिक चिन्तन में ही मौजूद थे जिनका आदर्श नेहरूवादी मिश्रित पूँजीवादी अर्थव्यवस्था ही था ओर जो दलित समाज की भलाई के लिए कोई भी समझौता करना ग़लत नहीं समझते थे। आज अगर अम्बेडकर ज़िन्दा होते तो नवउदारवाद के पैरोकार ही होते जिसकी सबसे खुली पैरोकारी चन्द्रभान प्रसाद जैसे दलित

चिन्तक कर रहे हैं और मायावती उसे अमली जामा पहना रही हैं।

चन्द्रभान प्रसाद जैसे दलित चिन्तकों की जमात आज 'दलित कैपिटलिज़्म' की जिस अनूठी सोच के पैरोकारी में जी-जान से जुटी है, मायावती उसी को तो अमली जामा पहना रही हैं। यह भी कोई मौलिक सोच नहीं है। यह अमेरिका में 1965 में अश्वेत जनों के लिए लागू की गयी 'सकारात्मक कार्रवाई' (अफर्मेटिव ऐक्शन') का ही भोंडा भारतीय संस्करण है।

अमेरिका में इसे लागू होने के चार दशक से अधिक समय की अवधि के दौरान अश्वेत लोगों के जीवन पर क्या फ़र्क पड़ा है? अधिक से अधिक हुआ यह है कि कारपोरेट जगत के उच्चाधिकारियों, नौकरशाहों, बुर्जुआ राजनयिकों और पत्रकारों, अकादमीशियनों, मीडियाकर्मियों आदि की जमात में अश्वेत लोगों की भागीदारी बढ़ी है और एक अच्छा-खासा मध्यवर्ग आस्तित्व में आया है। बस, इससे अधिक कुछ नहीं। कुछ छोटे-मोटे उद्यमियों-व्यापारियों को छोड़कर ''अश्वेत पूँजीवाद'' जैसी कोई चीज़ अमेरिका में भी आस्तित्व में नहीं आयी है। फिर यह समूचा अश्वेत मध्यवर्ग भी समूची अश्वेत आबादी का एक अत्यन्त छोटा हिस्सा है। बहुसंख्यक अश्वेत आज भी निकृष्टतम कोटि के उज़रती मज़दूरों का जीवन गुजारते हैं और झुग्गी-झोपडियों जैसे गन्दी बस्तियों में इज़ारेदार पूँजी के आधुनिक दासों का जीवन जी रहे हैं।आज भी अमेरिका में रहने वाले मुलैटो, चिकानो मूल के मज़दूर और लातिन अमेरिकी व एशियाई देशों से गये आप्रवासी मज़दूर न केवल बर्बर शोषण व असुरक्षा का, बल्कि सामाजिक पार्थक्य व अपमान भुगतने के लिए अभिशप्त हैं। नस्लवाद और रंगभेद आज भी बदले रूप में अमेरिकी समाज में मौजूद है। अमेरिकी जेलों में रहने वाले बन्दियों में आज भी पचहत्तर फीसदी से भी अधिक अश्वेत और लातिन अमेरिकी या एशियाई मूल के लोग हैं।

इस सच्चाई के बावजूद भारत में 'दलित पूँजीवाद' के पैरोकार जोर-शोर से अपने 'दलित मुक्ति प्रोजेक्ट' के प्रचार में जुटे हैं और यह सोच काफ़ी हद तक नये उभरे दलित मध्यवर्ग को प्रभावित भी कर रही है। इस सोच के अनुसार निजी क्षेत्र के उद्योगों, औद्योगिक-वित्तीय और मीडिया-मनोरंजन उद्योग सहित सेवा-क्षेत्र के तमाम प्रतिष्ठानों मेंनिजी क्षेत्र के तमाम व्यावसायिक-गैर व्यावसायिक उच्च शिक्षा संस्थानों में दलितों के लिए आरक्षण को अनिवार्य कर दिया जाना चाहिए। इससे दलितों के बीच से भी एक सम्पत्तिशाली मध्यवर्ग और उद्योगपति वर्ग पैदा हो जायेगा और इससे उनके सामाजिक पार्थक्य, अपमान और उत्पीड़न का खात्मा हो जायेगा।

यदि दलितों के बीच से कुछ पूँजीपति और उच्चाधिकारी पैदा हो जाने से दलित-प्रश्न का समाधान होना होता तो अबतक हो चुका होता। पिछले पाँच दशकों के भीतर तमाम दलित राजनेता, कलक्टर, अन्य सरकारी अधिकारी और एक छोटे से दलित मध्यवर्ग के पैदा हो जाने से आम दलितों की स्थिति में क्या फ़र्क आया है? जो भी मामूली मात्रात्मक फ़र्क आया है वह तो समाज-विकास की स्वाभाविक प्रक्रिया में आता ही रहता है। इस रफ्तार से बदलाव की उम्मीद में यदि कोई बैठा रहे, तब तो उसे शताब्दियों तक प्रतीक्षा करनी होगी।

लेकिन दलित मुक्ति के ये पैरोकार बुद्धिजीवी-चिन्तक और मायावती जैसी दलित नेता आम दलित आबादी को शताब्दियों तक प्रतीक्षा कराने के एजेण्डे को आगे बढ़ा रही हैं। निजी क्षेत्र में आरक्षण की नीति को मायावती उत्तर प्रदेश में लागू भी कर रही हैं और दलित मुक्ति के सपनों की तिजारत कुशलता से कर रही हैं। यह दलित मुक्ति की वास्तविक क्रान्तिकरी परियोजना से समूची दलित आबादी को दूर ले जाना है। आम दलित मुक्ति अपने बीच से उठी हुई स्त्री को सत्ता की कुर्सियों पर बैठे, सवर्ण बुर्जुआ नेताओं द्वारा उनका चरण स्पर्श करता देख खुद अपने मुक्त हो जाने के मिथ्या अहसास के साथ वोटों की सौगात बरसाती रहे और इस तरह मायावती दिल्ली की गद्दी पर विराजमान दलितों की और अधिक वैभवशाली, समृद्धशाली देवी बन जायें, तो दलित मुक्ति की इस नव अम्बेडकरवादी परियोजना की चरम-सिद्धि हो जायेगी।

दलित मुक्ति की यह परियोजना आम दलितों को टुकड़खोर और उनकी संघर्षशील चेतना को कुन्द बनाने वाला है। अमेरिका में सरकार को ''सकारात्मक कार्रवाई'' के लिए कानून बनाने पर बाध्य करने वाली रैडिकल चेतना भी देना दलित मुक्ति के इन पुरोधाओं के बूते की बात नहीं है। अमेरिका में 'सकारात्मक कार्रवाई' के पीछे अश्वेतों के जुझारू आन्दोलनों, अमेरिकी नागरिक अधिकार आन्दोलन और अश्वेतों की प्रबल भागीदारी वाले अमेरिकी मज़दूर आन्दोलन की पृष्ठभूमि रही है। भारत में दलितों के आर्थिक शोषण, सामाजिक उत्पीड़न का जितना लम्बा इतिहास रहा है, तमाम धार्मिक संहिताओं और सामाजिक प्रथाओं के व्यापक और अत्यन्त गहरे प्रभावों से आम दलित आबादी की मानसिक गुलामी, दासत्व के भाव और जन्मना जातिगत श्रेष्ठता की शासक वर्गीय मानवद्रोही मानसिकता की जड़ें जितनी गहरी हैं, उसके प्रभाव से दलित और तथाकथित सवर्ण समाज को उबारने लिए अमेरिकी 'ब्लैक पैंथर' आन्दोलन से भी कई-कई गुना प्रचण्ड और दुर्द्धर्ष संघर्षों की आवश्यकता है लेकिन ये दलित मुक्ति के सौदागर आम दलित आबादी की सम्भावना सम्पन्न क्रान्तिकारी वर्गीय चेतना पर पानी के छींटे डालने का काम कर रहे हैं।

और ऐसा वे अनजाने में नहीं, अत्यन्त सुविचारित ढंग से कर रहे हैं। दलित मुक्ति की मूल अम्बेडकरवादी परियोजना को ही तरह-तरह से विस्तार देने वाले तमाम दलित चिन्तक, मार्क्सवाद और मार्क्सवादियों पर या तो सतत संघर्ष की मुद्रा में रहते हैं या मार्क्सवाद और अम्बेडकरवाद के बीच समन्वय स्थापित करने की वैचारिक हिकमतें निकालते रहते हैं। संशोधनवादी मार्क्सवादियों की करतूतों या नक्सलबाड़ी आन्दोलन से निकली अतिवामपन्थी धारा की भूमि संघर्ष में नाक़ामियों का हवाला देते हुए ये मार्क्सवादी चिन्तन को दलित मुक्ति के लिए नाकाफी घोषित करते हैं। ऐसा करते हुए वे मार्क्सवादी मूल क्लासिकी ग्रन्थों के एक भी हवाले नहीं देते और मार्क्सवाद के उसी सुपरिचित विकृतिकरण की वैचारिक कवायदों में जुटे रहते हैं जैसा अम्बेडकर ने किया था। इन सारी वैचारिक कवायदों का अन्तिम निष्कर्ष यही होता है'मार्क्सवाद केवल वर्ग संघर्ष के रास्ते से आर्थिक मुक्ति की बात करता है सामाजिक मुक्ति की नहीं।' मार्क्सवाद को इस प्रकार विकृत किये जाने के विरुद्ध खुद मार्क्स और एंगेल्स ने ही अपने समय में लिखा था और इस सोच की खिल्ली उड़ायी थी। इस तरह की तमाम वैचारिक कवायदों से पढ़ी-लिखी दलित युवा आबादी काफी प्रभावित है। इन दलित विद्वानों से जब कहा जाता है कि मार्क्सवाद पर कुछ भी लिखने-बोलने से पहले कम से कम मार्क्सवाद की कुछ बुनियादी रचनाओं को तो पढ़ लीजिए तो पलटकर वे जवाब देते हैं कि आपने अम्बेडकर को पूरा पढ़ा है?

दरअसल, इन स्वनामधन्य दलित चिन्तकों की खुद की आर्थिक मुक्ति हो चुकी है। यह

दलित आबादी के बीच से पैदा हुए उस सुविधाभोगी मध्यवर्ग की ज़ुबान और दिमागी कारस्तानी है जो अपने सामाजिक अपमान व सामाजिक पार्थक्य से मुक्ति तो चाहता है लेकिन डरता भी है कि किसी भी प्रकार की क्रान्तिकारी बदलाव की आँधी उसकी सुविधाओं और सामाजिक सुरक्षा को छीन लेगी। इस कायरता के चलते, यह गरमागरम बातें तो करता है लेकिन इसी व्यवस्था की चौहद्दी के भीतर रहकर जिस हद तक सम्भव हो, उस हद तक कुछ पा लेने की कोशिश करता है! साथ ही, वह बोलता तो पूरी दलित आबादी की ओर से है, पर आम दलितों से उसने अपने को पूरी तरह काट लिया है और बर्बरतम दलित उत्पीड़न की घटना होने पर भी वह किसी आन्दोलन में सड़क पर उतरकर जुझारू भागीदारी के बजाय बस गरमागरम बयानबाजी ही करता रहता है। चन्द्रभान प्रसाद, एच. एल. दुसाध जैसे लोग ''दलित पूँजीवाद'' के लिए बेहाल हैं, उन्हें उन बहुसंख्यक दलितों की चिन्ता नहीं है जो ऐसे दलित पूँजीपतियों और अन्य पूँजीपतियों के कारखानों में उजरती गुलामी करते हुए अपनी ज़िन्दगी जलाते-गलाते रहेंगे।

दरअसल, दलित मुक्ति के तमाम बौद्धिक पैरोकारों और मायावती जैसे दलित नेताओं का वर्ग अब बदल चुका है। वे अब वंचितों-शोषितों के समूह से ऊपर उठकर सफ़ेदपोशों की जमात में शामिल हो गये हैं। ऐसे लोग कायरता, गलाज़त और प्रतिक्रियावादी मानसिकता के मामले में परम्परागत सफ़ेदपोशों से भी बढ़कर होते हैं। ये आज के नवउदारवादी पूँजीवाद के सर्वाधिक निर्लज्ज पैरोकार और अमलकर्ता हैं। ये तथाकथित दलित मुक्ति की अपनी निहित स्वार्थी परियोजना को आगे बढ़ाते हुए आम दलित आबादी के जेहन में भावी सुख-समृद्धि की एक मायावी तस्वीर बनाते हैं और उन्हें देशी पूँजीवाद और साम्राज्यवादी विश्व व्यवस्था की सेवा में सन्नद्ध कर देना चाहते हैं। दलित आबादी के इन भितरघातियों और 'महाठगिनी माया' के मोहजाल से आम दलित आबादी को मुक्त करना दलित मुक्ति की क्रान्तिकारी परियोजना का ज़रूरी हिस्सा है।

किशोर सुमन

मोदी की वापसी के अर्थ और अनर्थ

गुज़रात विधान सभा चुनाव में मोदी की दुबारा जीत ने पिछले चुनाव की तरह इस सच्चाई को फिर से प्रमाणित किया है कि बुर्जुआ संसदीय जनवाद का खेल खेलते हुए फासीवादी शक्तियों को पराजित नहीं किया जा सकता। चाहे इसमें जितनी देर लगे हर किस्म के फासीवाद की तरह भारत के 'हिन्दुत्ववादी' साम्प्रदायिक फासीवादी राक्षस का वध भी सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में मेहनतकश अवाम के क्रान्तिकारी जनसंघर्ष के रास्ते ही होगा। जिन प्रगतिशील, धर्मनिरपेक्ष और जनवादी लोगों के जेहन से अब भी यह भ्रम दूर नहीं हुआ है कि चुनावी जोड़-तोड़ की राजनीति के सहारे फासीवाद को शिकस्त दी जा सकती है उनकी आँखें खोलने के लिए अब और कितने गुजरात चाहिए?

कांग्रेसी धर्मनिरपेक्षता तो चुनाव प्रचार के पहले ही चरण में नरेन्द्र मोदी की फासीवादी फुफकारों के सामने घुटनों के बल बैठ गयी थी। वर्ष 2002 का विधानसभा चुनाव राज्य प्रायोजित जनसंहार के खौफनाक मंजर की पृष्ठभूमि में हुआ था। वातावरण में 'हिन्दू शूरवीरों' द्वारा क़त्ल कर दिये बेगुनाह लोगों, बलात्कृत स्त्रियों और अजन्में बच्चों की चीखों-कराहों और जली हुई लाशों की चिराँयध गन्ध अभी ताज़ा थी। ऐसे में मोदी की विजय-पताका फहरानी ही थी। इस बार का वातावरण भी केवल ऊपरी तौर पर ही अलग था। बीते पाँच सालों में राज्य की मशीनरी का फासीवादीकरण जिस सुव्यवस्थित ढंग से किया गया था उससे मुसलमान ही नहीं पूरी अल्पसंख्यक आबादी के लिए समूचा गुज़रात ही नाज़ी यातना-शिविरों की याद दिलाती चारदीवारी में तब्दील हो चुका है। उनकी साँस और आवाज़ इतनी घोंट दी गयी है कि केवल सहमति सूचक स्वरों और मुद्राओं के अलावा किसी और बात के लिए जगह ही नहीं बची है। आम हिन्दू गरीब मेहनतकश-मज़दूर आबादी के लिए भी वातावरण इससे बहुत भिन्न नहीं है। कल-कारखानों में मज़दूर केवल पूँजीपतियों के लिए हाड़-पसीना गलाने वाले चलते-फिरते बेजुबान जीव बनकर ही काम करते रह सकते हैं। किसी ट्रेड-यूनियन गतिविधि या अन्य सामूहिक हितों के लिए आवाज उठाने वाली अन्य किसी गतिविधि के लिए भी जगह नहीं बची है। आलम यह है कि ट्रेनों-बसों में भी सफ़र करते समय अगर 'हिन्दू शूरवीरों' के 'तूफानी दस्तों' के अचानक मारे जाने वाले छापों के दौरान अगर आपके पास कोई 'वामपन्थी' साहित्य जैसी चीज़ मिल गयी तो खैर नहीं। इसी खौफ, और दहशत के साये में ताज़ा विधान सभा चुनाव में शुरुआती प्रचार के समय मोदी ने गुज़रात के विकास का मुद्दा उछाला था।

साम्राज्यवादी भूमण्डलीकरण और नव-उदारवादी पूँजीवाद के इस दौर में वित्तीय पूँजी को जैसा औद्योगिक वातावरण चाहिए, नरेन्द्र मोदी ने वैसा उपलब्ध करा दिया है। इसीलिए गुज़रात मे 'विकास दर' उछाल ले रही है। इस ज़मीन पर कांग्रेस भला किस तरह मोदी को चुनौती देती जब वह स्वयं इन आर्थिक नीतियों की प्रवर्तक रही है। इसलिए सोनिया गाँधी और उनके चुनावी रणनीतिकारों ने अपनी पिलपिली धर्मनिरपक्षता की ज़मीन पर मोदी के आक्रामक 'हिन्दुत्व' को चुनौती देने की सोची जिसने मोदी की एक ही फुफकार में दुम दबा लिया। सोहराबुद्दीन के फर्जी इनकाउण्टर के हवाले से सोनिया गाँधी द्वारा मोदी को 'मौत का सौदागर' कहे जाने पर मोदी ने पलटवार करते हुए जब उन्हें चुनौती दी कि उसने ऐसा किया है, आगे भी करता रहेगा और दम हो तो उसे फाँसी पर लटका कर दिखा दो तो सोनिया बिग्रेड हकलाने लगी। मोदी की इस ललकार के बाद कांग्रेस ने मुसलमान और धर्मनिरपेक्ष वोटरों को पटाने के लिए सच्चर कमेटी की सिफारिशों सहित मुसलमानों के आर्थिक-सामाजिक उत्थान के बारे में सस्ते प्रचार के हथकण्डों को अपनाया लेकिन वह मोदी के फासीवादी जिन्न को बोतल में नहीं बन्द कर सकी। कुछेक सीटों की बढ़त से आगे कांग्रेस नहीं जा सकी और मोदी फिर से राज्य का मुखिया बैठा।

गुजरात में संघ परिवार के लम्बे समय से जारी 'हिन्दू जागरण' अभियानों और मोदी के नेतृत्व में पिछले पाँच वर्षों के दौरान राज्य मशीनरी के फासिस्टीकरण ने समाज समूचे

गुजराती समाज का जो साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण किया है उससे मोदी की वापसी सुनिश्चत थी। वहाँ संसदीय वामपन्थी पार्टियों की भी मौजूदगी सांकेतिक ही हैं। वह चुनाव में कांग्रेसी धर्मनिरपेक्षता की पूँछ पकड़कर ही चलती रही। इसीलिए चुनाव नतीज़ें आने के बाद प्रकाश कारात आदि कांग्रेसियों को कोसने के अलावा कुछ नहीं कह सके। इसके अलावा जो उन्होंने कहा वह अपने पार्टी काडरों को जोड़े रखने की गरज से किये गये अमूर्त सिद्धान्त प्रतिपादन के अलावा कुछ नहीं था। केवल यह कहना कि नरेन्द्र मोदी को शिकस्त देने के लिए भूमण्डलीकरण स मेहनतकश जनता की हो रही तबाही को मुद्दा बनाना होगा, साम्प्रदायिक फासीवाद से लड़ने के लिए वर्गीय गोलबन्दी करने की बुनियादी मार्क्सवादी अवस्थिति के रस्मी दुहराव से अधिक कुछ नहीं है। वैसे यह गोलबन्दी करने की स्थिति में ये संसदीय वामपन्थी आज रह ही नहीं गये हैं। बल्कि सच बात यह है कि आज वे ऐसा करना ही नहीं चाहते। उनका साम्प्रदायिक फासीवाद विरोध बुर्जुआ संसदीय दायरे के भीतर ही बन्दर-कुद्दी करने तक सीमित है। केन्द्र में साम्प्रदायिक फासीवादी ताकतों को सत्ता से दूर रखने की अवसरवादी रणनीति पर पिछले चार सालों से अमल करने के बाद अब उन्होंने फिर से गैर भाजपा-गैर कांग्रेसवाद की पुरानी रणनीति पर तथाकथित धर्मनिरपेक्ष दलों के तीसरे मोर्चे की तान छेड़ी है। लोकसभा चुनावों को क़रीब आते देखकर और यूपीए सरकार की नीतियों से बढ़ते जनअसन्तोष को भाँपकर उन्होंने यह पैंतरा बदला है। दुनिया भर में सामाजिक जनवादी पार्टियों के इन्हीं घृणित अवसरवादी पैतरापलटों और नपुंसक विरोध की कवायदों ने फासीवादी ताक़तों को सत्ता तक पहुँचाने में भारी मदद पहुँचायी है। भारत में भी ये संसदीय पार्टियाँ यही कहानी दुहरा रही हैं।

देश में साम्प्रदायिक फासीवादी ताक़तों की बढ़ती ताक़त निश्चित रूप से भूमण्डलीकरण के आज के दौर में वित्तीय पूँजी की नयी लुटेरी मुहिम से ही खाद-पानी पा रही है। हिटलर-मुसोलिनीकालीन फासीवाद की तरह आज का फासीवाद भी विश्व पूँजीवादी तंत्र के संकटों की कोख से ही जन्म ले रहा है। दुनिया भर में आज धार्मिक कट्टरपन्थ आर्थिक कट्टरपन्थ की ज़मीन पर ही फल-फूल रहा है लेकिन इनको आगे बढ़ाने में सी.पी.आई.-सी.पी.एम मार्का सामाजिक जनवाद के नपुंसक फासीवाद विरोध की भी भूमिका है। भारत में 'हिन्दुत्ववादी' साम्प्रदायिक फासीवादी ताक़तों को अपना सामाजिक आधार बढ़ाने में इन संशोधनवादी पार्टियों की घृणित करनी की भूमिका को भी नज़रअन्दाज कत्तई नहीं किया जा सकता। हमलावर 'हिन्दुत्ववादी' साम्प्रदायिक फासीवाद के खिलाफ जब ये सबधर्मसमभाव वाली नेहरूवादी धर्मनिरपेक्षता की गत्ते की तलवारें भाँजते हुए हाथों में मोमबत्तियाँ लिये शिष्ट-शालीन-कुलीन विरोध करते नज़र आते हैं तो यह आम हिन्दू आबादी के लिए बिदकाने वाला ही होता है। इसके साथ ही दुअन्नी-चवन्नी की अर्थवादी लड़ाइयों की कवायद करवाकर मज़दूर आबादी की चेतना की धार को भी इन्होंने इतना कुन्द कर दिया है कि उसके बीच भी साम्प्रदायिक फासीवादी ताक़तों की आज अच्छी-खासी घुसपैठ हो चुकी है। सांस्कृतिक मोर्चे पर इनसे जुड़े संस्कृतिकर्मी भी 'सर्वधर्म समभाव' के सामाजिक जनवदी गीत गाने से आगे नहीं बढ़ते। हालाँकि फिलहाल तो इनके पार्टी-बुद्धिजीवी बुद्धदेव भट्टाचार्य के उजले धोती-कुर्ता पर नन्दीग्राम के ग़रीब किसानों के ख़ून के धब्बों की सफाई में जुटे हुए हैं। उन्हें आजकल सबसे अधिक गुस्सा इसी बात से आ रहा है कि बुद्धिदेव भट्टाचार्य के ख़ूनी कारनामे की तुलना नरेन्द्र मोदी से क्यों की जा रही है, कुछ लोग उन्हें सामाजिक फासीवादी क्यों कह रहे हैं?

बहरहाल, गुज़रात में मोदी की विजय का अर्थ नेहरूवादी, सी.पी.आई.-सी.पी.एम. मार्का धर्मनिरपेक्ष बुर्जुआ राजनीति की पराजय भी है। इसके अलावा वहाँ 'हिन्दुत्व' की शक्तियों की मज़बूती का एक कारण गुजरात के राजनीतिक इतिहास और सामाजिक-आर्थिक संरचना की विशिष्ट प्रकृति में भी है। गुजरात राष्ट्रीय आन्दोलन के दौर से ही दक्षिणपन्थी बुर्जुआ राजनीति के प्रभुत्व में रहा है। यह आह निकालना भी बेमतलब का है कि गाँधी के गुजरात को क्या हो गया है। राष्ट्रीय आन्दोलन के दौर में भी गुज़रात में गाँधी की कोई प्रभावी मौजूदगी नहीं थी। बारदोली सत्याग्रह भी मुख्यतः वल्लभ भाई पटेल की अगुवाई में ही हुआ था। गाँधी की भागीदारी इस सत्याग्रह में बिल्कुल बाद के चरण में होती है, वह भी थोड़े समय के लिए ही। अहमदाबाद के औद्योगिक मज़दूरों के बीच ही गाधी ने 'मज़दूर-महाजन सभा' का प्रयोग कर मज़दूर वर्ग की क्रान्तिकारी चेतना को कुन्द करने के लिए वर्ग सहयोगवादी विचार को फैलाने की कोशिश की थी। स्वातंत्र्योत्तर भारत में भी कांग्रेस की दक्षिणपन्थी धारा ही वहाँ प्रभुत्व में रही है। इन्दिरा गाँधी के समय कांग्रेस में हुए सिण्डिकेट-इण्डिकेट विभाजन में भी गुजरात दक्षिणपन्थी 'सिण्डिकेट' धड़े के साथ गया था। इसीलिए आज भी गुजरात में भाजपा और कांग्रेस के नेताओं की दोनों पार्टियों में आवाजाही इतनी सुगम है। ताजा विधानसभा चुनाव में भी कई भूतपूर्व संघ परिवारी कांग्रेस प्रचार की कमान सम्भाले हुए थे। इनमें से कई तो गुजरात नरसंहार के सहयोगी तक रहे हैं।

दरअसल गुजरात में औपनिवेशिक काल से ही औद्योगिक पूँजी के मुकाबले महाजनी पूँजी का अधिक वर्चस्व रहा है जो 1947 के बाद हुए देशी पूँजीवादी विकास के बाद भी नहीं बदला है। आज भी वहाँ औद्योगिक केन्द्र गिने-चुन ही हैं। सूरत और अहमदाबाद जैसे परम्परागत औद्योगिक केन्द्रों के अलावा नये विकसित औद्योगिक क्षेत्र कम ही हैं। भूमण्डलीकरण के मौजूदा दौर में भी जो पूँजी वहाँ लग रही है उसका एक बेहद छोटा हिस्सा ही उद्योगों में लग रहा है। अनुत्पादक वित्तीय निवेश ही ज्यादा है। गुजरात के गाँवों में भी जो पूँजीवादी विकास हुआ है उसके चलते पटेल आदि मध्य जातियों के बीच से जो एक नया कुलक वर्ग पैदा हुआ है वह निरंकुश प्रकृति का है इसलिए वह भी आज मोदी के मजबूत सामाजिक आधार के रूप में खड़ा है। जो नया खाता-पीता शहरी मध्य-वर्ग पैदा हुआ है वह आज की चरम भोगवादी पूँजीवदी संस्कृति की अमिट क्षुधाग्रस्त जमात ही है। इसकी स्वार्थलिप्सा एवं भोगवादी तुष्टि के लिए मोदी की फासिस्ट राजनीति आदर्श है। वह वह अपनी इस लिप्सा की पूर्ति के लिए जबर्दस्त 'स्पेस' मुहैया कराने के लिए मोदी के प्रति हृदय से कृतज्ञ है। वर्ष 2002 में इस वर्ग की स्त्रियों को मुसलमानों की दुकानों से टीवी, सी.डी.-डी. वी. डी. प्लेयर आदि उपभोक्ता सामानों को कारों में भरकर ले जाते शायद आपने भी टीवी के पर्दो पर देखा है। ये स्त्रियाँ शहद पर भनभनाती मक्खियों की तरह इन सामानों पर टूट पड़ी थीं। क्या इन सामानों का उपयोग करते हुए वे हर क्षण मोदी के प्रति मन ही मन में कृतज्ञता नहीं ज्ञापित करती होंगी। भारत के 'महान मध्य वर्ग' के इस गुजराती हिस्से के बीच मोदी का जबर्दस्त सामाजिक आधार

विकसित हो चुका है। इस वर्ग की युवा पीढ़ी नाहक ही नहीं मोदी को अपना 'इण्डियन आइडल' मानती है।

वर्ष 2002 में गुज़रात में जो हो रहा था उससे देश का इज़ारेदार पूँजीपति वर्ग भले ही थोड़ा चिहुँका हुआ था क्योंकि वह अभी 'जंजीर में बँधे शिकारी कुत्ते' को खुला छोड़ने के मूड में नहीं। वह अभी केवल पालना-पोसना चाहता है। इसलिए उस समय बुर्जुआ मीडिया ने भी मोदी की आलोचना की थी। लेकिन आज हालात बदल चुके हैं। आज इज़ारेदार पूँजी के आका अपने इस काबिल प्यादे पर बेहद फ़िदा हैं। आज गुजरात को 'विकास' की पटरी पर सरपट दौड़ने के लिए पूँजीपतियों की महफिलों में मोदी की नाम बेहद इज़्ज़त के साथ लिया जाता है।

मोदी की वापसी गुज़रात ही नहीं, पूरे देश के मेहनतकश अवाम और सभी प्रगतिशील, जनवादी, धर्मनिरपेक्ष लोगों के लिए एक अनर्थकारी संकेत है। मोदी का कारवाँ अब दिल्ली फिर से फतह करने का स्वप्न साकार करने के लिए उतावला है। भले ही आडवाणी को अग्रिम रूप से प्रधानमंत्री पद का प्रत्याशी घोषित कर दिया गया है लेकिन संघ परिवार की असली उम्मीद अब नरेन्द्र मोदी ही है। आने वाले दिनों में वह अपने इसी काबिल स्वयंसेवक को तुरुप का पत्ता बनाने की तैयारियाँ में जुटा है। उधर, मोदी की वापसी से उत्साहित इस फासीवादी ब्रिग्रेड ने राजस्थान और मध्य प्रदेश की नयी प्रयोगशालाओं में काम तेज़ कर दिया है। आने वाले दिनों में देश के अन्य कई हिस्सों में भी गुजरात प्रयोग को दुहराया जाये तो आश्चर्य नहीं।

अगर प्रगतिशील, जनवादी, और धर्मनिरपेक्ष ताक़तों ने अब भी अपना वैचारिक भ्रम नहीं तोड़ा तो आने वाले दिन अनर्थकारी हो सकते हैं। उन्हें क्रान्तिकारी शक्तियों के इर्द-गिर्द ही गोलबन्द होना होगा क्योंकि फासीवादी राक्षस वामपन्थ और प्रगतिशीलता के अलग-अलग शेड्स की पहचान नहीं जानता। उसे गुलाबी रंग भी लाल नज़र आता है और उस पर झपट पड़ने का कोई भी मौका वह गँवायेगा नहीं।

क्रान्तिकारी शक्तियों को भी मज़दूर वर्ग के बीच अपने मजबूत जड़ें जमाने की कार्रवाइयाँ तेज करनी होंगी। जो कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी ताकतें आज भी मज़दूर वर्ग से दूर हैं, ग्रामीण क्षेत्रों में ही भूमि-क्रान्ति पूरी करने के अनैतिहासिक, अवैज्ञानिक व्यामोह से पिण्ड नहीं छुड़ा पा रही हैं उन्हें इतिहास के पन्ने फिर से पलट लेने चाहिए और जितनी जल्दी हो सके अपनी ग़लती दुरुस्त कर भारत में पनप चुके औद्योगिक मज़दूरों के असीम विस्तार में अपनी रणनीतिक खन्दकें और खाइयाँ खोदकर शक्ति का विस्तार करना चाहिए क्योंकि फासीवादी राक्षस का असली संहारकर्ता मज़दूर वर्ग ही है। यह इतिहास का अनुभव भी है और आदेश भी।

शरद कुमार

दर्शन के प्रश्नों पर वार्ता

(पृष्ठ 82 से आगे)

ज़ेन से अधिक प्रसिद्ध है) के प्रभाव में, सुङ और मिङ वंशों के चीनी दार्शनिकों ने कनफ्यूशियसवाद और बौद्ध धर्म का संश्लेषण किया जिसमें केन्द्रीय भूमिका *ली* अवधारणा (सिद्धान्त या तर्क) की होती है, जिसे नव-कनफ्यूशियसवाद के नाम से जाना जाता है।

[43] हान यू और ल्यू त्सुङ-युआन। हान-यू ने प्राचीन शैली की अधिकता से बचते हुए प्राचीन क्लासिकी अवधि की सादगी को पुनर्सृजित करने की कोशिश की। 'उनके विचारों से सीखने' का माओ द्वारा उद्धृत नारा अभिव्यक्ति के पुराने पड़ गये तरीकों से बचते हुए प्राचीन कनफ्यूशियस-वादी सन्तों से प्रेरणा लेने के इस लक्ष्य का हवाला देता है। उन्होंने बौद्ध धर्म के प्रति आलोचनात्मक रवैया अपनाया लेकिन फिर भी उससे कुछ विचार लिये। ल्यू त्सुङ-युआन, जिन्हें माओ यहाँ उनके साहित्यिक नाम ल्यू त्जू-हाउ के नाम से पुकारते हैं, हान यू के करीबी दोस्त थे।

[43] ल्यू त्सुङ-युआन का निबन्ध 'स्वर्ग उत्तर देता है' में चू युआन द्वारा अपनी कविता 'स्वर्ग पूछता है' में ब्रह्माण्ड के बारे में उठाये गये कुछ प्रश्नों के उत्तर दिये गये हैं।

अनुवाद : सत्यम

मजदूरों का इन्क़लाबी
मासिक अख़बार

नई समाजवादी क्रान्ति का उदघोषक

बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय :
69, बाबा का पुरवा,
पेपर मिल रोड,
निशातगंज,
लखनऊ-226006

एक प्रति : 3 रुपये
वार्षिक : 40 रुपये
(डाक खर्च सहित)

अनुराग
बाल पत्रिका
——:o:——
बच्चों के समग्र वैज्ञानिक और सांस्कृतिक विकास के लिए समर्पित त्रैमासिक पत्रिका

डी-68, निराला नगर, लखनऊ-226020
एक प्रति : 10 रु., वार्षिक : 48 रु.

दायित्वबोध

हिन्दी में अपने ढंग की अकेली पत्रिका

हर अंक में संग्रहणीय सामग्री

पिछले अंकों में प्रकाशित कुछ महत्वपूर्ण सामग्री

नवम्बर'95-फरवरी'96

• साम्राज्यवाद आज भी कागजी बाघ है (भूमण्डलीकृत पूँजीवाद के चरित्र और उसके अन्तर्निहित संकट का विस्तृत विश्लेषण) • शिखर पर रुदन : आत्म-विश्लेषण और आत्म-आलोचना से आत्म-भर्त्सना तक पश्चिम की विचारयात्रा • माओ त्से-तुङ और सुरजीत पातर की कविताएँ • आइजेंस्ताइन और 'पूंजी' पर फिल्म बनाने की योजना

मार्च-अगस्त 1996

• माओवादी नियोजन का सिद्धान्त और व्यवहार : एक स्वप्नदर्शी और व्यावहारिक समाजवाद के पक्ष में • भाषा, इतिहास और वर्ग संघर्ष • आज के दौर में नारीवादी लेखन : कुछ अहम सवाल, कुछ बुनियादी समस्याएँ

सितम्बर-अक्टूबर 1996

• मार्क्स और पर्यावरण • क्रान्ति का विज्ञान • विज्ञान, कला और अधिरचना–एमिल बर्न्स • ताचाई की कहानी • 'जनवाद' का विभ्रम और सर्वहारा अधिनायकत्व

नवम्बर'96-फरवरी'97

समाजवाद के सिद्धान्त और प्रयोग, समस्याओं और चुनौतियों पर विशेष सामग्री

• माओ के अमर अवदान और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति की युगान्तरकारी शिक्षाएँ • स्तालिन : एक मूल्यांकन • स्तालिन के समय में सोवियत समाजवाद • रूसी क्रान्ति का मूलभूत अभिप्राय–रोजा लक्ज़मबर्ग • सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति क्या, क्यों और किस प्रकार • सोलह-सूत्रीय सर्कुलर • सांस्कृतिक क्रान्ति के सैद्धान्तिक आधार के बारे में–जार्ज थामसन • कला में विचारधारात्मक अन्तर्वस्तु और यथार्थवाद पर मार्क्स-एंगेल्स • पाब्लो नेरूदा और माओ त्से-तुङ की कविताएँ

मार्च-जून 1997

• मजदूर आन्दोलन पर कुछ सवाल • पेरिस कम्यून की महान शिक्षाएँ • सर्वहारा अधिनायकत्व की विजय अमर रहे • सूचना क्रान्ति का सच

जुलाई-अक्टूबर 1997

• एक ऐतिहासिक विश्वासघात और उसके बाद की अंधकारमय अर्द्धशताब्दी • माओवादी अर्थशास्त्र और समाजवाद का भविष्य • सेर्गेई आइजेंस्ताइन–कला का मनोविज्ञान • मार्क्सवाद के विरोध में ''नव'' दक्षिणपंथी लोकरंजकतावाद के नये-नये मिथक

नवम्बर '97-फरवरी '98

बेर्टोल्ट ब्रेष्ट की अट्ठाइस कविताएँ • गैर-सरकारी स्वयंसेवी संगठनों और दाता एजेंसियों का असली चरित्र • मदर टेरेसा और उनके उत्तराधिकारियों का "मिशन" : सेवा का सच • माओ की कविताएँ

मार्च-जून 1998

चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की नवीं कांगेस में प्रस्तुत रिपोर्ट • 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' की 150वीं वर्षगांठ पर विशेष लेख • ग्राम्शी का लेख 'बुद्धिजीवी' • पूँजीवाद की पूंजीवादी समालोचना के निहितार्थ • मदर टेरेसा : मिथक और यथार्थ • शशि प्रकाश की पच्चीस कविताएँ

जुलाई-दिसम्बर 1998

ब्रेष्ट, लोर्का और रॉबसन की जन्मशती के अवसर पर विशेष सामग्री :

• बेर्टोल्ट ब्रेष्ट और उनका थियेटर • लोर्का की कविताएँ • लोर्का पर नेरूदा की कविता • रॉबसन पर नाज़िम हिकमत की कविता • उत्तर-औपनिवेशिक सिद्धान्त और 'उत्तर'-अवस्था : एजाज़ अहमद • गैर-सरकारी संगठनों का असली मिशन • माओकालीन चीन में मार्क्सवाद : जार्ज थामसन • हेनरिख हाइने, फर्डिनांड फ्रेलिग्राथ, जार्ज वेयेर्थ और पाब्लो नेरूदा की कविताएँ

जुलाई-सितम्बर 1999

• स्वयंसेवी संगठनों और दाता-एजेंसियों का नेटवर्क : एक खतरनाक साम्राज्यवादी कुचक्र • तीसरी दुनिया में कृषि-अनुसंधान का ढाँचा • भारतीय क्रान्ति व कृषि प्रश्न • बेर्टोल्ट ब्रेष्ट की सर्वाधिक महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक कृति 'थियेटर का एक संक्षिप्त तर्कशास्त्र'

अक्टूबर-दिसम्बर 1999

• जनता के सांस्कृतिक आन्दोलन की चुनौतियां • 'बीसवीं सदी की दूसरी महानतम क्रान्ति और उसकी प्रासंगिकता' • बुर्जुआ से सर्वहारा क्रान्ति की ओर : जार्ज थामसन • मूलाधार और अधिरचनाओं के सम्बन्ध के बारे में : वोलोशिनोव • विद्रोही कवि काजी नजरुल इस्लाम • इस्तवान मेस्जारोस की चर्चित कृति 'बियॉण्ड कैपिटल' की समीक्षा

अंकों का मूल्य और डाकखर्च भेजे जाने पर पिछले उपलब्ध अंक डाक से भेज दिये जायेंगे। अनुपलब्ध अंकों की महत्वपूर्ण सामग्री की फोटो प्रतिलिपि भी प्रतिलिपि व्यय और डाकखर्च भेजे जाने की उपलब्ध कराने की व्यवस्था है। पिछले अंकों की सामग्री ईमेल से भी भेजी जा सकती है।

जनवरी-मार्च 2000

• कम्युनिस्ट घोषणापत्र की स्मृति में : अंतोनियो लाब्रियोला और रेमंड लोट्टा के महत्वपूर्ण लेख • जार्ज लुकाच के विरोध में : ब्रेष्ट • माओवादी चीन में स्त्रियाँ • नजरुल की कविता 'विद्रोही'

जुलाई-सितम्बर 2000

आपातकाल के कुछ अनुत्तरित यक्ष-प्रश्न और हमारा समय • समाजवादी काल में वर्ग संघर्ष के नियम • स्त्री-मुक्ति का राजनीतिक अर्थशास्त्र • हांस आइसलर का लेख : एक नई संगीत संस्कृति के निर्माता

जनवरी-मार्च 2001

इतिहास के लिए कुछ कार्य- स्थगन प्रस्ताव • औपनिवेशिक भारत में लोकभाषाओं एवं लिपियों का शिक्षा व्यवस्था से निष्कासन • सोवियत संघ में समाजवाद की आर्थिक समस्याओं पर माओ • राष्ट्रीय प्रश्न पर जार्ज थामसन • 'मजदूर वर्गीय संगीत की समस्याएं'–हांस आइसलर

जुलाई-सितम्बर 2001

• भारतीय कृषि का संकट और नरोदवादी-राष्ट्रवादी "मार्क्सवाद" • शेयर बाजार–एक मार्क्सवादी विश्लेषण : फ्रेडरिक एंगेल्स, हरपाल बराड़, तापस चक्रवर्ती, सत्यम वर्मा और प्रो. अरुण कुमार के लेख • निरंकुश दमनकारी राज्यतंत्र की ओर धकेलती आर्थिक नीतियाँ • 'सोवियत संघ में समाजवाद की आर्थिक समस्याएँ ' की आलोचना–माओ त्से-तुङ • खाद्यान्न की वैश्विक राजनीति

अक्टूबर 2001-मार्च 2002

• दक्षिण एशिया में अमेरिकी साम्राज्यवाद की चुनौती • अफगानिस्तान और उसके बाद • एन.जी.ओ. : साम्राज्यवाद के चाकर • एन.जी.ओ. की सैद्धान्तिकी और व्यवहारशास्त्र के बारे में हमारी समझ कैसे बनी?

जुलाई-सितम्बर 2003

• मार्क्सवाद पर अंबेडकर के विचार • इराक : मदमत्त हाथी फिर दलदल में • साम्राज्यवाद के बारे में • पश्चिम एशिया : शान्ति की शर्त फलस्तीन की आजादी • पूँजीवादी निवेश के कारण तबाह हो रहे हैं गरीब किसान • स्तालिन के निधन के पचास वर्ष बाद • दूरसंचार का निजीकरण

अक्टूबर-दिसम्बर 2004

वर्ल्ड सोशल फोरम और एन.जी.ओ. की राजनीति पर केन्द्रित विशेष अंक

जुलाई-सितम्बर 2005

आज के साम्राज्यवाद के कुछ पहलू : कुछ विकासमान समीकरण, कुछ भावी सम्भावनाएँ समाजवाद पर पुनर्विचार : समाजवादी संक्रमण क्या है भारत में बदलते कृषि-सम्बन्ध पंजाब का किसान आन्दोलन और कम्युनिस्ट उत्तर-आधुनिकता, हिन्दू राष्ट्रवाद और 'वैदिक विज्ञान'

जनवरी-मार्च 2007

भारतीय कृषि में पूँजीवादी विकास (पहली किस्त) • 'अस्मितावादी राजनीति' और उत्तरआधुनिकतावाद का राजनीतिक एजेण्डा • किसानों का उज़रती मज़दूरों में रूपान्तरण : पूँजीवादी खेती की तार्किक परिणति

बेहतर ज़िन्दगी का रास्ता बेहतर किताबों से होकर जाता है!

जनचेतना

• एक सांस्कृतिक मुहिम • एक वैचारिक प्रोजेक्ट • वैकल्पिक मीडिया का एक मॉडल

किताबें नहीं
हम आने वाले कल के सपने लेकर आये हैं
किताबें नहीं
हम असली इन्सान की तरह
जीने का संकल्प लेकर आये हैं।
हम हैं उम्मीदों के हरकारे
हम हैं विचारों के डाकिये।

दो दशक पहले प्रगतिशील, जनपक्षधर साहित्य को जन-जन तक पहुँचाने की मुहिम की एक छोटी-सी शुरुआत हुई, बड़े मंसूबे के साथ। एक छोटी-सी दुकान और फुटपाथों पर, मुहल्लों में और दफ़्तरों के सामने छोटी-छोटी प्रदर्शनियाँ लगाने वाले तथा साइकिलों पर, ठेलों पर, झोलों में भरकर घर-घर किताबें पहुँचाने वाले समर्पित अवैतनिक वालण्टियरों की टीम – शुरुआत बस यहीं से हुई। आज यह वैचारिक अभियान उत्तर भारत के दर्जनों शहरों और गाँवों तक फैल चुका है। एक बड़े और एक छोटे प्रदर्शनी वाहन के माध्यम से जनचेतना हिन्दी और पंजाबी क्षेत्र के सुदूर कोनों तक हिन्दी, पंजाबी और अंग्रेज़ी साहित्य एवं कला-सामग्री के साथ सपने और विचार लेकर जा रही है, जीवन-संघर्ष-सृजन-प्रगति का नारा लेकर जा रही है।

आम लोगों के लिए
ज़रूरी हैं वे किताबें
जो उनकी ज़िन्दगी की घुटन
और मुक्ति के स्वप्नों तक
पहुँचाती हैं विचार
जैसे कि बारूद की ढेरी तक
आग की चिनगारी।
घर-घर तक चिनगारी छिटकाने वाला
तेज़ हवा का झोंका बन जाना होगा
ज़िन्दगी और आने वाले दिनों का सच
बतलाने वाली किताबों को
जन-जन तक पहुँचाना होगा।

जनचेतना परिकल्पना प्रकाशन, राहुल फाउण्डेशन (प्रकाशन प्रभाग), अनुराग ट्रस्ट (बाल साहित्य के प्रकाशक), शहीद भगतसिंह यादगारी प्रकाशन (पंजाबी राजनीतिक प्रकाशक), दस्तक प्रकाशन (पंजाबी साहित्यिक प्रकाशक) और प्रांजल आर्ट पब्लिशर्स (कला-सामग्री के प्रकाशक) के सभी प्रकाशनों के मुख्य वितरक की भूमिका भी निभाती है।

हमारे पास आपको मिलेंगे :

• सर्वोत्कृष्ट विश्व कलासिक्स • स्तरीय प्रगतिशील साहित्य • इतिहास, दर्शन और समाज-विज्ञान की चुनिन्दा पुस्तकें • भगतसिंह और उनके साथियों का सम्पूर्ण उपलब्ध साहित्य • जीवन और समाज की समझ देने वाला और भविष्य का मार्ग बतलाने वाला क्रान्तिकारी राजनीतिक साहित्य • मक्सिम गोर्की की कृतियों का सबसे बड़ा संग्रह • दिमाग़ की खिड़कियाँ खोलने और कल्पना को पंख देने वाला बाल साहित्य • आकर्षक कलात्मक चित्र, पोस्टर, कैलेण्डर और कार्ड • क्रान्तिकारी गीतों के कैसेट

मुख्य कार्यालय : डी-68, निरालानगर, लखनऊ–226020
फोनः 0522-2786782, ईमेल : janchetna@rediffmail.com
अन्य केन्द्र : सी-74, एस.एफ.एस. फ्लैट्स, सेक्टर-19, रोहिणी, दिल्ली-110089,
फ़ोन : 27296559, 9213639072, 9910462009, 9891993332
जाफ़रा बाज़ार, गोरखपुर-273001, फ़ोन : 0522-2418922
16/6, वाद्यम्बरी हाउसिंग स्कीम, अल्लापुर, इलाहाबाद, 09415646383
154, शहीद करनैल सिंह नगर, फ़ेज़-3, पखोवाल रोड, लुधियाना, फ़ोन : 09871143788
जनचेतना सचल प्रदर्शनी वाहन, मोबाइल : 09818651276
जनचेतना ठेला : चौड़ा मोड़, नोएडा, शाम 5 से 8 बजे तक

आइये, आप भी इस मुहिम में हमारे सहयात्री बनिये।